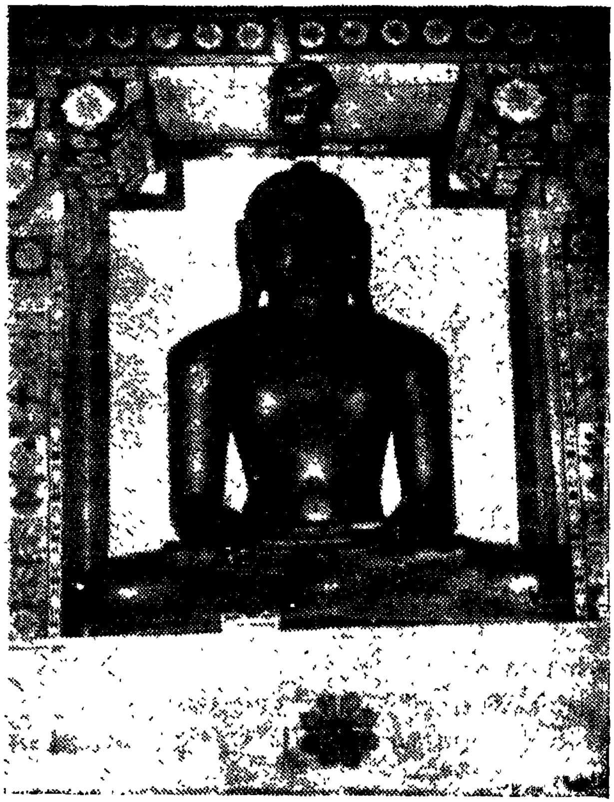
त्रैमासिक

वर्ष २६ : किरण १ | अप्रैल १९७३

अनेकान्त



चांदखेड़ी अतिशय क्षेत्र के जिनभवन में विराजमान
आदिनाथ जिनेन्द्र की भव्य मूर्ति

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-प

विषय-सूची

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

वीरसेवा मन्दिर का अभिनव प्रकाशन

चिर प्रतीक्षित जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोश) का प्रथम भाग छप चुका है। इसमें लगभग ४०० जैन ग्रन्थों से वर्णानुक्रम के अनुसार लक्षणों का संकलन किया गया है। लक्षणों के संकलन में ग्रन्थकारो के कालक्रम को मुख्यता दी गई है। एक शब्द के अन्तर्गत जितने ग्रन्थों के लक्षण संगृहीत हैं उनमें से प्रायः एक प्राचीनतम ग्रन्थ के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त में हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है। जहा विवक्षित लक्षण में कुछ भेद या हीनाधिकता दिखी है वहां उन ग्रन्थों के निर्देश के साथ २-४ ग्रन्थों के आश्रय से भी अनुवाद किया गया है। इस भाग में केवल 'अ से औ' तक लक्षणों का सकलन किया जा सका है। कुछ थोडे ही समय मे इसका दूसरा भाग भी प्रगट हो रहा है, वह लगभग तैयार हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ सशोधकों के लिये तो विशेष उपयोगी है ही, साथ ही हिन्दी अनुवादके रहनेसे वह सर्वसाधारणके लिये भी उपयोगी है। प्रस्तुत प्रथम भाग बड़े आकार में ४२५ पृष्ठों का है। कागज पुष्ट व जिल्द कपड़े की मजबूत है। मूल्य २५-० रु० है। यह प्रत्येक यूनिवर्सिटी, सार्वजनिक पुस्तकालय एव मन्दिरों में सग्रहणीय है। ऐसे ग्रन्थ बार बार नहीं छप सकते। समाप्त हो जाने पर फिर मिलना अशक्य हो जाता है।

प्राप्तिस्थान
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली-६

अनेकान्त में प्रकाशित विचारो के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —व्यवस्था

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २६ किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४९९, वि० सं० २०२९ | अप्रैल १९७३

स्तुतिकर्म

यद्गर्भस्य महोत्सवे सुरचयैराकाशसंपातितै—
र्नानावर्णधरैर्विचित्रमणिभिः संछादितं भूतलम् ।
शुम्भद्रूपधरैस्तदीयसुगुणै रेजे यथा लाञ्छितं
तं वन्दे वृषभं वृषाञ्चितपदं भक्त्या सदा सौख्यदम् ॥१॥

प्रोत्तुङ्गे गिरिराजरम्यशिखरे क्षीरोदधेराहृतै—
श्चञ्चच्चन्द्रकलाकलापतुलितैरम्भोभिरानन्दिताः ।
जातं यं मुदिताः सुरा रतिधराः संसिक्तवन्तः स्वयं
तं वन्दे ह्यजितेश्वरं जिनवरं सत्कीर्तिराकापतिम् ॥२॥

अर्थ—जिनके गर्भकल्याणक के समय देवसमूह के द्वारा आकाश से बरसाये हुए रङ्ग-विरङ्गे नाना मणियों से आच्छादित पृथिवीतल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों उन्हीं के शोभायमान गुणों से युक्त हो, इन्द्र के द्वारा पूजित चरणों के धारक एवं सदा वास्तविक सुख प्रदान करने वाले उन वृषभनाथ भगवान् को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥१॥

आनन्द से युक्त एवं प्रीति को धारण करने वाले देवों ने उत्पन्न होते ही जिनका क्षीरसागर से लाये हुए चन्द्रमा की कलाओं के समूह की तुलना करने वाले जल से मेरु पर्वत के उच्चतम शिखर पर स्वयं अभिषेक किया था उन कीर्तिरूप पूर्णचन्द्र से युक्त अजित जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

————

श्री महावीर स्वामी और हम

(१)

वे थे—

विश्व-व्यापी-विकलता विलोक वीर वर्द्धमान,
त्रस्त-प्राणि-त्राण हेतु हृदय में अधीर थे।
लेकर जग से विराग, पंचेन्द्रिय-विषय त्याग,
कर्म दस्यु-दलन बने अविचल सुधीर थे।।
सर्वसमभावी, सर्वत्यागी, सर्व हितकारी,
सर्व दृष्टिकोणों से विचारक गंभीर थे।
आत्म-पूर्णता के प्रभावक, प्रकाश-पुंज,
वीतरागी सर्वज्ञाता स्वामी महावीर थे।।

(२)

और आज—

विश्व की विकलता का भान तो कहाँ से हो,
देश औ समाज का न रंचमात्र ध्यान है।
पंचेन्द्रिय विषय त्याग बात बहुत दूर रही,
भक्ष्याभक्ष्य-भक्षण तक का रहा नहीं ज्ञान है।।
सर्व समभावी सर्वत्यागी प्रभु थे परन्तु,
काला धन संचय में आज सम्मान है।
खा रहा समाज को दहेज का दानव दुष्ट,
हुए अर्थलोलुपी, अहिंसक जवान हैं।।

(३)

तब क्या करें— ?

वीर की जयंती मनाना है सार्थक तभी,
वीर के जीवन से प्रकाश कुछ पावें हम।
खान पान, रहन सहन सात्विक पवित्र होवे,
धार्मिक गृहस्थ जैसा जीवन बितावें हम।।
दीन दुखियों की दशा देख मन होवे द्रवित,
स्वार्थत्याग "कौशल" वात्सल्य अपनावें हम।
दूर कर द्वेष दम्भ, दयाहीनता, दहेज,
नैतिकता नाव पतवार बन जावें हम।।

हीरालाल जैन 'कौशल'

छठी शताब्दी का अज्ञात जैन शासक :

महाराजाधिराज श्री रामगुप्त

मनोहरलाल दलाल

मालवा प्रदेश में जैन वास्तु एवं मूर्ति शिल्प के उदाहरण पांचवीं शताब्दी के पूर्व के नहीं मिलते, परन्तु इसके पश्चात् इनकी एक विकास शृंखला ज्ञात होती है। जैन अनुश्रुतियों से विदित होता है कि उज्जयिनी एवं विदिशा जैन धर्म के केन्द्र थे तथा पश्चिमी भारत में जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार का मौर्य सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रति ने योजनाबद्ध प्रयत्न किया था। कालकाचार्य कथानक से उज्जयिनी में जैन धर्म के लोकप्रिय होने का ज्ञान अवश्य होता है, परन्तु पुरातात्विक प्रमाण नहीं मिलते। गुप्त सम्राट कुमार गुप्त प्रथम के राज्यकाल के गुप्त संवत् १०६ (४२५ ई०) के उदयगिरि गुहा लेख[1] से विदित होता है कि शंकर नामक व्यक्ति ने सर्पफणी युक्त श्रेष्ठ पार्श्वनाथ की प्रतिमा गुफा द्वार पर निर्मित करवाई थी, जिसके सर्पफण चिह्न मात्र शेष बचे हैं। बेस नगर से एक विशाल तीर्थंकर प्रतिमा और मिली थी, जो ग्वालियर संग्रहालय में सुरक्षित है, परन्तु जैन धर्म को आश्रय देने वाले किसी शासक का बोध नहीं होता।

विदिशा संग्रहालय में महाराजाधिराज रामगुप्त के द्वारा स्थापित तीर्थंकर प्रतिमाएं पद्मासन मुद्रा में हैं, जिनमें एक चन्द्रप्रभ एवं दूसरी पुष्पदन्त भगवान की है, यद्यपि तृतीय प्रतिमा पहिचानना सम्भव नहीं है। इन तीनों प्रतिमाओं की पादपीठ पर तिथिविहीन लेख है[2], जिनका आशय समान है :—

"भगवतोर्हतः चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराज श्री रामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपात्रिक चन्द्रक्षमाचार्य क्षमा-श्रमण प्रशिष्य आचार्य सर्प्पसेन-क्षमण शिष्यस्य गोलक्यान्त्यसात्पुत्रस्य चेलू क्षमणस्येति।"

पादपीठ पर उत्कीर्ण लेखों से स्पष्ट है कि चन्द्रक्षमाचार्य क्षमा-श्रमण के प्रशिष्य एवं सर्प्पसेन-क्षमण के शिष्य चेलू क्षमण के उपदेश से महाराजाधिराज रामगुप्त ने ये प्रतिमाएं स्थापित करवाई थीं। इन लेखों की लिपि गुप्त ब्राह्मी है, अतएव इनका निर्माण काल छठी शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता। इस जैन सम्राट रामगुप्त का काल एवं राज्य क्षेत्र निर्धारित करना विवादास्पद है।

विदिशा, एयण, उज्जयिनी आदि क्षेत्रों में रामगुप्त के ताम्र-सिक्के भी मिले हैं, जिन पर गुप्त ब्राह्मी में 'रामगुप्त' लेख है, जिसे इन मूर्तियों के महाराजाधिराज श्री रामगुप्त से अभिन्न मानकर गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का अग्रज मानने का सुझाव दिया जाता है[3], जिसे 'देवीचन्द्र गुप्त' नाटक में उल्लेखित ध्रुवदेवी के प्रथम पति एवं समुद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त से सम्बन्धित किया जाता है।'

मूर्तियों के प्रकाश में आने के पूर्व मालवा क्षेत्र में प्राप्त सिंह तथा गरुड़ प्रकार के ताम्र सिक्कों से ज्ञात रामगुप्त का काल एवं राज्य क्षेत्र निर्धारित करने में विद्वानों में मतभेद था। परमेश्वरीलाल गुप्ता[4], अनन्त सदाशिव अल्लेकर[5] एवं कृष्णदत्त बाजपेयी[6] इस रामगुप्त को साहित्यिक स्रोतों से ज्ञात गुप्त शासक रामगुप्त से अभिन्न मानते हैं तथा अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क देते हैं :—

१. फ्लीट कृत गुप्त अभिलेख पृष्ठ २५८।

२. जर्नल ऑफ ओरियन्टल इंस्टिट्यूट, १८, भाग ३, पृष्ठ २४७-५१।

३. साप्ताहिक हिन्दुस्थान दिनांक ३० मार्च १९६९ ई०, पृष्ठ १०।

४. जर्नल आफ दि न्यूमिसमेटिक सोसायटी आफ इंडिया, भाग १२, पृष्ठ ३।

५. वही पृष्ठ १०६।

६. वही, भाग १८, पृष्ठ ३४०-४४।

१. साहित्यिक स्रोतों में ज्ञात रामगुप्त एक गुप्त शासक था तथा लिपि से ये सिक्के गुप्त कालीन प्रतीत होते हैं।

२. समुद्रगुप्त ने पूर्वी मालवा विजित कर एरण को प्रान्तीय शासन का केन्द्र बनाया था, सम्भवत: रामगुप्त को समुद्रगुप्त ने यहाँ का शासक नियुक्त किया होगा। कालान्तर में राजकुमार को पूर्वी मालवा में गवर्नर बनाने की परम्परा गुप्त सम्राटों ने जारी रखी थी यथा—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने गोविन्द गुप्त को तथा कुमारगुप्त प्रथम ने घटोत्कच गुप्त को एरण का शासक नियुक्त किया था।

३. रामगुप्त के सिक्कों पर गरुड़ गुप्त सम्राटों का लाञ्छन है तथा सिंह मिलने का सम्बन्ध ध्रुवदेवी की वैशाली से प्राप्त मुद्रा के सिंह से जोड़ा जा सकता है।

४. 'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक में उल्लेखित शक शासक से ध्रुवदेवी के लिये हुए युद्ध की घटना विदिशा के निकट की होगी, क्योंकि इस क्षेत्र में शक शासकों के सिक्के एवं अभिलेख मिले हैं।

दिनेशचन्द्र सरकार[1], ए० के० नारायण[2] एवं निसार एहमद[3] का विचार है कि सिक्कों से ज्ञात रामगुप्त पाँचवीं शताब्दी का मालवा का एक स्थानीय शासक था, जिसका उत्थान गुप्त साम्राज्य के पतनावस्था में हुआ होगा, क्योंकि सिक्कों के प्रकार, वजन, बनावट एवं प्रचलन से वे स्थानीय प्रतीत होते हैं।

विदिशा से प्राप्त तीन तीर्थंकर प्रतिमाओं के पादपीठ पर उल्लेखित जैन शासक महाराजाधिराज श्री रामगुप्त को सिक्कों से ज्ञात रामगुप्त से अभिन्न मानना उचित है। क्योंकि सिक्के एवं मूर्तियाँ मालवा क्षेत्र में ही मिली हैं तथा इनके लेखों की लिपि भी गुप्त ब्राह्मी है; यद्यपि इस रामगुप्त को समुद्रगुप्त के पुत्र से अभिन्न मानना निम्न कारणो से असंगत है :—

१. यह शासक जैन मतावलम्बी था तथा इसने चेलुक्षमण के उपदेशों से प्रभावित होकर ये जिन प्रतिमाएं स्थापित करवाई थीं, जबकि गुप्त शासक ब्राह्मण मतावलम्बी थे।

२. रामगुप्त का विरुद महाराजाधिराज है, जिससे यह स्वतन्त्र शासक विदित होता है। विदिशा एरण क्षेत्र ५१० ई० तक गुप्त साम्राज्य का अंग था तथा उसके पश्चात् हूण सम्राट तोरमाण एवं मिहिर कुल का।

३. रामगुप्त के सिक्के उज्जयिनी क्षेत्र में भी मिले हैं, जबकि इस क्षेत्र को सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त द्वितीय या कुमारगुप्त प्रथम ने जीता था, अतएव यह रामगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का पूर्वगामी कैसे हो सकता है?

४. मालवा में स्थानीय प्रकार के ताम्र सिक्के सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त द्वितीय ने प्रचलित किये थे, अतएव यह रामगुप्त बाद का है।

५. मूर्तियों के अभिलेखों से रामगुप्त के गुरु चेलुक्षमण को चक्षनाचार्य क्षमाश्रमण का प्रशिष्य कहा गया है, जबकि जैन आचार्यों में क्षमाश्रमण विरुद सर्वप्रथम वल्लभी संगिति के अध्यक्ष देवर्धिगणि का मिलता है, जिनका समय ४५३ ई० ज्ञात है, अतएव चन्दक्षमाचार्य उनसे परवर्ती हैं।

महाराजाधिराज श्री रामगुप्त मालवा क्षेत्र के प्रथम ज्ञात जैन शासक थे, जिनके राज्य क्षेत्र में सम्पूर्ण मालवा क्षेत्र सिक्कों से विदित होता है· यद्यपि पूर्वी मालवा में इनके सिक्के बड़ी तादाद मे मिले हैं। इस जैन शासक का समय निर्धारित कर स्वतंत्र शासक के रूप में प्रतिष्ठित करना कठिन है पूर्वी मालवा में गुप्त सम्राटों का शासन अभिलेख एवं सिक्कों से बुद्ध गुप्त तक ज्ञात होता है जिनकी तिथि गुप्त संवत १६५ (४८४ ई०) है।[4] एरण से प्राप्त भानुगुप्त गोपराज के अभिलेख से ५१०

१. जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री त्रिवेन्द्रम ४०, पृ० ५३३।
२. जर्नल आफ दि न्यूमिसमेटिक सोसायटी आफ इंडिया, भाग १२, पृष्ठ ४१।
३. वही, भाग २५, पृ० १०५।
३. एपिग्राफिया इंडिका—२१, पृष्ठ १२७ एवं फ्लीट कृत गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ८८।
४. फ्लीट कृत गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ६२।

ई० तक इस क्षेत्र में गुप्त सत्ता का आभास होता है।

हूण शासक तोरमाण के प्रथम राज्यवर्ष का अभिलेख एरण से मिला है[1], जिसका प्रान्तीय शासक धन्यविष्णु था, जोकि गुप्त सम्राट बुधगुप्त के प्रान्तीय शासक मातृविष्णु का अनुज था, अतएव छठी शताब्दी के आरम्भ में पूर्वी मालवा के शासक हूण ज्ञात होते हैं। तोरमाण को उद्योतनसूरि ने कुवलय माला में जैन कहा है, जिसका पुत्र मिहिरकुल ५३० ई० तक पैतृक राज्य का स्वामी विदित होता है। यशोधर्मन विष्णुवर्धन के दशपुर अभिलेखों[2] से विदित होता है कि उसने मालव संवत् ५८९ (५३२ ई०) के पूर्व मिहिरकुल को परास्त कर गुप्तों एव हूणों से भी विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया था, अतएव रामगुप्त की स्वतन्त्र सत्ता का समय औलिकर सम्राट यशोधर्मन विष्णुवर्धन के बाद ही रखा जा सकता है।

यशोधर्मन की मृत्यु सम्भवत: ५४० ई० के पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि उसके द्वारा स्थापित साम्राज्य का विघटन इसके बाद आरम्भ हो गया। गुप्त साम्राज्य के अवशेषों पर गौड़, मौखरि एव परवर्ती गुप्त राजवंशों का उत्थान एवं प्रतिस्पर्द्धा अभिलेखों से ज्ञात है, अतएव मालवा मे इसी समय करीब ५५० ई० में रामगुप्त ने भी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली होगी। सुनैर से सत्यगुप्त का एवं ताम्रसिक्का मिला है[3], जिस पर लेख गुप्त ब्राह्मी में है, अतएव यह सत्यगुप्त महाराजाधिराज श्री रामगुप्त का उत्तराधिकारी रहा होगा, जिससे कलचुरि शासक शकरगण[4] ने ५९५ ई० में उज्जयिनी के आस पास का क्षेत्र छीन लिया था।

महाराजाधिराज श्री रामगुप्त ने मालवा क्षेत्र में जैन धर्म के प्रसार के प्रयत्न अवश्य किये थे क्योंकि छठी शताब्दी के बाद से जैन वास्तु एवं मूर्ति शिल्प के उदाहरण मालवा मे बहुसंख्यक मिलते है। इन लेखयुक्त जिन प्रतिमाओं से इस अज्ञात जैन सम्राट का नाम एव धर्म मात्र ज्ञात होता है। रामगुप्त के महाराजाधिराज विरद एव सिक्कों से इसका राज्य क्षेत्र विस्तृत प्रतीत होता है, परन्तु अन्य स्रोतों के अभाव मे अन्य उपलब्धियाँ ज्ञात नही होती। जैन आचार्य चन्द्रक्षमाचार्य एव उनकी शिष्य परम्परा चेलुक्षमण तक लेख से ज्ञात होता है, सम्भवतः इनका उपदेश केन्द्र विदिशा था। देवर्षि क्षमाश्रमण से इनका सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता, यद्यपि लाट एवं मालवा जैनाचार्यों के लिये सम्बद्ध प्रचार क्षेत्र थे, अतएव चन्द्रक्षमाचार्य क्षमाश्रमण को वल्लभी से सम्बन्धित मानना असगत नहीं होगा। ★

१. फ्लीट कृत गुप्त अभिलेख, पृ० १५९।
२. वही, पृ० १४७।
३. इडियन आर्कियालाजी, १९६७-६८, पृ० ६२।
४. एपिग्राफीया इडिका ९, पृ० २९६।

वर्धमानपुर : एक समस्या

मनोहरलाल दलाल

जैनाचार्य जिनसेन ने अपने हरिवंश पुराण को शक संवत् ७०५ में वर्द्धमानपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय में समाप्त किया था। इसी वर्द्धमानपुर मे शक संवत् ८५३ में हरिषेण ने कथाकोष की रचना की थी। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने इस वर्द्धमानपुर की पहिचान सौराष्ट्र के प्रसिद्ध शहर 'बढ़वाण' से की है, परन्तु डा० हीरालाल जैन ने (इण्डियनकल्चर—अप्रैल १६४५) धार जिलान्तर्गत नगर 'बदनावर' से इस वर्द्धमानपुर को अभिन्न माना है। ये दोनों ही नगर उज्जयिनी से पश्चिम में हैं। जिनसेनाचार्य ने वर्द्धमानपुर की जो भौगोलिक स्थिति बतलाई है वह महत्त्वपूर्ण है। हरिवंश पुराण के अन्तिम सर्ग के ५२वें पद्य मे लेखक ने बतलाया है कि वर्द्धमानपुर के उत्तर में इन्द्रायुध, दक्षिण मे कृष्ण का पुत्र श्री वल्लभ, पूर्व मे अवन्तिराज वत्सराज और पश्चिम में सोरों के अधिमण्डल सौराष्ट्र की वीर जयवराह रक्षा करता था, उस समय यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ था।

दोनों स्थल (बढ़वाण एव बदनावर) से उत्तर में कन्नौज के शासक इन्द्रायुध का शासन अभिलेखों से ज्ञात है तथा दक्षिण में राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द द्वितीय श्री वल्लभ का शासन था, जिसकी ज्ञात तिथि ताम्रपत्र से शक संवत् ६६२ ज्ञात है।[1] पूर्व की ओर के शासक 'अवन्ति भूभृत वत्सराज' को नागभट्ट द्वितीय के पिता वत्सराज से अभिन्न समझा जाता है, परन्तु उद्योतनसूरि की कुवलयमाला नामक प्राकृत कथा में वत्सराज का राज्य शक संवत् ७०० में जावालिपुर अर्थात् जालौर (मारबाड़) में बताया गया है। अन्य ऐसा कोई प्रमाण नहीं है, जिससे प्रतिहार शासक वत्सराज को अवन्तिराज माना जा सके, सम्भवतः महुआ अभिलेख से ज्ञात मालवा का स्थानीय शासक वत्सराज ही उस समय अवन्ति का शासक था, जिसका हरिवंश पुराण में उल्लेख है, इस दृष्टि से कुवलयमाला में उल्लेखित वत्सराज भिन्न प्रतीत होता है। जो कि प्रतिहारवंशीय था। पश्चिम के शासक वीर वराह की पहिचान राष्ट्रकूट शासक कर्कराज के ताम्र पत्र में उल्लेखित राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण से पराजित चालुक्य शासक कीर्ति वर्मा महावराह के वंशज से की जाती है। ऐसी स्थिति में हरिवंश पुराण मे उल्लेखित भौगोलिक स्थिति के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है, क्योंकि बढ़वाण एवं बदनावर दोनों स्थलों पर यह घटित होती है।

हरिवंश पुराण की रचना वर्द्धमानपुर की नन्नराज वसति में की गई थी, जो कि राष्ट्रकूट शासक नन्नराज या उसके उत्तराधिकारी द्वारा निर्मित मंदिर रहा होगा। भानपुरा के निकट इन्द्रगढ़ से प्राप्त मालव संवत् ७६७ (शक संवत् ६३२) के अभिलेख में[3] भामन के पुत्र राजा णण्णप्य का उल्लेख है, जिसका मालवा पर शासन था, जिसकी पहिचान सगलोदा[4] एव मुल्ताई[5] ताम्रपत्रों से ज्ञात राष्ट्रकूट शासक नन्नराज से की जाती है, जिसकी तिथि शक संवत् ६३३ ज्ञात है। इस दृष्टि से भी नन्नराज वसति की सम्भावना बढ़वाण एव बदनावर दोनो ही स्थलों पर हो सकती है। बदनावर मे पूर्व मध्यकालीन मंदिरों एवं मूर्तियों के अवशेष मिले है, इनमे एक लेख मे शान्तिनाथ चैत्यालय का उल्लेख भी है।

वर्द्धमानपुर की पहिचान की दृष्टि से बदनावर से

---

१. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द—६, पृ० २०६।
२. वही, जिल्द ३७, अंक ११।
३. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली, ३१, क्रमांक २ पृ० ६६; एपिग्राफिका इण्डिका जिल्द ३२ पृ० ११२
४. इण्डियन एण्टिक्वेटी २६, पृ० १०६।
५. वही, १८ पृष्ठ २३०; एपिग्राफिया इण्डिका ११, पृष्ठ २७६।

प्राप्त मूर्तियों के पादपीठ पर उत्कीर्ण तीन अभिलेखों का विशिष्ट महत्व है :—

१. संवत् १२२९ वैशाख बदी ९ सक्र ग्रथ हे **वर्धनापुरे** श्री शान्तिनाथ चैत्ये सा० श्री सलन सा० गोशल भा० ब्रह्मादि भा० बड़देवादि कुण्डवसुहितेन निजगोत्र देव्या श्री अच्छुप्ता: रवि कीर्ति कारिता: ।

यह लेख अच्छुप्ता देवी के पादपीठ पर है । यह मूर्ति ४१" ऊँचे एवं २६" चौड़े प्रतिमा फलक पर बनी है । इसमें नगर का नाम स्पष्ट रूप से **वर्धनापुरे** लिखा है यद्यपि डा० हीरालाल जैन ने त्रुटि वश इसे वर्धमानपुर पढ़ लिया है, जिसकी ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया । यह मूर्ति दिगम्बर जैन सग्रहालय, उज्जैन मे रखी है ।

२. संवत् १३०८ वर्षे माघ सुदी ९......श्री वर्धनापुरान्वय पडित रतनुभार्या साधुसुत साइगभार्या कोड़े पुत्र सा० असिभार्या होन्तु नित्य प्रणमति ।

इस अभिलेख मे वर्धनापुरान्वय का उल्लेख है, परन्तु इससे भी अभिलेख संख्या १ के अनुसार ही बदनावर का नाम 'वर्धनापुर' ज्ञात होता है, यद्यपि केवल एकमात्र निम्नलिखित अभिलेख मे 'वर्धमानपुरान्वय' का उल्लेख है :—

३. संवत् १२१६ चैत्र सुदी ५ बुधे रामच द्र प्रणमति **वर्धमानपुरान्वय** सा० सुंभोदित सुत वाला सीपा भार्या राया सुत विल्लाभार्या वायणि प्रणमति ।

उपर्युक्त उल्लेख को वर्धमानपुर के अन्वय का उल्लेख मात्र मानकर इस अभिलेख युक्त प्रवेश द्वार को स्थापित करवाने वाले व्यक्ति को बढ़वाण का निवासी मान लेना उचित नही होगा क्योंकि अभिलेख संख्या-२ मे उल्लेखित 'श्री वर्धनापुरान्वय' का भी फिर यही अर्थ मानना होगा, ऐसी स्थिति मे बढ़वाण के अन्वय को वर्द्धमानपुरान्वय और बदनावर के अन्वय को वर्धनापुरान्वय मानकर दोनों नगरों के भिन्न-भिन्न अन्वय की कल्पना करनी होगी ।

इन लेखों में अभिलेख क्रमांक-१ विक्रम संवत् १२२९ का है जबकि क्रमांक-३ विक्रम संवत् १२१६ का है, जिनमें केवल १३ वर्ष का अन्तर है, यद्यपि अभिलेख क्रमांक करीब १२ वर्ष बाद का है विक्रम संवत् १३०८ का । बढ़वाण से कोई अभिलेख नही मिले है, जिनसे उस नगर का प्राचीन नाम 'वर्द्धमानपुर' माना जा सके ।

मालवा में धार जिले के अन्तर्गत तहसील नगर बदनावर को जैन हरिवंश पुराण एवं कथाकोष में उल्लेखित वर्द्धमानपुर का गौरव देना उचित प्रतीत होता है जिसका प्राचीन नाम आठवीं शताब्दी में 'वर्द्धमानपुर' था, परन्तु कालान्तर में इस नगर को 'वर्धनापुर' कहा जाने लगा था । यद्यपि वर्द्धमानपुर नाम भी लोकप्रिय बना रहा, जिसकी पुष्टि विक्रम सवत् १२२९ एव १२१६ में स्थापित मूर्ति लेखों से होती है ।

हरिवंश पुराण मे उल्लेखित भौगोलिक स्थिति, प्राप्त मूर्ति लेख, पुरातात्विक अवशेष आदि विशाल जैन केन्द्र के रूप मे बदनावर का प्राचीन गौरव प्रकट करते हैं, जिसका मूल्यांकन डा० हीरालाल जैन ने किया था, परन्तु अभिलेखों के आलोचनात्मक अध्ययन के अभाव में विद्वत् समाज ने इसे स्वीकार नही किया था । ★

विशेष सूचना

मुनि श्री विद्यानन्द : भुजंगी विश्व के बीच चन्दन के बिरछ

डा० नेमीचन्द जैन

जिस दिन मुनिश्री विद्यानन्द जी से साक्षात् हुआ, उस दिन सहसा कबीर की याद मन मे मंडराने लगी। कबीर की कई साखियां मन पर झमाझम बरस पड़ी। एक साखी—बदली बरसकर कह गयी—"**साध कहावन कठिन है, लम्बा पेड़ खजूर। चढ़े तो चाखे प्रेमरस, गिरे तो चकनाचूर।।**" इसके अर्थगौरव पर मन का मोर नाच-नाच उठा; और लगा जैसे मेरा ध्यान कमल की पांखुरी पर मोती-सी दमकती किसी बूंद पर चला गया है। बूंद दमक रही है पांखुड़ी पर, और पांखुरी पांखुरी है। दोनों साथ, दोनों अलग। ऐसा अभिनव-अलौकिक बोध हुआ उस परम व्यक्तित्व का उस दिन जैसे अनेकान्त ने नवाकार ग्रहण किया हो और वह अपनी सम्पूर्ण छटा और वैभव में मेरी आंखों के सामने उपस्थित हो। इतने मे कबीर की दूसरी साखी मन पर पलथी मारने लगी—"**परमारथ के कारणे, साधुन धरा शरीर**"। मन मान गया कि मुनिश्री की डगर खांडे की प्रखर धारहै। वे आत्मार्थी हैं, आत्मानुसंधानी है; और समाज-हित में भी बड़े चौकस और अनासक्त वृत्ति से चल रहे है। उनकी मुसकान में समाधान है और वाणी में समन्वय का अनाहत नाद। उनका हर कदम मानवता की मंगल मुस्कराहट है और हर शब्द जीवन को दिशा-दृष्टि देने वाला है। कहें हम कि, वे भुजंगी विश्व के बीच चन्दन के बिरछ हैं, अनन्त सुवास के स्वामी।

एक बार एक सज्जन घर आये। कहने लगे आप मुनिश्री विद्यानन्द जी के अन्धभक्त हैं। मैंने सहज ही कहा—"इसमें आपको कोई आपत्ति है; भक्ति और आराधना तो व्यक्तिगत मुद्दे है।" सिगरेट का कश खीचते हुए बोले—"नही वैसे ही; आपको उनके पास आते-जाते देख लिया था।" मैंने कहा—"यानी आप मित्रो पर जासूस निगाह रखते हैं।" तड़प कर बोले—"वैसा कुछ नही है, क्या मित्रो का ध्यान रखना बुरा है।" इस बीच उन्होने दूसरा कश भरपूर खीच लिया था। मैने चिकोटी लेते पूछा—"आप सिगरेट तो बडी श्रद्धा से पीते है; इसके अन्धभक्त है क्या?" उन्हे उत्तर मिल गया था, और वे अब किसी खास घबराहट में जाना चाहते थे; किन्तु मैने जाते-जाते उनके कान में कबीर की एक गरम-सी साखी डाल दी—"**जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान। मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।**" तलवार का मोल करना योद्धा का काम है, कितने है ऐसे रण-बाकुरे जो जीवन से मुखातिब है और तलवार की धार का सम्पूर्ण अहसास कर रहे है। आज अधिकाश लोग म्यान पर झगड रहे है, ज्ञान पर किसी का ध्यान नही है। इधर मुनिश्री की पगतली साधना की दुधारी तलवार पर है और वे ज्ञान की खोज मे प्रतिपल कर्मरत है। उनका एक क्षण भी क्षीण नहीं है. उसके मुरझने से पहले वे उसके सौरभ को निचोड़ कर दुनिया को बांट देते है। रौरव और कौरव के इस जमाने मे सौरभ की वन्दना जो नही कर पाते, उनके अभाग्य की कल्पना मैं सहज ही कर सकता हूँ।

आज जब पूज्य मुनिश्री ४८ वर्ष के हुए हैं, उनकी साधना विश्वधर्म की सार्थक परिभाषा घड़ रही है। उनका तेजोमयव्यक्तित्व, अंगारे सी अहर्निश दहकती ज्ञान-देह देखकर कोई भी विस्मय-विमुग्ध खड़ा रह जाता है। एक सहज मुस्कराहट, निर्द्वन्द्व मुखमडल, विशाल-भव्य ललाट, ज्ञान के वातायनो से सम्यक्त्व—खोजते नेत्र, जीवन को टटोलती चेहरे की हर मुद्रा, देह मे कहीं कोई शिकन नहीं। परमानन्द की मगलमूर्ति मुनिश्री जब प्रवचन की मुद्रा में विशाल जनमेदिनी के सम्मुख उपस्थित होते हैं, तब ऐसा लगता है जैसे प्राची में कोई सूरज उठ रहा है जो मध्याह्न तक पहुँचते-पहुँचते उपस्थित लोक-

मानस को अपूर्व कर्मनिष्ठा से भर देगा, उसे साधना में जगा देगा। और यह सर्वथा सत्य भी है कि उनकी वाणी मन को उमगाती है, तन को संयम मे जगाती है, और धन को सच्ची राह पर मोड़ देती है। माया की चकाचौंध में, उसकी मृगतृष्णा में बंधे नामालूम कितने लोग मुनिश्री के पास नित्य पहुँचते हैं; किन्तु सब एक अनन्त तृप्ति और शीतलता लेकर लौटते है। वे हिमालय तक गये हो, या नहीं (गये हैं) किन्तु दर्शनार्थी उनके दर्शन के साथ एक हिमालय अपने भीतर पिघलते देखता है जो उसके जनम-जनम के सौ-सौ ग्रीष्म शान्त कर देता है। वन्दना से उसके मन मे कई पावन गंगोत्रियां खुल जाती है। इस तरह मुनिश्री के दर्शन जीवन के सर्वोच्च शिखर के दर्शन है, वे परमानन्द के द्वार पर चत्तारि मंगल की वंदनदार हैं।

बहुधा लोग सोचते हैं मुनिश्री विद्यानन्द जी दिगम्बर वेशधारी मुनि हैं, होंगे रूढ़िग्रस्त; शास्त्र जिस तरह वेष्ठन मे बधा होता है, वैसे ही परम्परा के वेष्टन में लिपटे कोई व्यक्ति होंगे; किन्तु एक ही क्षण में उनकी आंखों पर से यह धुंध हट जाती है और उन्हें नवनिधियों का अनन्त कोष मिल जाता है। उसके सम्मुख ज्ञान का, आनन्द का एक अखूट खजाना खुल जाता है। उसे लगता है जैसे वह किसी आध्यात्मिक कल्पवृक्ष की छांव में खड़ा है, जहाँ उसकी हर अभिलाषा सुहागन है। मुनिश्री न रूढ़िवादी हैं, न परम्परा-भक्त; वे विशुद्ध सत्यार्थी हैं। उनका विश्वास न आडम्बर है, न पाखण्ड में; उन्हें केवलज्ञान, सम्यग्ज्ञान चाहिए। उनकी साधना अनुक्षण उसी पर केन्द्रित हैं; किन्तु उनके चिन्तन की उदारता व्यक्ति. समाज, मुल्क और सारे संसार को छू लेती है, एक विश्वधार्मिक स्वस्थ वातावरण में कस लेती है।

व्यक्तिधर्म से लेकर लोकधर्म की सारी परिभाषाएँ मुनिश्री के व्यक्तित्व में समायी हुई हैं। उनसे भेंट का मतलब ही विश्वधर्म से हुई परमपावनी मुलाकात से है। यदि आप जानना चाहते हों कि विश्वधर्म क्या है, तो मुनिश्री के विचारों का सम्पूर्ण एकाग्रता में आचमन कीजिए और एक विलक्षण आत्मस्फूर्ति में विश्वधर्म की अनुभूति कर लीजिए। जब परिभाषाएँ की जाती हैं तब जीवन बड़ी स्थूल यात्रा कर रहा होता है; किन्तु जब परिभाषा आचरण में अनुगुंजित होती है, तब यात्रा अपने अत्यन्त सूक्ष्म और प्रभावी दौर में होती है। मुनिश्री का सम्पूर्ण जीवन इसी तरह की मंगल यात्रा है। उनसे आप पूछें ही क्यों, उन्हें गौर से देखें कि वे क्या कर रहे हैं! इस देखने में ही आप जैनधर्म के मूल रूप को, विश्व-धर्म की वर्णमाला को जान जाएँगे। बात यह है कि जो ऊलजलूल सवालों में जीते हैं, उनके मन मैले होते हैं, वे किसी बात को ताड़ने जाते हैं। उनकी नीयत मे खोट होती है; किन्तु जो गंगाजल पीने जाता है, वह अजलियां भर-भर उसे सम्पूर्ण निष्ठा और तृप्ति में पीता है, उसका रसास्वाद लेता है; किन्तु जो पुण्यतोया गंगा की जांच करने जाते हैं, उन्हें उसका कोई स्वाद नहीं मिलता; वक्त जाता है, शक्ति डूबती है। मुनि श्री गंगा की पतितपावनी जलधार है, बिलकुल "गूंगे के गुड" अनुभूतिगम्य। जानना हो तो साधना करो, स्वच्छ बनो और जानो; नहीं जानना हो तो गंगा की धार को आगे बढ़ने से भला कौन रोक सकता है!

मुनिश्री शास्त्रज्ञ हैं। उन्होंने शास्त्र-सिन्धु का महामंथन किया है। उनके प्रवचन अमृतकलश है उस महामन्थन के। बात-बात में खूब गहरे जाना उनका स्वभाव है। मनोविनोद भी और जीवन की अतल गहराई भी, उनके बोलने और जीने में देखी जा सकती है। वे शिशु से सरल, शिशु से प्रश्नवान, और शिशु से प्रतिपल उत्कण्ठित रहते हैं। शैशव का अद्भुत सारल्य उनके व्यक्तित्व का अविभाजी अंग है। उन्हें वृद्धों में वह रस नहीं मिलता जो बच्चों में मिल जाता है। इसलिए वे बच्चों से बतरस करते हैं, उनकी सरल-निश्छल मुस्कराहट का स्वयं आस्वाद करते हैं, और फिर उपस्थितों पर उस खजाने को उलीच देते हैं। बच्चों से उन्हें ताजगी मिलती है; लगता है वे अंग्रेजी की इस कहावत के मर्म को जानते हैं—"चाइल्ड इज द फादर आफ मैन"। शास्त्र की शुष्कता को शिशुसुलभ सौन्दर्य, सारल्य, निर्वैर और नैश्छल्य के रस में शराबोर करना मुनिश्री के व्यक्तित्व का बड़ा आकर्षक भाग है।

मुनिश्री एक राष्ट्रीय समन्वय-सेतु हैं। उनका जन्म

कर्नाटक प्रदेश के वेलगाँव जिले के शेडवाल ग्राम में २२ अप्रैल, १९२५ को हुआ। सुरेन्द्रकुमार से पार्श्वकीर्ति और पार्श्वकीर्ति से मुनिश्री विद्यानन्द उनकी साधना के सोपान हैं; ब्रह्मचर्य, क्षुल्लक-जीवन और अब परम दिगम्बरत्व। कन्नड, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी और नामालूम कितनी भाषाओं के जानकार वे हैं। उस दिन जब जापानी के कुछ पर्यटक उनसे मिलने आये तो वे जापान के बारे मे जानने के लिए बालक से ललक उठे। जापान तो जापान, जापानी की सांस्कृतिक और धार्मिक शब्दावली तक उन्होने जान ली इस बीच। वे जो भी भाषा जानते हैं या सीखते हैं, उनका उद्देश्य मात्र ज्ञान होता है। वे भाषा द्रोह को मानवता का, राष्ट्रीय चिन्तन का बहुत उथला तल मानते हैं। माध्यम की अपेक्षा लक्ष्य पर ही उनका ध्यान बना रहता है, किन्तु साधन को भी प्रतिपल निर्मल देखना उनकी साधना का उज्ज्वलतम पक्ष है। उनकी मूल्यवान कृति "पिच्छ-कमण्डलु" इस दृष्टि से उनके विचारों का नवनीत है। वह एक संकलनीय कृति है; ज्ञान से परिपूर्ण, दिशा-दृष्टि देने में समर्थ।

मुनिश्री परमार्थ पुरुष हैं। उनमें दक्षिण और उत्तर, व्यवहार और निश्चय, लोककल्याण और आत्मकल्याण, व्यक्ति और विश्व, अनेकान्त और स्याद्वाद, यानी विश्लेषण और संश्लेषण एक साथ स्पन्दित हैं। इस दृष्टि से उनके प्रवचन ज्ञान के अतलांत समुद्र है; जहां विद्वान् को अधिक विद्वता; और एक औसत आदमी को सही जीवन-दिशा मिल जाती है; वह झूम उठता है मुनिश्री के जीवनदायी संकेतों पर। वे धार्मिक हैं, वैश्विक है, राष्ट्रीय है; जुदा जुदा और युगपत। आंख चाहिए, वे उसके लिए परम दृष्टि हैं; आलोक के लिए आलोक, उज्ज्वलता के लिए उज्ज्वलता, पावनता के लिए पावनता के अजस्र स्रोत है मुनिश्री विद्यानन्द।

एक दिन मैं उनके मनोतट पर अपनी नौका लगा बैठा। यही शाम के कोई पांच बजे होगे। एकान्त था। एक बड़ी इमारत, आस-पास चहल पहल; किन्तु भीतर से बिलकुल शान्त। मैने मुनिश्री से कहा—"तीर्थङ्कर" मे कुछ कम और सीधी-सरल रेखाओ वाले चित्र छापना चाहता हूँ। 'सरल रेखाएँ—आज के जमाने में कौन डालेगा भला, खैर लाइये, देखें क्या कुछ किया जा सकता है।" उन्होंने एक कागज उठाया और लगे लिखने एक चित्र। आहार-मुद्रा, पिच्छी, कमण्डलु। कम रेखाएँ, अधिकाधिक भावाभिव्यंजन। मैं स्तब्ध रह गया। सोचने लगा—ये मुनि हैं, महामुनि है; जीवन के चित्रकार हैं, मुक्ति के शिल्पी हैं; मानवता के चितेरे है, आखिर हैं क्या? मुनिश्री सब हैं, कुछ भी नहीं हैं; उनमे वस्तुतः शून्य की विराटता प्रकट हुई है। कुछ लोग आते है, उन्हें अंक से पूर्व रख ले जाते हैं, कुछ उन्हें अंक के बाद रख कर दस, सौ, हजार, लाख गुना होकर आते हैं; मुनिश्री हैं, आप चाहे जो उनमें से हों; गंगा का तट है, जल का स्वाद अलग-अलग अनुभूतियों में अलग-अलग हो सकता है। वैसे गंगा की धारा है, उसे आपकी वैयक्तिकता से कोई सरोकार नही है। ऐसे है योगेश्वर मुनिश्री विद्यानन्द।

संयोगितागंज (इन्दौर) की बात है। तब वे वहाँ के मन्दिर मे विराजमान थे। मूर्तियों का प्रसंग आया, तो वे खड़े हो गये; और मन्दिर की सारी मूर्तियों तक घुमा लाये। इस बीच उन्होंने बताया कि मूर्ति कैसी होनी चाहिए? दर्शक की नेत्र-मुद्रा और मूर्ति की मुख-मुद्रा में कैसा साम्य होना चाहिए? मूर्तियों की शिल्प-रचना क्या है? उनके कितने प्रकार है? इत्यादि। सारी बाते और इतने विस्तार से जानकर मै दंग रह गया और मन-ही-मन कहने लगा "केसव कहि न जाइ का कहिये।" मुनि हो तो ऐसा, मन ने महसूस किया, जो भीतर से परम साधक और बाहर से विशुद्ध तपस्वी; आठों याम तपस्वी; पूर्ण स्व-अर्थी स्वार्थीरेशे भर भी नहीं; परमार्थ ऐसा कि जो हर बार मिल रहे परम स्वाद को निरन्तर अकृपणभाव से बाट रहा है। जो इस रहस्य को सतत जान रहा है कि ज्ञान जितना बँटेगा, उतना बढ़ेगा, मंजेगा और निर्मल होगा। इस तरह मुनिश्री ज्ञान के अतल पारावार है, ज्ञान सुमेरु हैं।

उनका अध्ययन गहरा है। वे जिस सूत्र को पकड़ते हैं उसे अन्त तक खोजते है। राम को लें, राम कथा को लें। इसे उन्होंने १८ भाषाओं मे से जाना है; इसीलिए सीता का, राम का जो चरित्र उनके मुह से सुनने को

मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है। चित्त करुणा में अवगाह उठता है। दक्षिण के राम, उत्तर के राम, पूरब के राम, पश्चिम के राम; सब ओर की रामता-अभिरामता उनमे समायी हुई है। न उन्हें पूरब की बुराइयों का मोह है, न पश्चिम की अच्छाइयों से कोई द्रोह। अच्छाई को वे जीवन की हर खिड़की से आने देना चाहते हैं। जहाँ भी जीवन की रोशनी देनेवाला कोई तत्त्व दिखायी देता है, वे उसकी अगवानी में पलक-पावड़े बिछा देते है, उनके अभिनन्दन मे समाज को प्रेरित करते हैं। उनका कर्तृत्व महान है, उनका जीवन समर्पित है आत्मा की अनन्त यात्रा मे, और इसी बीच उनकी प्याऊ मे जो भी पिपासु पहुँच जाता है, उसे अनन्त तृप्ति का वरदान अनायास ही मिल जाता है; जो भी व्यथित-तृषित वहा उन तक पहुँचता है, उसके मन के सारे घाव भर जाते हैं उनकी चन्दन-चर्चा से।

इस लेख का अन्त हम तरुण पत्रकार श्री गजानद डेरोलिया के इस लेखांश से करना चाहेगे : "दिल्ली मे एक बार मुनिश्री के दर्शनों के लिए जापान के छात्रों का एक दल आया। छात्रो में से एक ने कहा—"हमारे यहाँ तो धर्म-अधर्म का कोई भेद ही नही है।" मुनिश्री ने बड़ी आत्मीयता से कहा—"नहीं हर व्यक्ति धर्म और अधर्म में फर्क करता है; तुम स्वय भी धर्म को अच्छा मानते हो अधर्म को बुरा।" छात्र ने प्रत्युत्तर मैं कहा—"जब मैं बराबर यह कह रहा हूँ कि मेरा धर्म मे कोई विश्वास नहीं है फिर आप यह कैसे कहते है ?" मुनिश्री ने पूछा—"यदि कोई तुम्हारे सिर पर लाठी मारे तो तुम्हें कैसा लगेगा ?" छात्र ने तुरन्त जवाब दिया—"बहुत बुरा।" "और यदि फिर कोई तुम्हारी मरहम-पट्टी के लिए अस्पताल ले जाए तो ?" छात्र ने सहज ही उत्तर दिया—"वह तो अच्छा लगेगा ही।" मुनिश्री ने, सूत्र पकड़कर स्पष्ट किया कि "पहला कृत्य अधर्म है दूसरा धर्म।" जापानी छात्र-दल धर्म की इस स्वाभाविक परिभाषा को पाथेय के रूप मे लेकर लौट गया। इस तरह मुनिश्री का एक रूप जीवन के सदर्भों और मूल्यों को नयी व्याख्या देने का भी है। वे वर्तमान के प्रति सतर्क भविष्य के प्रति आशावान और अतीत के प्रति आस्थावान है।

इसलिए उनके इस जन्म दिन पर उन जैसे परम योगेश्वर को, जो युद्ध-संतप्त विश्व की आँखों में अनेकान्त का अजन आँज रहा है, मेरे कोटि-कोटि प्रणाम !!

चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज का सौवां जन्म दिन समारोहपूर्वक मनाइये

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव के मंगलाचरण की इस पुण्य वेला में चारित्र चक्रवर्ती महामुनि आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज की जन्म शताब्दी का उपस्थित होना एक भाग्यशाली संयोग है। सर्व विदित है कि आचार्य श्री दिगम्बर श्रमण-परम्परा के विशाल कल्पतरु थे, जिन्होंने आधुनिक जीवन की विषमताओं, असंगतियों और अन्तर्विरोधों से दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा का अभिरक्षण किया था और युगानुरूप शिष्य-परम्परा का प्रवर्तन किया था। यही कारण है कि उनकी तेजस्विनी शिष्य-परम्परा आज जैनधर्म की सूत्रधार बनी हुई है। ऐसे नित्य प्रणम्य आचार्य श्रेष्ठ की जन्म शताब्दी आषाढ़ कृष्णा ६ वी० नि० सं० २४९९ से आषाढ़ कृष्णा ५ वी० नि० स० २५०० के मध्य सम्पन्न होगी। इसे पूरे पुरुषार्थ और प्रभाव के साथ मनाने की आवश्यकता है ताकि वर्तमान पीढ़ी में मुनि-परम्परा के प्रति एक नयी आस्था प्रवर्तित हो और जैन-समाज को संस्कार की एक नयी दिशा मिल सके।

आचार्य श्री न केवल एक साधनावान महामुनि थे वरन् जैन तत्त्व-संस्था थे। उन्होंने सम्पूर्ण देश की मंगल-यात्रा की थी। हम भाग्यशाली हैं कि आचार्य श्री द्वारा

प्रवर्तित शिष्य-परम्परा कई उपसर्गों और विपदाओं के मध्य भी साधु-परम्परा को अबाध-अक्षुण्ण बनाये हुए है।

अतः इस महान् परमपूज्य व्यक्तित्व को श्रद्धांजलि अर्पित करने के निमित्त निम्नांकित कार्यक्रम मनाने का निवेदन है :—

१. जहां-जहां आचार्य श्री ने मंगल विहार किया है, या वर्षावास सम्पन्न किया है, वहाँ उनकी पावन-पुनीत स्मृति में 'शान्ति-स्तम्भ' निर्मित किये जाएं। स्तम्भ की शिल्पाकृति (ब्ल्यू प्रिंट) अगले पखवाड़े अलग से भेजी जाएगी।

२. आषाढ़ कृष्ण ६, २२ जून, १६७३, गुरुवार आचार्य श्री का १००वां जन्म दिन होने के साथ ही तीर्थङ्कर वासुपूज्य को गर्भकल्याणक तथा तीर्थङ्कर बिमलनाथ की मोक्ष तिथि भी है अतः इस दिन एक विशाल प्रभातफेरी निकाली जाए, जो एक प्रार्थना-सभा का रूप ग्रहण कर 'शान्ति-स्तम्भ' स्थल पर विसर्जित हो।

३. इस दिन सायंकाल 'शान्ति-सभाएं' की जाएं जिनमें आचार्य श्री के व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में अधिकारी विद्वानों के व्याख्यान रखे जाएं।

इन कार्यक्रमों को सारे देश में व्यापक रूप में उत्साह पूर्वक सम्पन्न किया जाए और तत्सम्बन्धी समाचारों को देश के सभी पत्रों में प्रचारित किया जाए। अपने-अपने क्षेत्रों के आकाशवाणी केन्द्रों को भी समारोह सम्पन्न होने के संक्षिप्त संवाद भेजे जाएं।

ऊपरसुझाये गए कार्यक्रमों के अतिरिक्त श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर के तत्वावधान में निम्नांकित विशेष आयोजन रखे गए हैं :—

१. श्री वीर निर्वाण विचार सेवा, वर्ष २, अंक ३ के अन्तर्गत आचार्य श्री के व्यक्तित्व, योग और आचार्यत्व पर लेख वितरित किये जाएँगे, जिन्हें देश की पत्रपत्रिकाएं प्रकाशित करेंगी। (जो भी व्यक्ति आचार्य श्री से सम्बन्धित सामग्री भेजना चाहें, अवश्य किन्तु अविलम्ब भेजें)।

२. आचार्य श्री के जीवन-प्रसगों तथा चित्रों पर आधारित एक विशाल प्रदर्शनी का आयोजन होगा। प्रदर्शनी के तीन अनुभाव होंगे :—

(क) आचार्य शान्तिसागर जी के चित्र (विविध स्थानों से, विविध मुद्राओं में)।

(जो भी संस्थाए, व्यक्ति, पत्र-पत्रिकाएं आचार्य श्री के चित्र, उनकी कृतियाँ, विशेषांक समिति को प्रेषित करेंगी—समिति उनका आभार मानेगी और उन्हें आवश्यक डाक व्यय देगी)।

(ख) वर्तमान में जो मुनिगण है उनके चित्रों की प्रदर्शनी (कृपया चित्रों के साथ मुनियों की जन्म तिथि, दीक्षा तिथि तथा जन्म-स्थान अवश्य भेजें)।

(ग) आचार्य श्री की कृतियों तथा हस्तलेखों की फोटोस्टेट प्रतियों का प्रदर्शन।

उक्त सदर्भ मे समस्त महानुभावों से विनम्र निवेदन है कि वे हमारे इस वृहत् आयोजन मे हमारी सहायता करे और आचार्य श्री से सम्बन्धित सामग्री, बाबूलाल पाटोदी, मन्त्री, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, ४८, सीतलामाता बाजार, इन्दौर ४५२ ००२ के पते पर २० मई, १६७३ तक अवश्य भेजने की कृपा करें। प्रदर्शनीय सामग्री के साथ संकलनकर्ता, फोटोग्राफर तथा प्रेषक के स्पष्ट नाम-पते दिये जाएं ताकि उसका यथोचित अंकन प्रदर्शन किया जा सके। सामग्री सुरक्षित लौटायी जा सकेगी।

हमें विश्वास है, उपर्युक्त आयोजन को सफल बनाने में हमें समाज के लेखकों, पत्रकारों तथा आयोजकों का व्यापक हार्दिक सहयोग प्राप्त होगा, तथा सम्पूर्ण राष्ट्र में आचार्य श्री की जन्म शताब्दी अभिनव उमग, उल्लास और उत्साह के साथ मनायी जायेगी।

चंदेरी-सिरोंज (परवार) पट्ट

पं० फूलचन्द शास्त्री, वाराणसी

मूलसंघ नन्दि आम्नाय की परम्परा में भट्टारक पद्मनन्दी का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उनके पट्टधर भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का उससे कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। इनका अधिकतर समय गुजरात की अपेक्षा बुन्देलखंड में और उससे लगे हुए मध्य प्रदेश मे व्यतीत हुआ है। चन्देरी पट्ट की स्थापना का क्षेत्र इन्हीं को प्राप्त है। श्री मूलचन्द किशनदास जी कापड़िया द्वारा प्रकाशित 'सूरत और सूरत जिला दि० जैन मन्दिर लेख सग्रह' सक्षिप्त नाम 'मूर्ति लेख सग्रह' के पृष्ठ ३५ के एक उल्लेख मे कहा गया है कि 'गंधार की गद्दी टूट जाने से स० १४६१ में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने इस गद्दी को रांदेर मे स्थापित किया। जिसे स० १५१८ में भट्टारक विद्यानदी जी ने सूरत मे स्थापित किया।' किन्तु अभी तक जितने मूर्ति लेख उपलब्ध हुए है उनसे इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती कि श्री देवेन्द्रकीर्ति १४६१ में या इसके पूर्व भट्टारक बन चुके थे। साथ ही उक्त पुस्तक में जितने भी मूर्ति लेख प्रकाशित हुए है उनमे केवल इनसे सम्बन्ध रखने वाला कोई स्वतन्त्र मूर्ति लेख भी उपलब्ध नही होता। इसके विपरीत उत्तर भारत मे ऐसे लेख अवश्य पाये जाते है जिनसे यह ज्ञात होता है कि इनका लगभग पूरा समय उत्तर भारत मे ही व्यतीत हुआ था। यहाँ हम ऐसी एक प्रशस्ति आगरा के एक जैन मन्दिर में स्थित पुण्यास्रव (संस्कृत) हस्त लिखित ग्रन्थ से उद्धृत कर रहे हैं। इसमें इन्हें भ० पद्मनन्दि का शिष्य स्वीकार किया गया है। प्रशस्ति इस प्रकार है—

सं० १४७३ वर्षे कार्तिक सुदी ५ गुरदिने श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे नन्दिसघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दी देवास्तच्छिष्य मुनिश्री देवेन्द्रकीर्तिदेवाः। तेन निजज्ञानावर्णीकर्मक्षयार्थं लिखापितं शुभं।

इस लेख में इन्हें मुनि कहा गया है। इसके अनुसार यह माना जा सकता है कि इस समय तक ये पट्टधर नहीं हुए होंगे। किन्तु मुनि भी भट्टारको के शिष्य होते रहे हैं। इतना ही नहीं, मुनि दीक्षा भी इन्ही के तत्त्वावधान में दी जाने की प्रथा चल पड़ी थी। मेरा ख्याल है कि वर्तमान में जिस विधि से मुनि दीक्षा देने की परिपाटी प्रचलित है वह भट्टारक बनने के पूर्व भी मुनि दीक्षा का ही रूपान्तर है। इसी से उसमे विशेष रूप से सामाजिकता का समावेश दृष्टिगोचर होता है।

जो कुछ भी हो, उक्त प्रशस्ति से इतना निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि सम्भवतः उस समय तक इन्होंने किसी भट्टारक गद्दी को नहीं सम्हाला होगा। किन्तु 'भट्टारक सम्प्रदाय पृ० १६९ के देवगढ़ (ललितपुर) से प्राप्त एक प्रतिमा लेख से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि वे वि० सं० १४९३ के पूर्व भट्टारक पद को अलकृत कर चुके थे।

देवगढ बुन्देलखंड में है और चन्देरी के सन्निकट है। साथ ही इनके प्रमुख शिष्य **विद्यानन्दी परवार** थे। इससे ऐसा लगता है कि वि० सं० १४९३ के पूर्व ही चन्देरीपट्ट स्थापित किया जा चुका होगा। फिर भी उनकी गुजरात में भी पूरी प्रतिष्ठा बनी हुई थी और उनका गुजरात से सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं हुआ था, सूरत पट्ट का प्रारम्भ होना और उस पर उनके शिष्य विद्यानन्दी का अधिष्ठित होना तभी सम्भव हो सका होगा।

भट्टारक सम्प्रदाय पुस्तक में चन्देरी पट्ट को जेरहट पट्ट कहा गया है। वह ठीक नही है। हो सकता है कि वह भट्टारकों के ठहरने का मुख्य नगर रहा हो। पर वहाँ कभी भट्टारक गद्दी स्थापित नहीं हुई इतना सुनिश्चित प्रतीत नहीं होता।

विद्यानन्दी कब सूरत पट्ट पर अधिष्ठित हुए इसका कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ। 'भट्टारक

सम्प्रदाय' पुस्तक में वि० सं० १४६६ से लेकर अधिकतर लेखों में से किसी मे इनको देवेन्द्रकीर्ति का शिष्य, किसी में दीक्षिताचार्य, किसी में आचार्य तथा किसी मे गुरु कहा गया है। परन्तु भावनगर के समीप स्थित घोघा नगर के सं० १५११ के एक प्रतिमा लेख में इन्हे भट्टारक अवश्य कहा गया हैं। यह प्रथम लेख है जिसमे सर्वप्रथम ये भट्टारक कहे गये है। इससे ऐसा लगता है कि सूरत पट्ट की स्थापना इसके पूर्व हो गई होगी।

यदि हमारा यह अनुमान सही हो तो ऐसा स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि चन्देरी पट्ट की स्थापना के बाद ही सूरत पट्ट की स्थापना हुई होगी। ऐसा होते हुए भी बुन्देलखड और उसके आस-पास का बहु भाग चंदेरी मंडल कहा जाता था यह उल्लेख वि० सं० १५३२ के पूर्व के किसी प्रतिमा लेख मे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसमें चंदेरी मंडलाचार्य देवेन्द्रकीर्ति को स्वीकार किया गया है। यह प्रतिमा लेख हमें विदिशा के बड़े मन्दिर से उपलब्ध हुआ है। पूरा लेख इस प्रकार है—

सवत् १५३२ वर्षे वैशाख सुदि १४ गुरौ श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे नंदिसंघे कुंदकुदाचार्यान्वये भ० श्री प्रभाचन्द्रदेव त० श्री पद्मनन्दिदेव त० शुभचद्रदेव भ० श्री जिनचन्द्रदेव भ० श्री सिहकीर्तिदेव चंदेरी मडलाचार्य श्री देव्यद्रकीर्तिदेव त० श्री त्रिभुवनकीर्तिदेव पौरपट्टान्वे अष्टन्वये सारवन पु० समवेतस्य पुत्र रउत पाये त० पुत्र सा० अर्जुन त० पुत्र सा० नेता पुत्र सा० घीरजु भा० विरजा पु० सर्घ सघ तु भा०······संघे······संगं।

ठीक इसी प्रकार का एक लेख कारंजा के एक मन्दिर में भी उपलब्ध हुआ है। इसके पूर्व जिनमें चदेरी मंडल का उल्लेख है ऐसे दो लेख वि० स० १५३१ के गंज वासौदा और गुना मन्दिरों के तथा दो लेख वि० सं० १५४२ के भी उपलब्ध हुए हैं। किन्तु वि० सं० १५३१ को चंदेरी मंडल की स्थापना की पूर्वावधि नहीं समझनी चाहिए। कारण कि ललितपुर के बड़े मन्दिर से प्राप्त वि० सं० १५२५ के एक प्रतिमा लेख मे त्रिभुवनकीर्ति को मंडलाचार्य कहा गया है। इसमें भ० देवेन्द्रकीर्ति का नामोल्लेख नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वि० स० १५२५ के पूर्व ही त्रिभुवनकीर्ति चंदेरी पट्ट पर अभिषिक्त हो गये थे। साथ ही यहाँ भ० जिनचन्द्र और भ० सिहकीर्ति की भी आम्नाय चालू थी यह भी इससे पता लगता है। पूरा लेख इस प्रकार है—

संवत् १५२५ वर्षे माघ सुदि १० सोमदिने श्री मूलसंघे भट्टारक श्री जिनचन्द्रदेवस्तत्पट्टे भट्टारक श्री सिहकीर्तिदेव मडलाचार्य त्रिभुवनकीर्तिदेवा गोलापूर्वान्वये सा० श्री तम तस्य भार्या सघ इति।

इसके पूर्व बड़ा मन्दिर चदेरी मे भ० त्रिभुवनकीर्ति द्वाराप्रतिष्ठित वि० सं० १५२२ की एक चौवीसी पट्ट और है। इससे पूर्व के किसी प्रतिमालेख मे इनके नाम का उल्लेख नहीं हुआ है। इससे मालूम पड़ता है कि वि० सं० १५२२ के आस-पास के काल में ये पट्टासीन हुए होंगे। यतः भ० देवेन्द्रकीर्ति भी चंदेरी मंडल के मंडलाचार्य रहे है, अतः सर्वप्रथम वे ही चंदेरी पट्ट पर आसीन हुए होंगे यह स्पष्ट हो जाता है। वि० स० १५२२ का उक्त प्रतिमा लेख इस प्रकार है—

स० १५२२ वर्षे फाल्गुन सुदि ७ श्री मूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति त्रिभुवण · ति···············।

भानुपुरा के बड़े मन्दिर के शास्त्र भंडार में शान्तिनाथ पुराण की एक हस्तलिखित प्रति पाई जाती है। उसके अन्त में जो प्रशस्ति अंकित है उसमें देवेन्द्रकीर्ति आदि की भट्टारक परम्परा को मालवाधीश कहा गया है। यह भी एक ऐसा प्रमाण है जिससे स्पष्टतः इस तथ्य का समर्थन होता है कि चंदेरी पट्ट के प्रथम भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ही रहे होगे। इससे मालूम पड़ता है कि चंदेरी पट्ट को मालवा पट्ट भी कहा जाता था। उक्त प्रशस्ति इस प्रकार है—

अथ सवत्सरे ऽस्मिन् नृपतिविक्रमादित्यराज्ये प्रवर्तमाने सं० १६६३ वर्षे चैत्र द्वितीय पक्षे शुक्ले पक्षे द्वितीया दिने रविवासरे············सिरोंजनगरे चन्द्रप्रभ चैत्यालये श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुंदकुंदाचार्यान्वये तत्परंपरायेन मालवादेशाधीश भट्टारक श्री श्री श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री त्रिभुवनकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्री सहस्रकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्री पद्मनन्दिदेवा तत्पट्टे भ० श्री जसकीर्ति नामधेया तत्पट्टे

भ० श्री श्री ललितकीर्तिदेवाः तत्शिष्य ब्रह्म बालचन्द्रमिदं ग्रन्थ लिष्यत स्वपठनार्थं ।

सिरोंज के टोंगीका दि० जैन मन्दिर में वि० स० १६८८ का एक प्रतिमा लेख है। उसमें चंदेरी पट्ट के सहस्रकीर्ति के स्थान में रत्नकीर्ति और पद्मनन्दी के स्थान में पद्मकीर्ति यह नाम उपलब्ध होता है। भ० ललितकीर्ति के शिष्य भ० रत्नकीर्ति ने प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी। उक्त प्रतिमालेख इस प्रकार है—

सं० १६८८ वर्षे फाल्गुन सुदि ५ बुधे श्री मूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुंदाचार्यान्वये भ० श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री त्रिभुवनकीर्तिदेवा तत्पट्टे श्री रत्नकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री पद्मकीर्ति देवा तत्पट्टे भ० यशकीर्तिदेवा तत्पट्टे भ० श्री ललितकीर्ति रत्नकीर्ति-देवा तस्यो·········मालवादेशे सरोजनगरे। गोलाराड-चैत्यालये गोलापूर्वान्वये ·····तस्यप्रतिष्ठाया प्रतिष्टितं ।

यहाँ के दो प्रतिमालेखों में भ० रत्नकीर्ति को मंडलेश्वर और मंडलाचार्य भी कहा गया है। लेख इस प्रकार है—

स० १६७२ फाल्गुन सु० ३ मूलसघे भ० श्री ललितकीर्ति तत्पट्टे मडलाचार्य श्री रत्नकीर्त्युपदेशात् गोलापूर्वान्वये स० सनेजा·············।

ये कहाँ के मडलाचार्य थे यह नहीं ज्ञात होता है। ये भी भ. ललितकीर्ति के पट्टधर थे यह 'भट्टारक सम्प्रदाय' पुस्तक से भी ज्ञात होता है। इनके पट्टधर चन्द्रकीर्ति थे इसके सूचक दो प्रतिमालेख यहाँ भी पाये जाते हैं।

चंदेरी पट्ट के भट्टारकों की सूची इस प्रकार है— १. देवेन्द्रकीर्ति, २. त्रिभुवनकीर्ति, ३. सहस्रकीर्ति, ४. पद्मनन्दी, ५. यशःकीर्ति, ६. ललितकीर्ति, ७. धर्मकीर्ति, ८. पद्मकीर्ति, ९ सकलकीर्ति और सुरेन्द्रकीर्ति। जान पडता है कि सुरेन्द्रकीर्ति चदेरी पट्ट के अन्तिम भ० थे। इसके बाद यह पट्ट समाप्त हो गया।

भट्टारक पद्मकीर्ति का स्वर्गवास वि० स० १७१७ मार्गशीर्ष सुदि १४ बुधवार को हुआ था ऐसा चंदेरी खंदार मे स्थित उनके स्मारक से ज्ञात होता है। सम्भवतः इसके बाद ही इनके पट्ट पर भ० सकलकीर्ति आसीन हुए होंगे। 'भट्टारक सम्प्रदाय' पु० पृ० २०५ मे वि० स० १७१२ और वि० सं० १७१३ के लेखों में इनके नाम के जो दो लेख संगृहीत किये गये है वे दूसरे सकलकीर्ति होने चाहिए। मैने चदेरी और सिरोंज दोनो नगरो के भी दि० जिनमन्दिरों के प्रतिमालेखो का अवलोकन किया है। पर भ० सुरेन्द्रकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठापित कोई मूर्ति या यंत्र मेरे देखने मे ही नहीं आया। हो सकता है इनके काल में कोई पंचकल्याणक प्रतिष्ठा न हुई हो।

उक्त दोनों नगरों के मूर्तिलेखों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि भ० धर्मकीर्ति के दूसरे शिष्य भ० जगत्कीर्ति थे। सम्भवतः सिरोंज पट्ट की स्थापना इन्ही के निमित्त हुई होगी। इनका दूसरा नाम यशकीर्ति भी जान पडता है। इनके पट्टधर त्रिभुवनकीर्ति और उनके शिष्य भ० नरेन्द्रकीर्ति थे। नरेन्द्रकीर्ति के पट्टाभिषेक का विवरण सिरोंज के एक गुटिका मे पाया जाता है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

मुनिराज की दिक्ष्याको परभाव। श्रावक सब मिलि आनिके जैसो कियो चाउ ॥६॥ धनि नरेन्द्रकीर्ति मुनिराई। भई जग में बहुत बढ़ाई ॥ जहाँ पौरपट्ट सुखदाई। परवार वंस सोई आई ॥ बहुरिया मूर तहाँ साई। धनि मथुरामल्ल पिलाई ॥ माता नाम रजौती कहाई। जाके है घनश्याम से भाई ॥ तप तेज महामुनि राई: कापै महिमा वरनी जाई ॥ ·······················॥ कहा कहों मुनिराज के गुणगण सकल समाज। जो महिमा भविजन करैं भट्टारक पदराज ॥ भट्टारक पदराज की कीरति सकल भवि आई। अलप बुद्धि कवि कहा कहै बुधिजन थकित रहाई ॥ विधि अनेक सो सहर सिरोंज में भयो पट्ट अपना चारु। सिंघई माधवदास भवन ते निकसे महा महोच्छव सारु ॥

यहाँ से वस्त्राभूषण से सुसज्जित कर चाँदा सिंघई के देवालय में ले गये। वहाँ सब वस्त्राभूषण उतार कर केशलोंच कर मुनिदीक्षा ली। उस समय १०८ कलश से अभिषेक किया। सर्वप्रथम भेलसा के पूरनमल्ल बड़कुर आदि ने किया।···············

जगत्कीर्ति पद उधरन त्रिभुवनकीर्ति मुनिराई।
नरेन्द्रकीर्ति तिस पट्ट भये गुलाल ब्रह्म गुन गाई ॥
शुभकीर्ति, जयकीर्ति, मुनि। उदयसागर, ब्र० परसराम, ब्र० भयासागर, रूपसागर, राम श्री आर्यिका, र

षिमौनी, चन्द्रामती, पं० रामदास, पं० जगमनि, पं० घनश्याम, पं० बिरधी, पं० मानसिंह, पं० जयराम–परगसेनि भाई दोनों, प० मकरंद, पं० कपूरे, पं० कल्याणमणि।

संवत सत्रह सै चालिस अन इक तहँ भयो।
उज्वल फागुन मास दसमि सो मह गयो॥
पुनरवसू नक्षत्र सुद्ध दिन सोदयो।
पुनि नरेन्द्रकीरति मुनिराई सुभग संजम लह्यो।

वि० सं० १७४६ माघ सुदि ६ सोमवार को चांदखेड़ी में हाड़ा माधोसिंह के अमात्य श्री कृष्णदास बघेरवाल ने आमेर के भट्टारक श्री जगत्कीर्ति के तत्वावधान में बृहत्पंच कल्याणक प्रतिष्ठा कराई थी। उसमें चंदेरी पट्ट के भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्ति भी सम्मिलित हुए थे। इस सम्बन्ध की प्रशस्ति चांदखेड़ी के श्री जिनालय में प्रवेश द्वार के बाहर वरामदे के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। उसमे चंदेरी, सिरोंज और विदिशा (भेलसा) पट्ट को परवारपट्ट कहा गया है। उसका मुख्य अंश इस प्रकार है—

॥१॥ संवत् १७४६ वर्षे माह सुदि ६ षष्ठयां चन्द्रवासरान्वितायां श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये सकलभूमंडलवलयैकभूषण सरोजपुरे तथा चेदिपुर-भद्दिलपुर······वतंस परिवारपट्टान्वये भट्टारक श्री धर्म्मकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्री पद्मकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्री सकलकीर्तिस्तत्पट्टे ततो भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्ति तदुपदेशात्·················।

मालूम पड़ता है कि चंदेरी और सिरोंज भट्टारक-पट्टों की स्थापना परवार समाज के द्वारा ही की जाती थी, इस लिए इन पट्टों को परवार पट्ट कहा गया है। इस नामकरण से ऐसा भी मालूम पड़ता है कि इन दोनों पट्टों पर परवार समाज के व्यक्ति को ही भट्टारक बना कर अधिष्ठित किया जाता था। सिरोंज के जिस पट्टाभिषेक का विवरण हमने प्रस्तुत किया है उससे भी इसी लक्ष्य की पुष्टि होती है। विदिशा मे कोई स्वतन्त्र भट्टारकगद्दी नही थी। किन्तु वहाँ जाकर भट्टारक महीनों निवास करते थे और वह मुख्यरूप से परवार समाज का ही निवास स्थान रहा चला आ रहा है, इसलिए उक्त प्रशस्ति में भद्दलपुर (विदिशा) का भी समावेश किया गया है।

चंदेरी पट्ट की अपेक्षा उत्तर काल में सिरोंज पट्ट काफी दिनों तक चलता रहा। इसकी पुष्टि त्रिगुना के दि० जैन मन्दिर से प्राप्त इस यंत्र लेख से भी होती है। यंत्र लेख इस प्रकार है—

सं० १८७१ मासोत्तममासे माघमासे शुक्लपक्षे तिथौ ११ चन्द्रवासरे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये सिरोंजपट्टे भट्टार्क श्री राजकीर्ति आचार्य देवेन्द्रकीर्ति उपदेशात् ग्याति परिवारि राउल ईडरीमूरी चौधरी घासीरामेन इद यंत्रं करापितं।

सिरोंजपट्ट के ये अन्तिम भट्टारक जान पड़ते है। ★

श्रीमती शान्ता भानावत को पी. एच. डी. की उपाधि

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने श्रीमती शान्ता भानावत को उनके शोध प्रबन्ध 'ढोला-मारू रा दूहा का अर्थ वैज्ञानिक अध्ययन' पर इस वर्ष पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की है। 'ढोला-मारू रा दूहा' राजस्थान के मध्य युगीन लोक जीवन का प्रतिनिधि काव्य है। इसे जैन कवि कुशललाभ ने चौपाई बद्ध भी किया। श्रीमती भानावत ने अपने शोध प्रबन्ध में 'ढोला मारू रा दूहा' में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ परिवर्तन के कारणों और अर्थ परिवर्तन की दिशाओं का ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक और भाषावैज्ञानिक परिपार्श्व में विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ से राजस्थानी के कई विशिष्ठ शब्दों की विकास यात्रा का अच्छा परिचय मिलता है। श्रीमती भानावत राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक एवं जैन संस्कृति की प्रतिनिधि मासिक पत्रिका 'जिनवाणी' के सम्पादक डा० नरेन्द्र भानावत की धर्मपत्नी हैं।

भवदीय :
संजीव भानावत
सी–२३५ ए, तिलकनगर, जयपुर-४

भगवान महावीर का समाज-दर्शन

डा० कुलभूषण लोखंडे

आज लोग सत्य चाहते हैं, सत्य की उपासना करते है, सत्य को अर्घ्य अरपते हैं, किन्तु क्या इस कर्म शून्य आचरण से वह उपलब्ध हो सकेगा।

भगवान् महावीर के धर्म-प्रवर्तन का मूल उद्देश्य दो प्रकार दिखायी देता है: (१) व्यक्ति और समाज की निर्दोष प्रस्थापना; (२) मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का अधिष्ठान। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति और समाज का गठन करते हुए उन्होंने व्यवहार-दृष्टि के साथ-साथ निश्चय-दृष्टि की स्थापना भी की। सारे जैनाचार का अर्थ ही जीवन को स्वच्छ और सबल बनाना है। जब हम समाज के संबंध में सोचते हैं, तब हमें लगता है कि व्यक्ति की प्रवृत्ति सदाचार और नीतिपूर्ण हो। भगवान् महावीर ने अपने काल मे व्यक्ति और समाज के धर्म की ऐसी संहिता बनायी, कि जिससे मनुष्य उत्तरोत्तर अधिक ईमानदार, सहिष्णु और कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन व्यतीत कर सके। इसलिए उन्होने ऐसी विचारधारा प्रसृत की जिससे प्रत्येक व्यक्ति भोग और स्वार्थ के दृष्टिकोण से ऊपर उठे, फिर वह चाहे व्यापारिक, राजनैतिक, समाज का कोई प्रबुद्ध विद्वान् ही क्यों न हो? इस तरह उन्होने प्रवर्तित किया कि धर्म के शुद्धाचरण के बिना किसी तरह की उन्नति सम्भव नहीं है।

भगवान् महावीर का युग कर्मकांड, मिथ्या आडम्बर तथा पापाचार से भरपूर था। तब समाज का दृष्टिकोण सही नहीं था। कहा जाता है शास्त्रों का ज्ञाता यदि विवेकहीन हो, और व्यक्ति का आचरण यदि विषय परायण हो तो समाज को कालिख लगती है। समृद्ध समाज को कालिख लगती है। समृद्ध समाज नीति-परायण होता है, इसलिए भगवान् महावीर ने समाज के उत्थान के लिए अणुव्रत की संहिता प्रस्थापित की; जिसमे क्षमा, सत्य, शौच, करुणा, मैत्री इत्यादि गुणों के विकास से व्यक्ति और समाज की उन्नति सम्भव हो।

भगवान् महावीर के सामाजिक सिद्धान्तों के आलोडन से यह ज्ञात होगा कि मानव को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की आवश्यकता है। जिस समाज मे क्षमा, मार्दवादि दस धर्मों का पालन किया जाता है, उसमे सुदृढता आती है। व्यक्ति और समाज में सामंजस्य रहे इसलिए भगवान् महावीर ने कहा कि क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से, और लोभ को शुचिता से जीतो। भगवान् महावीर के समाज मे जाति, भाषा और वर्गादि भेद नही थे। वह समाज संप्रदाय की संकीर्णता से मुक्त था। भगवान् महावीर के समाज-दर्शन के मूल आधार इस प्रकार हैं—

अहिंसा

जहाँ क्रोध है वहाँ हिंसा है, और हिंसा है सबसे बड़ा पाप। इसलिए सर्वप्राणिमात्र संबंधि दया और समताभाव को अहिंसा कहा गया है। संसार में धर्म एक होता है, दो नहीं। अहिंसा सत्य का सबसे बड़ा आविष्कार है। सत्य एक होता है; उसमें भेद नहीं होते। हिंसा में भेद हैं, अहिंसा में नहीं। ऐसा कौन-सा सत्य है, जो अहिंसा से संबधित है? वह है प्रेम। जहाँ प्रेम है, वहाँ दया है; जहाँ द्वेष है, वहाँ क्रूरता है। इसलिए अहिंसा ने मनुष्य में जीने के विश्वास को जन्म दिया। कोई सम्प्रदाय यह नहीं मानता कि हिंसा से शांति प्राप्त होती है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, "हिंसा राग द्वेष है, जहाँ राग-द्वेष है वहाँ समता नही, स्थिरता नही"। जीवन को समर्थ बनाने की क्षमता समता में है, क्षमा में है, दया मे है और परोपकार में है।

आज समाज और राष्ट्र का जीवन सर्वत्र अशांत एवं विध्वस्त है। अनावश्यक संघर्ष में मृत्यु है, समन्वय मे

जीवन। हिंसाचार मृत्यु का कारण है, अहिंसाचार जीवन का। मानव-समाज आज युद्धोन्मुख है। यह आत्म-प्रवंचना की स्थिति है। आत्मा की अटूट शक्ति समत्व है, और आज के आदमी को उसमे विश्वास नही है, इसलिए वह दुःखी है। भगवान् महावीर को 'जिन' कहते है; क्योंकि उन्होंने अहिंसा के शत्रु राग और द्वेष, लोभ और असयम को जीता है। अहिंसा एक ऐसी शक्ति हैं जो मानव का विकास करने मे उपकारक है अतः जब तक कोई समाज अपने दुर्गुणों का त्याग नही करता और सद्गुणों की राह नहीं चलता तब तक अशान्ति बनी हुई है। हमे चाहिए कि हम अहिंसा के सिद्धान्त पर दृढ श्रद्धा रखे। श्रद्धा के बिना ज्ञान नही, और ज्ञान के बिना आचरण सार्थक नहीं। इसलिए अहिंसा की मूल भावना क्या है। यह समझना चाहिए। जीने की दो शैलियाँ सम्भव है—एक खुद के लिए, और एक दूसरे के लिए। जीना सभी चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, चीटी हो, या स्वर्ग का देवता हो। जीने के इस सिद्धान्त से अहिंसा का प्रत्यक्ष संबंध हैं। कोई यह समझे कि हम तो जियें और दूसरे की चिंता न रखें; तो वह अहिंसा का परिपालक नही कहला सकेगा। जहाँ निर्बल प्राणियों के प्रति दया का भाव हैं, वहाँ अहिंसा का प्रारम्भ है। अहिंसा के इस सिद्धान्त में कोई दबाव नहीं है। जहाँ अत्याचार होता है, वहाँ हिंसा अवश्य आती है। अहिंसा कानून से नहीं आ सकती, क्योंकि वह आत्मा की शक्ति है। कोई यह समझे कि दबाव से अहिंसा का पालन होगा तो यह सम्भव नहीं। अहिंसा शरीर का गुण नहीं, आत्मा का गुण हैं। वह अन्तःस्थ शक्ति है। 'जियो और जीने दो' अहिंसा का स्वर्णिम सूत्र है। इसलिए कहा गया है कि जीव-दया सब में श्रेष्ठ है, वह रत्नचिंतामणि की तरह फल देने वाली है। आज के विज्ञान-युग में अहिंसा की प्ररूपणा इसलिए आवश्यक है, क्योंकि इस युग ने शाश्वत जीवन-मूल्यों को कुचल दिया है। सत्य उसे नहीं दिखायी दे रहा है। सत्य तो श्रद्धावान की शक्ति है; वह दुर्बल का पुरुषार्थ नही है। इसलिए महात्मा गांधी ने उसे एक प्रबल शस्त्र समझा। स्पष्ट है, सुखी समाज के लिए अहिंसानिष्ठ जीवन-प्रणाली ही उपादेय होती है।

सत्य

सत्य जीवन का मूलभूत तत्त्व है। भगवान् महावीर ने सत्य को केवल भाषण का ही विषय नही बताया, उन्होंने कहा—'जहाँ विषमता है वहाँ सत्य नही पलता'। जहाँ दारिद्र्य है वहाँ सत्य नही टिकता। सत्य जीवन है, और जीवन सत्य है। जिस में सत्य नहीं फिर वह चाहे व्यक्ति हो या समाज, व्यर्थ है। जहाँ सत्य की मृत्यु होती है, वहाँ वह एक बोझ बन जाता है। जहाँ वर्णभेद है, जहाँ जाति भेद है, जहाँ ऊँच-नीच है, वहाँ सत्य को स्थान कैसे मिले ? पन्थ और सम्प्रदायों ने सत्य को डुबो दिया। पन्थ का विचार सत्य नहीं, क्योंकि वह रूढ़िवादिता और दुराग्रह की परिणति है। जहाँ अंधश्रद्धा है वहाँ धर्म नहीं टिकता। धर्म का दूसरा नाम सत्य है। भगवान् महावीर की दृष्टि मे सत्य की प्ररूपणा मन, वचन, क्रिया द्वारा की जाती है। केवल सत्य भाषण सत्य नही है, केवल सत्य क्रिया सत्य नही है, केवल सत्य चिंतवन ही सत्य नही है। जहाँ आग्रह है, वहाँ एकान्त है। एक अंग, यानी अंगी नहीं; एक अश यानी अंशी नही। यदि कोई अश को ही सत्य मान ले तो वह मिथ्या या असत्य होगा। सत्य तो सर्वांगीण होता है। वह अनेकान्तात्मक होता है। किसी हाथी का वर्णन करने में हाथी की पीठ को हाथी कहें, या सूंड को हाथी कहें तो हाथी नहीं जाना जा सकता। वह तो सत्य का एक अश मात्र है।

सत्य केवल आगमों मे नही है। किसी ने कहा है, "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां"। यह ठीक ही कहा है। धर्म या सत्य केवल गुफा में चला गया है। सत्य को मन्दिरों मे रखने से वह साकार होता नहीं। मूर्ति सत्य नहीं, मूर्तिमान् सत्य है—आत्मा। सत्य की भी आत्मा होती है। उसका भी आस्वाद होता है। आज लोग सत्य चाहते हैं, सत्य की उपासना करते हैं, सत्य को अर्घ्य देते हैं; किन्तु क्या सत्य इस तरह मिलेगा ? नही। सत्य तो सुन्दरता मे है। मन्दिर में मूर्ति रखी जाती है, उसका शान्त और वैराग्य भाव सत्य है। पत्थर सत्य नहीं हैं, पत्थर तो जगह-जगह विभिन्न आकार-प्रकार में हैं, किंतु उनमें सत्य नही है। सत्य तो समन्वित है, वह बिखरा हुआ नहीं है।

भगवान् महावीर ने सत्य को अन्तर्गत कहा है। आचार, विचार और उच्चारण में सत्य हो। जो सत्य बोले उसके आचरण में भी सत्य चाहिए। उसके विचार में भी सत्य का होना आवश्यक है। सत्य में सरलता दिखायी देती है, वक्रता नहीं। जहां मायाचारी हो, वहां सत्य नही हो सकता। जिसका वचन एक हो, कृति अलग हो वह मनुष्य, जीवन में सफल नही हो सकता। संसार में 'वचन' की बडी कीमत है। राष्ट्र भी वचन के सामने झुकते है, तो मनुष्य की क्या कथा ? भगवान् महावीर ने सत्य को ऐसा शस्त्र बताया है जिससे कितना भी विरोधी व्यक्ति क्यो न हो, अहिंसक पद्धति से उसका मुकाबला सभव होता है।

अचौर्य

भगवान् महावीर ने चोरी का त्याग बताया है। चोरी एक सामाजिक अपराध है। जहां मूलभूत आवश्यताओं की पूर्ति नहीं है, वहाँ ईमानदारी नही रहती। नैतिकता का वह कलंक है। वस्तुत: चोरी समाज की अव्यवस्था का प्रतीक है। जहां भौतिक साधनो की कमी नही वहाँ चोरी की कोई आशका नही। आजकल समाज मे जितना भ्रष्टाचार दिखायी दे रहा है, जितना शोषण दिखायी दे रहा है, वह सब चौर्य कर्म है। चोरी मोह की परिणति से होती है। केवल धन की चोरी ही चौर्य नहीं है अपितु अपने कर्त्तव्य मे आलस्य भी चोरी है। चोरी में भय होता है, और भय में मृत्यु छुपी हुई है। निर्भयता जीवन है; इसलिए सामाजिक विषमताएं जहां हैं वहां निरन्तर चोरी का भय बना रहता है। इसलिए एक स्वस्थ समाज की रचना के लिए प्रत्येक व्यक्ति को तस्करता, यानी बेईमानी से डरना चाहिए। किसी वस्तु में आसक्ति चौर्य कर्म की जननी है। जहां सुन्दर वस्तु दिखी कि मन का संयम ढिलमिल हुआ और मन पर चोरी का भूत सवार होता है। इसलिए जहां मन की शुचिता है, वहां वस्तु का मोह नहीं है अतः मन का संशोधन आवश्यक बताया गया है। जो मनुष्य निश्चयी है वह कितने भी सकट आये, न्याय मार्ग, से विचलित नहीं होता। न्याय-मार्ग, यानी सदाचार का मार्ग। वहां मनुष्य अपनी कमजोरियो से ऊपर उठता है, अचौर्य व्रत का पालन करता है।

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह मे भी भगवान् महावीर ने इन्द्रिय दमन, सयम और त्याग की भावना का महत्त्व बताया है। भगवान् स्वय बाल ब्रह्मचारी थे। उन्होंने काम शत्रु को जीता था। वे संसार के समक्ष एक आदर्श थे। ब्रह्मचर्य का अर्थ है, आत्मा मे सुस्थिरता। गृहस्थ और मुनि भी ब्रह्मचारी हैं, बशर्ते उनकी आत्मा स्वयं में लीन रहे। विवाह बाधा नही है। इन्द्रियाधीन न होना ब्रह्मचर्य है, समाज में परस्पर भाई-चारा, माता और पिता के सबध, बहिन-भाई के संबंध स्थिर रहें, और समाज का नैतिक अवमूल्यन न हो, इसलिए भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। आत्मकल्याण की योजना उसमें सन्निहित है। नदी का जल स्वच्छ होता है, किन्तु यदि उसके किनारे पक्के नही है तो तट की मिट्टी नदी की धार में मिल जावेगी। इसी प्रकार संयम और निग्रह ये दोनो मनुष्य जीवन-रूपी नदी के किनारे है। इनसे मनुष्य की, और समाज की आत्माएँ स्वच्छ रहती हैं। सयत जीवन मे झूठमूठ को स्थान नहीं, और असंयत जीवन मे सत्य को स्थान नही। समाज का मुख स्वच्छ रखना हो तो उसे अब्रह्म से बचाना चाहिए, ताकि सही-सच्चा-निष्कलक प्रतिबिम्ब दिखायी दे सके। पश्चिम मे भौतिकता की जो होड़ चल रही है और विषय-वासना की जो नदी बह रही है, वहां भगवान् महावीर के सिद्धान्त आज भी बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

अपरिग्रह का यह अर्थ नहीं कि कोई दिगम्बर हो, या घर द्वार छोड़ दे; परिग्रह से जीवन चलता है, अपरिग्रह से नही, फिर भगवान् ने अपरिग्रह की कल्पना क्यों की ? 'अ' का अर्थ 'किंचित्' ऐसा होता है, वह निषेधार्थक नहीं है। जहां सीमित साधनों से काम चल जाता है, वहा अमर्यादा साधनों को जुटाना मूर्खता है। आज का युग संग्रहवादी बन गया है, वह शोषणवादी बन गया है। जहां संग्रह है, वहां शोषण होगा ही, वहां विषमता होगी ही। एक अपरिग्रही है और एक महापरिग्रही है। दोनों ही त्याज्य है। अपरिग्रह से काम नही चलता, और

महापरिग्रह से काम बिगड़ता है। सही बात तो यह है कि परिग्रह के पीछे जो ममकार छिपा हुआ है, अधिक से अधिक जोड़ने की जो भावना छिपी हुई है, वही दुःख-दायक है। अतः ज्यादा परिग्रह, यानी ज्यादा दुःख यह निष्कर्ष अनिवार्य नहीं है, या परिग्रह रहित संयमी हो यह भी कोई जरूरी नहीं है। घर के सामने आने वाले भिखारी के पास एक समय की रोटी भी नही होती है तो क्या इसी लिए वह सबसे बड़ा अपरिग्रही कहा जाएगा और राजे-महाराजे परिग्रही हो जायेंगे। ऐसा नही है। "प्रवचन सार" में कहा गया है कि जहाँ विषय वासना है, वहाँ दुःख है, वही परिग्रह है। इच्छा का अभाव ही सुख है (प्रव. १।७)।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने समाज मे स्वस्थ और शुद्ध परम्परा की स्थापना के लिए पंचशील का सिद्धान्त प्रवर्तित किया। उनका यह प्रवर्तन समाज-धर्म है, व्यक्ति-धर्म है।

परमात्म प्रकाश टीका का कर्ता ब्र. जीवराज नहीं, श्वे. धर्मसी उपाध्याय हैं

लेo अगरचन्द नाहटा

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की सही समझ बहुत कठिन कार्य है बहुत से व्यक्ति तो उन प्रतियों की भाषा लिपि को ठीक से समझ नहीं पाते कुछ प्रशस्तियो के भाव आशय को ठीक न समझने के कारण भूल भ्रान्तियां होती रहती है उनका संशोधन प्रकाशित करना इसलिए आवश्यक होता है कि आजकल के शोध छात्र अनुकरण ही अधिक करते हैं। वास्तविक तथ्य तक पहुँचने की गहराई उनमे नही होती। संशोधन करने वाले का अनुभव भी काफी बढा-चढ़ा होना चाहिए अन्यथा बहुत वार एक गलती के सुधारने में दूसरी अन्य कई गलतियां कर बैठते है।

श्वे० विद्वानों ने दि० साहित्य का समय-समय पर अच्छा अध्ययन किया और उस ग्रन्थ को सरलता से सभी लोग समझ सके इसलिए कई दिगम्बर ग्रंथों पर उन्होंने सस्कृत और हिन्दी में टीकाए बनाई है और उनके आधार से स्वतन्त्र ग्रंथ भी रचे हैं इस सम्बन्ध में पहले मेरा एक लेख प्रकाशित हो चुका है।

कई श्वेताम्बर यतियों और मुनियो ने दि० श्रावकों के अनुरोध से दि० ग्रंथो की टीकाएं एव पद्यानुवाद बनाए है। उनमे जिन लोगों के अनुरोध से रचनाए की गई रचयिता के रूप मे उन्हीं लोगों का नाम दे दिया है पर प्रशस्ति को ठीक से पढ़ने पर मूल रचयिता का नाम भी ठीक से स्पष्ट हो जाता है जैसे महावीर तीर्थ क्षेत्र कमेटी के प्रकाशित प्रशस्ति सग्रह के पृष्ठ २३३ मे पद्मजरी पंचविंशिका का रचयिता जगतराय बतलाया गया है पर अन्तिम छप्पये और सोरठे से मालूम होता है कि जगत-राय ने जैमे कही वैसे इसकी भाषा पाठक पुण्यहर्ष के शिष्य अभयकुशल ने स० १७२२ के फागुण सुदी १० को बना दी। पाठक पुण्यहर्ष और शिष्य अभयकुशल श्वे० खरतरगच्छ के विद्वान थे। इन दोनों की और भी कई रचनाए प्राप्त है। पुण्यहर्ष रचित जिन पालित जिन रक्षित रास सं० १७०९ एक और हरिबल चौ० स० १७१५ सरसा में रचित उपलब्ध है इनके शिष्य अभयकुशल ने अपने गुरु पुण्यहर्ष का गीत ७ पद्यों मे बनाया उन्होंने ऋषभदत्त गुरु चौ० सं० १७३७ महाजन भरतरी हरि शतक बाला बोध सं० १७५५ और विवाह पडल भाषा तथा चमत्कार चिन्तामणि वृति ये ज्योतिष के भी दो ग्रंथ बनाये है अतः पद्मनन्दि पचविंशिका भाषा इन्ही गुरु शिष्यों की रचना होनी चाहिए इस सम्बन्धमे मैं पहले लिख चुका हूँ इसी तरह की एक अन्य रचना भट्टारकीय भण्डार अजमेर में प्राप्त है जिसका विवरण राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची पृष्ठ २०५ मे छपा है। इसमे परमात्मा प्रकाश टीका का कर्ता ब्र० जीवराज लिखा है पर प्रशस्ति को

ध्यान से पढ़ने पर मालूम होता है कि जीवराज ने बहुत आदर के साथ कहा कि परमात्मप्रकाश का वार्तिक (बालबोध टीका) बना लें तो धमर्सी उपाध्याय ने सं० १७६२ में बना दी। यथा :—

पुर लो लाहो में प्रसिद्ध राजसभा को रूप।
जीवराज जिन धर्म में, समझै आत्म रूप ॥३॥
करि आदर बहु तिन कह्यौ, श्री ध्रमसी उवझाव।
परमात्म परकास को, वार्तिक देहु बनाय ॥४॥

पद्यांश ८वें में कीर्तिसुंदर नाम आता है सभवतः वह धर्मसी उपाध्याय के शिष्य के नाम का सूचक हो।

उपाध्याय धर्मसी श्वे० खरतरगच्छ १८वीं शताब्दी के उल्लेखनीय विद्वान थे इनकी लघु रचनाओं का संग्रह हमने धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली के नाम से सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीटयूट बीकानेर से प्रकाशित किया है आपका दीक्षा नाम धर्मवर्द्धन रखा गया था। इनके शिष्य कान्हा जी भी अच्छे कवि और विद्वान थे उनका दीक्षा नाम कीर्ति सुंदर था। इन दोनो विद्वान गुरु शिष्यों का ज्ञात विवरण और रचनाओं की सूची हमारे धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली में द्रष्टव्य है। कीर्तिसुंदर की एक रचना वागविलास कथा संग्रह मे काफी वर्ष पहले वरदा मे प्रकाशित कर चुका हूँ।

परमात्म प्रकाश एक बहुत ही सुन्दर आध्यात्मिक ग्रन्थ है। खरतरगच्छ के १८वी शताब्दी के कवि धर्ममदिर ने परमात्म प्रकाश चौपाई नाम का राजस्थानी में पद्यानुवाद स० १७४२ के कातिक सुदि ५ को बनाया है। आशा है परमात्म प्रकाश के नये सस्करण मे धर्म मन्दिर और धर्मसी दोनो की रचनाओ का भी उपयोग कर लिया जायगा। धर्मसी उपाध्याय के परमात्म प्रकाश वाले बोध टीका की अन्य कोई प्रति किसी दिगम्बर शास्त्र भडार में हो तो इसके सपादन मे सुविधा रहेगी। श्वे० भडारो में इसकी प्रति अभी तक देखने को नही मिली जबकि धर्मसी जी की अन्य सभी रचनाएँ श्वे० भडारो में प्राप्त है।

★

श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ

नयी दिल्ली। रविवार ८ अप्रैल, १९७३ को सायं ६ बजे श्री महावीर जयन्ती के पावन पर्व पर 'श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ' द्वारा आयोजित सांस्कृतिक सन्ध्या एवं 'श्री वृषभदेव सगीत पुरस्कार' समर्पण समारोह का उद्घाटन करते हुए श्री मोहम्मद शफी कुरेशी उप-मन्त्री रेलवे मन्त्रालय भारत सरकार नें कहा कि—

भगवान महावीर का संदेश सूर्य के प्रकाश की तरह समस्त मानव जगत के लिए है, किसी वर्ग विशेष का नहीं, जैन मत की भी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि हजारों वर्ष की जख्मी मानवता के लिए उसने मुहब्बत के रिश्ते जगा दिये, हमी ने उनके पैगाम भारत की सीमाओं के भीतर जकड़ रखे हैं।

श्री कुरेशी ने कहा कि तीर्थंकर महावीर ने वैशालीमें जहां जन्म लिया था, वह भूमि मैंने देखी है, श्रमण संघके नौजवानों को छह वर्ष पूर्व जैन भजनोंके प्रचारके लिए जो प्रेरणा प्राप्त हुई थी उसे वह बड़ो मेहनत से आगे बढ़ा रहे हैं, मुझे पूरी उम्मीद है कि वे इसमें सफल होंगे।

आज के नौजवान पाप म्यूजिक व लम्बे बालों के शौकीन हो गये हैं। आज वे यूरोप के पैगाम हमें सुनाते हैं, हमारे लिए यह पतन का मार्ग है, जिस दिन हम भारतीयों ने अपना सांस्कृतिक मार्ग छोड़ दिया, हमारा पतन हो जायगा।

इस अवसर पर उपमन्त्री श्री मोहम्मद शफ़ी कुरेशी ने 'गीत वीतरागप्रबन्ध' ग्रंथ के लेखक डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये को 'श्री वृषभदेव संगीत पुरस्कार' का २५००) रुपया एवं पदक भेंट किया।

दादू पंथी संत गोविंददास रचित जैनधर्म संबंधी ग्रंथ चौवीस गुण स्थान चर्चा

श्री अगरचन्द नाहटा

राजस्थान गुजरात, और दक्षिण भारत में जैन धर्म का काफी प्रभाव रहा है लोक जीवन पर आज भी उस प्रभाव की छाप दिखाई देती है। दक्षिण भारत के सबंध में तो मेरी पूरी जानकारी नही पर राजस्थान और गुजरात में तो जैनेतर संत सम्प्रदायों पर जैन धर्म का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है उनके आचार-विचार और साहित्य में बहुत सी बातें ऐसी पाई जाती हैं। जो जैन धर्म से संबधित हैं। सन्त सम्प्रदाय मे से भी समन्वयबादी और सद्‌विचार आचार के पोषक रहे है। अतः आस-पास जो जैन मुनियों और श्रावको का आना-जाना व निवास रहा उससे वे स्वभावतया ही प्रभावित हुए। कई जैन कथा प्रसंग उन्हें बहुत रोचक लगे। उनके सम्बन्धमे जैनेतर सन्त सम्प्रदायो के कवियो की रचनाएं भी बनाई है। उनमें से जबूसर प्रसंगको मुनि हजारीमल स्मृति ग्रथमे हमने प्रकाशित किया है जो अन्तिम शान्ति मोक्षगामी जम्बू स्वामी के चरित सम्बन्धी रचना है इसी तरह १८ नाता और बगचूल की कथा जैन समाज मे काफी प्रसिद्ध है। उसे भी सन्त कवियो ने अपना ली है। रामस्नेही सम्प्रदाय के कवि रामदास ने अपनी भक्तमाल मे २४ तीर्थङ्करों आदि का विवरण दिया है अभी राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारो की ग्रंथ सूची भाग पांच से एक विशेष जानकारी मिली है कि दादूपथी संत गोविन्ददास ने २४ गुण स्थान चर्चा नामक जैन धर्म सम्बन्धी हिन्दी मे पद्य वद्ध रचना नाशादा नगर मे स० १८८१ के फागुन सुदी दशम सोमवार को बनाई है इसके ८ पत्रों की एक प्रति दिगम्बर जैन मंदिर नेमिनाथ टोडा रार्मसिह (टोंक) के शास्त्र भण्डार मे है। उपरोक्त ग्रथ सूची के पृष्ठ ३४ में इसका विवरण इस प्रकार छपा है।

चौबीस गुणस्थान चर्चा–गोविन्ददास। पत्र संख्या ८। आ० १०×४ इंच। भाषा हिन्दी। विषय गुणस्थानों की चर्चा। र० काल स० १८८१ फाल्गुन सुदी १०। ले० काल स० १८०० पूर्व वेष्ठन सं० ४३-११९ प्राप्ति स्थान दि० जैन मंदिर नेमिनाथ टोडररायसिह (टोंक)।

प्रारम्भ

गुण छियालीस करि सहित, देव अरहंत नमामि।
नमो आठ गुण लिये, सिद्ध सब हित के स्वामी॥
छतीस गुणां करि, विमल आप आचारिज सोहत।
नमो जोरि कर ताहि, सुनत बानी मन मोहत॥
अरु उपाध्याय पच्चीस गुण सदा बसत अभिराम है।
गुण आठ बीस किरि साधु है, नमो पंच सुख धाम है॥

अन्तिम

संस्कृत गाथा कठिन, अरथ न समझ्यो जाय।
ता कारण गोविन्द कवि, भाषा रची बनाय॥
जो या को सीखं सुनै, अरथ विचारं जोय।
सभा मांह आदर लहै, मुरिख कहै न कोय॥
अक्षर अरथ यामैं घटि वढ़ि होय।
बुध जन सबं सुधार ज्यो, माफ कीजिये सोय॥
अठारासै ऊपरं गनूं, इक्यासो और।
फागुण सुदी दशमी सुतिथि शशि बासर शिरमौर॥
दादू जी को साधु है, नाम जो गोविन्ददास।
तानें यह भाषा रची, मनमांहि धारि उल्हास॥
नासरदा ही नगर में रच्योजु भाषा ग्रंथ।
जो याकूं सीखै सुणं, लहै जैन मत ग्रन्थ॥

उपरोक्त उद्धरण में ग्रंथ का नाम स्पष्ट रूप से नही दिया है। पर अन्त का जो पहला पद्य उद्धृत किया गया है इससे मालूम होता है कि इस विषय के किसी जैन संस्कृत ग्रथ के आधार से इस ग्रन्थ की रचना हुई है मूल संस्कृत ग्रन्थ कौन सा है कब किसने प्रकाशित किया। ये जानकारी प्रकाश मे आनी चाहिए वैसे गुण स्थान तो १४ होते है पर इस सूची में २४ गुण, २४ भाषा चर्चा नामक रचनाओं की काफी प्रतियों का विवरण छपा है उनमें से मूल प्राकृत ग्रन्थ आचार्य नेमिचन्द्रका है सम्भवतः उसी के आधार से अन्य रचनायें बनाई गई हों।

गोविन्ददास की रचना छोटी ही है अतः अनेकान्त वीरवाणी आदि पत्रिकाओं में उसे प्रकाशित कर दी जाय तो बहुत ही अच्छा हो। एक जैनेतर कवि ने जैन धर्म संबंधी रचना की है यह बहुत ही उल्लेखनीय बात है। ऐसी अन्य रचनाओं की भी खोज होनी चाहिए।

द्राविड भाषाएं और जैनधर्म

आचार्य पं० के० भुजबली शास्त्री

कन्नड़ और तमिल भाषा को सर्वोच्च पद पर पहुँचाने का अमर श्रेय जैन आचार्य और कवियों को प्राप्त है। इनमें से पहले कन्नड भाषा को ही लीजिए। कन्नड भाषा के आदि कवि जैन हैं। इस समय उपलब्ध जैन कवियों में महाकवि पम्प ही आदि कवि है और यही कन्नड़ का आदि कवि है।

दक्षिण मे पांच द्राविड़ भाषाएँ प्रचलित है—तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलेयालम और तुलु। इनमें तुलु ग्रान्थिक भाषा नही है। केवल बोलचाल की भाषा है। हां, इधर इस भाषा के प्रेमी इस भाषा में भी पुस्तकें लिखने लगे; मगर कन्नड़ लिपि मे क्योकि इस समय तुलु भाषा की लिपि प्रचार मे नहीं है। बल्कि इधर तुलु भाषा में चार-पांच फिल्में भी तैयार हुई है। इस भाषा के प्रेमी इसे समुन्नत बनाने के लिए प्रयत्नशील है। इस भाषा में जैनों की भी दो-चार पुस्तकें हैं। अब रही शेष चार द्राविड भाषाएँ। तेलुगु और मलयालम मे भी उल्लेखनीय जैन कृतियाँ नही है। बाकी कन्नड और तमिल दो भाषाएँ हैं, जिनमें जैन ग्रन्थ भरपूर हैं।

पम्प-पूर्व के प्रसग, गुणनन्दि तथा गुणवर्म आदि कई उद्दाम जैन कवियों के नाम और कतिपय पद्य अवश्य मिलते हैं। पर दुर्भाग्य की बात है कि अभी तक उनकी बहुमूल्य रचनाएं नही मिली हैं। बल्कि सातवीं शताब्दी मे ही तुंबलूराचार्य ने कन्नड मे ९६,००० पद्य परिमित चूड़ामणि नामक एक महत्त्वपूर्ण टीका-ग्रंथ की रचना की थी। यह वृहद-टीका तत्वार्थ सूत्र पर की मानी जाती है। इसी प्रकार इसी काल के श्यामलकुंदाचार्य ने कन्नड़ में प्राभृत नामक एक ग्रंथ की रचना की थी जो एक शास्त्रीय ग्रन्थ समझा जाता है। परन्तु खेद की बात है कि अभी तक वे दोनों महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए है। हां, शिवकोट्याचार्य विरचित वड्डाराधना नामक ग्रंथ (गद्य) महाकवि पम्प के कुछ पूर्व का माना जाता है।

कन्नड जैन कवियों मे पम्प, पोन्न और रन्न ये तीनों रत्नत्रय कहलाते है। वस्तुत: ये तीनों रत्ननाम ही हैं। इन महाकवियों के उपरान्त भी चामुण्डराय, नागवर्म, शान्तिनाथ, नागचन्द्र, नयसेन, ब्रह्मशिव, कर्णचार्य, नेमिचन्द्र, अग्गल, आचण्ण बन्धुवर्म जन्न पार्श्व पण्डित, गुणवर्म, आण्डय्य, कमलभव, विद्यानन्द, उदयादित्य, केशिराज, साल्व, भट्टाकलंक, गुणचन्द्र, सोमनाथ, श्रीधराचार्य, मंगराज और रत्नाकरवर्णी आदि सैकडो ख्यातिप्राप्त जैन कवियों ने काव्य, व्याकरण, छन्द, अलंकार, कोष वैद्य, ज्योतिष, गणित, यक्षगान आदि अन्यान्य विषयों पर सैकड़ों ग्रंथों की रचना की है। जैन कन्नड़ कवियों ने किसी भी विषय को नहीं छोडा है। उन्होने पाक-शास्त्र, गोवैद्य, आयुर्वेद आदि अनेक लोकोपयोगी ग्रथो को भी रचा है। कल्याणकारक, खगेन्द्रमणिदर्पण, वैद्यामृत आदि वैद्य ग्रन्थ, जातकतिलक, जिनेन्द्रमाला आदि ज्योतिष ग्रन्थ हिन्दी भाषा मे भी अनुवाद करने योग्य हैं। खगेन्द्रमणि दर्पण मद्रास विश्वविद्यालय की कृपा से, जातकतिलक मैसूर विश्वविद्यालय की कृपा से प्रकाशित हो चुके है। कल्याणकारक भी प्रकाशित होने वाला है। यह कल्याण-कारक आचार्य पूज्यपाद के वैद्य ग्रथ के आधार पर रचित कहा जाता है। उपर्युक्त कन्नड़ कवियों में अधिकांश सस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं के भी पण्डित थे। क्योंकि भारतीय अन्यान्य साहित्यों की तरह कन्नड साहित्य की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए भी संस्कृत साहित्य ही आधार है यहाँ तक है कि भट्टाकलक का कर्णाटकशब्दानुशासन नामक कन्नड़ व्याकरण सस्कृत भाषा में ही रचा गया है। बल्कि उसकी भाषामजरी नामक वृत्ति और मजरीमकरद नाम की व्याख्या भी संस्कृत में ही लिखी गई है।

अस्तु, अब तमिल भाषा को लीजिए। तमिल भाषा के आदि कवि भी जैन ही है। तमिल सघकाल की रचनाओं मे तिरुक्कुरल ही अन्तिम रचना है। इसके पूर्व की रचनाओ में बहुत कम ग्रन्थ उपलब्ध है। तीसरी शताब्दी में तृतीय तमिल सघ नामावशेष हुआ। ऐसी परिस्थिति में भी मान्य जैन कवियों ने वात्सल्य एवं गौरव के साथ तमिल भाषा को बढाया। तीसरी शताब्दी से लेकर छठवीं शताब्दी तक जैन कवियों ने पर्याप्त बहुमूल्य ग्रंथों की रचना की थी। यह सौभाग्य की बात है कि इस समय प्राप्त उन ग्रन्थोंसे भी जैन कवियों का पाण्डित्य एव उनकी प्रखर बुद्धि स्पष्ट व्यक्त होती है। कन्नड़ वाङ्मय की ही तरह तमिल वाङ्मय भी जैन कवियों का चिर ऋणी है। इस बात को निष्पक्षपाती प्रत्येक साहित्यप्रेमी सादर एवं सहर्ष स्वीकार करते है। जैन कृतियों मे तिरुक्कुरल, नालडियार, मणिमेखलै, शिलप्यधिकार और जीवकचिन्तामणि ये बहुत ही ख्यातिप्राप्त कृतियां है। इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

तिरुक्कुरल : इस कृति को सर्वमान्य कवि तिरुवल्लवरने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति-के लिए रचा था। महाकवि तिरुवल्लवर इस अमर रचना से ही कविसार्वभौम कहलाया। यद्यपि कुरल ग्रथ के मंगलाचरण में कवि ने किसी भी भगवान् का नाम स्पष्ट नही लिया है। फिर भी इसमे कमलगामी, अष्ट-गुणयुक्त आदि भगवान् के विशेषण रूप से दिये गए जैन पारिभाषिक शब्दों से तिरुवल्लवर जैन धर्मावलम्बी स्पष्ट सिद्ध होता है। स्वर्गीय प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती आदि मान्य विद्वानों के मत से तिरुक्कुरल एलाचार्य अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्द की अमर रचना है। इस बात को सुदृढ़ पुष्ट प्रमाणों से चक्रवर्तीजी ने सिद्ध किया है। बल्कि नीलकेशी नामक बौद्ध ग्रंथ के सफल जैन भाष्यकार मुनि समयदिवाकर भी इस तिरुक्कुरल को अपना एक पवित्र ग्रंथ मानते रहे।

नालडियार—चार-चार पंक्तियों से निबद्ध पद्यमय यह ग्रंथ बहुत ही उच्चकोटि का है। इसमें अन्यान्य चार सौ सर्वमान्य कवियों के द्वारा एक-एक के क्रम से रचे गए चार सौ पद्य हैं। पांड्यराज को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश देने के लिए यह अमर ग्रन्थ रचा गया था। इसकी रचना की कहानी बहुत रोचक है। पर उसके उल्लेख से लेख का कलेवर बढ जायगा।

जनश्रुति है कि इस ग्रन्थ के रचयिता सभी विद्वान् सर्वसंगपरित्यागी मुनि थे।

मणिमेखलै—यह ग्रन्थ कवि शीतशन्तनार के द्वारा रचित एक वृहच्चरित काव्य है। इसकी शैली सुन्दर एवं गम्भीर है। इसमे बौद्धधर्म का सिद्धान्त एवं प्राकृतिक दृश्यो का सुन्दर वर्णन है। यह एक महत्त्वपूर्ण तमिल महाकाव्य है।

शिलप्पाधिकारं—यह इलगोयडिगल की रचना है। यह भी एक महत्त्वपूर्ण चरित-काव्य है। इसकी शैली चित्ताकर्षक है। विद्वानो की राय है कि यही तमिल भाषा का प्रथम काव्य है। इसमे गद्य भी है। यह काव्य उस समय के नाटक के रूप मे रचा गया है। इसमे रग-मंच, नट, गायक, सगीत और नृत्य आदि के सुन्दर विवेचन के साथ साथ तत्कालीन रीति, नीति, राजा आदि पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

जीवकचिन्तामणि—यह काव्य तिरुतक्कदेवर के द्वारा रचा गया है। यह कवि जैन मुनि थे। इस काव्य मे जीवन्धर का चरित वर्णित है। इसकी भाषा शुद्ध, गभीर एवं सरल है। इसमे चरित्र के साथ-साथ जैन सिद्धान्त तथा सामाजिक कलाओ का भी समावेश है।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त जैन कवियों के चूलामणि, यशोधरकाव्य, नागकुमारकाव्य, उदयकुमारकाव्य आदि काव्यग्रन्थ, पालमोलिननुरु वेलाडि, अरिनेरिच्चरं आदि नीतिग्रन्थ, अप्चनन्दिमलै आदि छन्द और अलंकार ग्रन्थ, नन्नुल, नेमिनादं आदि व्याकरण ग्रंथ, मेरुसमं, दरपुराण, थिरुकुलवरं आदि पुराण सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं। विद्वानों का मत है कि जैन कवियों के द्वारा ही तमिल भाषा में संस्कृत शब्द नहीं के बराबर लिये गये थे। जैन कवियों के संस्कृत विशेषज्ञ होने के कारण उनकी तमिलरचनाओं मे भी संस्कृत का होना स्वाभाविक ही है।

जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त

डा० कौशल्या वल्ली

जैन दर्शन के अनुसार कर्म सिद्धान्त एक तथ्य है। कर्म एक ऐसा द्रव्य है जो हमेशा आत्मा के किसी अंश को आवृत करता है। जितनी शीघ्रता से कर्मनाश होता है, उतना ही व्यक्ति के लिए अच्छा है।

जैनदर्शनानुसार जब तक कोई प्रयोजन न हो तब तक कोई कर्म नहीं होता। अतएव प्रयोजन से सम्बन्धित किन्हीं विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत ही क्रिया शब्द और विचार कर्म कहलाता है[1]।

जिनमत में कर्म समस्या, दूसरे भारतीय दर्शनों के समान आत्मा के बन्धन के प्रश्न के साथ सम्बद्ध है। जैन विचारकों के अनुसार आत्मा कषाय के कारण पुद्गल को अपनी ओर आकर्षित करता है जो कि कर्म के अनुरूप है। बन्धन के पांच कारण हैं—१. मिथ्यादर्शन, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय, ५. योग। बन्धन में कर्म और पुद्गल एक साथ संबद्ध हैं। कर्म भौतिक जीवन का कारण है, पर आत्मा का गुण नहीं है। मिथ्यादर्शन के कारण, पुद्गल के सूक्ष्म अणु, आत्मा से उसी प्रकार मिले हुए हैं जिस प्रकार दूध और जल परस्पर मिले होते हैं। योग और कषाय के प्रभाव से[2] आत्मा में भौतिक द्रव्य कर्म का रूप धारण करते हैं। कर्म परिणाम स्वरूप पुण्य और पाप के नाम से पुकारा जाता है।

जैन दर्शन में 'योग' शब्द तथा उसका कर्म पर प्रभाव—शरीर, मन और वाणी की क्रिया ही योग या आस्रव कहलाता है और कर्मोत्पत्ति का कारण है। त्रिकोणात्मक क्रिया से कर्म आत्मा में प्रविष्ट होता है; लेकिन प्रत्येक योग आस्रव नहीं है अथवा यदि वह कर्म को आकृष्ट नहीं करता, इसे अनास्रव कहते हैं। जिस प्रकार एक गीला कपड़ा सब ओर से धूलि को आकृष्ट करता है, एक अति गर्म लोहपिण्ड पानी को सब ओर से आकृष्ट करता है, ठीक उसी प्रकार कषाययुक्त आत्मा योग के कारण सब दृष्टिकोण से कर्म को ग्रहण करता है।

कर्म के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण—जैन-संस्कृति में आचार्य कुन्दकुन्द पुरातन ख्यातिप्राप्त विद्वान है। जैनदर्शन मे "समयसार"[3] नामक उनकी कृति आत्मा, बन्धन और मोक्ष के सम्बन्ध मे एक उत्कृष्ट कृति है। अपनी कृति मे कुन्दकुन्द ने जैनधर्म की विचार-धारा पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। पहले दो अध्यायों में आचार्य ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि जीव और अजीव—इन दो का अध्ययन करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह बताया गया है कि यद्यपि शुभ और अशुभ कर्म में अन्तर है, फिर भी सत्य तो यह है कि उच्च दृष्टिकोण से यह अन्तर निरर्थक है, क्योंकि कर्म अपने मे ही बन्धन का कारण है और कर्म का निराकरण ही होना चाहिए। उत्कृष्ट सत्य तो परमात्मा या शुद्ध आत्मा है जो कि अपने में पूर्ण है। यही परमार्थ है, यही परमतथ्य है। यदि हमें परमात्मा के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता तो सब तपस्या और नियमपालन निरर्थक हैं। विश्वास, आचरण और ज्ञान सत्य होने चाहिए, लेकिन यदि वह सत्य नहीं हैं और कर्म से प्रभावित हैं तो भौतिक जीवन के दुःख अवश्यम्भावी हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार आत्मा कर्म द्वारा विभिन्न परिवर्तनों को अपनाता है। पांचवें अध्याय में आस्रव जीव में कर्मागम को लाते हैं। यह पुनः बतलाया जाता है कि मिथ्यात्व या गलत विश्वास, अविरति या अनुशासनहीनता, कषाय या काम और योग अथवा मनोभौतिक प्रवृत्तियां—दो प्रकार के कर्मों को जन्म देते हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। भावकर्म आत्मा में रहता है तथा भौतिक कर्म को जन्म देता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र—८. १.

२. तत्त्वार्थवृत्ति ८. २.

३. समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द।

इस सम्बन्ध मे आचार्य कुन्दकुन्द ने दो आस्रवो के नामो का उल्लेख किया है—भौतिक और मनोवैज्ञानिक। द्रव्यास्रव का अर्थ आत्मा मे भौतिक अंशो का आगमन है जो कि भावास्रव को जन्म देते हैं, परन्तु एक ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध मे जो कि सम दृष्टि रखता है, द्रव्यकर्म का आगमन आत्मा मे नही होता; द्रव्यकर्म न होने से भावकर्म का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार कोई बन्धन सम्भव नहीं है। केवल जब भावकर्म आत्मा मे होते है, तब आत्मा बन्धन में होता है। प्रत्यक्ष ज्ञानान्वित मनुष्य को न भावास्रव होता है और न द्रव्यास्रव।

इससे स्पष्ट है कि ज्ञानी कर्म से अछूता रहता है, लेकिन यह भी सत्य है कि भूतकाल के जीवन के सब कर्म मनुष्य के कर्मशरीर मे निश्चय रहते हैं। इन बुनियादी कर्मबीजों का नाश करने के लिए जिनमत के अधिकारियो ने रत्नत्रय का अभ्यास निश्चित किया है। वह रत्नत्रय है श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र। इस रत्नत्रय के दृढ़ाभ्यास न होने पर ही विभिन्न कर्म आत्मा को बद्ध करते हैं। समयसार के षष्ठ अध्याय मे कुन्दकुन्दाचार्य ने संवर का वर्णन किया है। सवर का अर्थ है कर्मागम को रोकना। यह सर्वप्रसिद्ध है कि जब तक देहात्मबोध है, तब तक कर्म अवश्यम्भावी है, इसी को भावास्रव कहते हैं, इसी का परिणाम द्रव्यास्रव है।

जैनदर्शन मे सारी सृष्टि को नौ प्रकार से विभाजित किया गया है—जीव (आत्मा), अजीव (अनात्मा), पुण्य, पाप, आस्रव, संवर (कर्म-रोक), निर्जरा (कर्मत्याग), बन्ध और मोक्ष। मौलिक दो बातें हैं जीव और अजीव। शेष इन दो की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप है[४]।

जैनदर्शन मे पूर्णता-प्राप्ति के लिए चौदह गुणस्थान प्रसिद्ध हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से युक्त क्रिया ही कर्म है। सब कर्मों के नाश होने पर आत्मा लोकाकाश तक जाता है[५]। जैनियों के अनुसार, कर्मप्रभाव के कारण ही, आत्मा नीचे के स्तर पर आकर सांसारिक स्तर पर रहता है, लेकिन कर्मनाश होने पर, आत्मा सम्बन्धहीन होता है, अतएव नीचे के स्तर पर गिरने से बच जाता है। आत्मा का उत्थान अवश्यम्भावी है। आत्मा की ऊपरी गति ऊपर की ओर जाने वाली अग्नि की लौ से मेल खाती है। अलोकाकाश तक पहुँची हुई आत्मा के लौटने का प्रश्न नहीं उठता।

सम्पूर्ण पूर्णता-प्राप्ति के लिए चौदह गुणस्थानों का वर्णन है। पहला गुणस्थान सामान्य मानव की परिस्थिति को बतलाता है। इस स्तर पर मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगयुक्त क्रिया विद्यमान रहती है। यह मूलतः जीव है जिस पर आध्यात्मिक जीवन का भवन आश्रित है। इस गुणस्थान मे जीव को अंधेरे मे थोडा सा प्रकाश दिखाई देता है। इस गुणस्थान का नाम 'मिथ्यात्वदृष्टि" है। यह गुणस्थान सीढी की पहली पौढी है। ग्रन्थि रहित आत्माएँ जो थोडी देर के लिए आध्यात्मिक दृष्टि से युक्त होते है, इस गुणस्थान तक गिर सकते है। ग्रन्थि-बद्ध आत्मा गहन अन्धकार मे डूबा होता है। पहले गुणस्थान का आध्यात्मिक जीवन योगी को मिथ्यात्व से पूर्णतया छुटकारा पाने की सहायता करता है, जिससे कि दूसरे गुणस्थानों में मिथ्यात्व बिलकुल दृश्यमान नही। इसका अभिप्राय है कि आध्यात्मिक जीवन की नींव सब क्षेत्रों में सत्य के व्यावहारिक जीवन पर आश्रित है।

दूसरे गुणस्थान का नाम "सास्वादन सम्यग्दृष्टि" है। महान् ऋषियों ने हमें यह बतलाया है कि दूसरे गुणस्थान तक साधक पहले गुणस्थान से उत्थान के रूप मे प्रगति नहीं करता हैं, अपितु उच्च गुणस्थान से पतन के कारण थोड़े समय के लिए, दूसरे गुणस्थान तक गिरता है। उदाहरणतया पहली बार प्रकाशयुक्त होने पर, संभावना है कि चिरकालीन कामनाएं जग जाएँ, आत्मा स्वाभाविकतया आत्मदर्शन के पहले अवलोकन से दूसरे गुणस्थान तक गिरता है। एक बार दूसरे गुणस्थान तक अवतरित होने से, पहले गुणस्थान तक भी गिर जाता है। दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व पूर्णतया अनुपस्थित है लेकिन अविरति, कषाय और योग विद्यमान रहते हैं।

तीसरा गुणस्थान सम्यग्दृष्टि कहलाता है। पहले प्रकाश के बाद, यदि अर्धनिर्मल कर्म, दृष्टि को भ्रमयुक्त करके दिखाई दे, तो आत्मा थोड़ी देर के लिए इस गुणस्थान में अवतरित होता है। यह भी सम्भव है कि थोड़ी देर के लिए यह पहले गुणस्थान तक गिर जाए, पर शीघ्र

४. तत्त्वार्थवृत्ति ८. २.
५. तत्त्वार्थवृत्ति।

ही पुन. उत्थान का मार्ग अपनाता है। अतएव सम्यग्-दृष्टि के अतिरिक्त इस गुणस्थान को कतिपय विद्वान् मिथ्यादृष्टि के नाम से भी पुकारते है। स्मरण रहे कि पहले गुणस्थान का वर्णन करते समय ऊपर मैंने कहा था कि पहले गुणस्थान को छोड़कर अन्य गुणस्थानों मे मिथ्यात्व की अनुपलब्धि है और तीसरे गुणस्थान का नाम सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त मिथ्यादृष्टि भी कहा; पर सम्भवतः यहां यह दुहराने की आवश्यकता पड़े कि सम्यग्-दृष्टि मिथ्यादृष्टि में अर्धनिर्मल कर्म के कारण परिणत होने से, एव आत्मा के इस गुणस्थान मे गिरने के कारण ही इसे मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

चौथे गुणस्थान का नाम **अविरतसम्यग्दृष्टि** है। इस गुणस्थान मे स्पष्टतया सम्यग्दृष्टि प्राप्त तो हुई है, लेकिन आध्यात्मिक बल की कमी है। इस अनियम के कारण, ज्ञान और इच्छा, निःसन्देह हों, किन्तु तब भी आत्मा गलत मार्ग से जा सकता है। यद्यपि दृष्टि स्थिर है, तब भी आत्मा का अनुशासन अनुपस्थित है। इस गुणस्थान मे सम्यग्दृष्टि के कई कारण हैं। मुख्य कारण यह है कि दृष्टि भ्रान्त करने वाला कर्म पूर्णतया समाप्त हुआ है। इसी का दूसरा नाम **उपशम** है। यह स्मरणीय बात हैं कि आध्यात्मिक विकास तब तक सम्भव नही है, जब तक दृष्टि, ज्ञान और आत्मानुशासन समानरूप से सुदृढ न हों। इस परिस्थिति में आत्मदमन की आवश्यकता है यद्यपि ज्ञान और दृष्टि विद्यमान हैं। इस गुणस्थान मे सदिच्छा होने हुए भी आत्मानुशासन की आवश्यकता है।

पचम गुणस्थान **देशविरतसम्यग्दृष्टि** है। इस गुणस्थान मे आत्मानुशासन अधूरा ही प्राप्त होता है, आत्मा का थोड़ा सा उत्थान तो अवश्य होता है, पर किन्ही कामनाओ के रहते हुए, नीति रहित कार्यों से आत्मा पूर्णतया रहित नही है। इस गुणस्थान मे आत्मसंयम केवल अपूर्णरूपेण ही प्राप्त हुआ होता है।

षष्ठ गुणस्थान मे निस्सन्देह उन्नति तो होती है, किन्तु आत्मा में आत्मानुशासन की पूर्ण शक्ति नहीं प्रकट होती। इस गुणस्थान का नाम **प्रमत्तसम्यक्त्व** है। इस गुणस्थान में प्रमाद उपस्थित है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि इस गुणस्थान मे आत्मानुशासन वर्तमान है, किन्तु आध्यात्मिक जडता भी वर्तमान रहती है।

सप्तम गुणस्थान मे आत्मानुशासन अथवा आध्यात्मिक कुण्ठता की कमी अथवा प्रमाद की कमी रहती है। इस गुणस्थान का नाम "**अप्रमत्तसम्यक्त्व**" है।

आठवें गुणस्थान का नाम **अपूर्वकरण** है। इस गुणस्थान मे आत्मा इतना पवित्र है कि कर्म की गहनता और स्थिति स्वतः ही कम हो जाती है। इस गुणस्थान में आत्मा की पवित्रता की स्थिति और गहनता बढ़ जाती है। आत्मा, इस गुणस्थान मे, पवित्र कार्यों मे बहुत तेजोवान होता है। इस गुणस्थान मे आत्मा अत्यधिक काल तक नही रहता।

नौवे गुणस्थान का नाम "**अनिवृत्तिबादरसपराय**" है। इस गुणस्थान में स्थूल इच्छायें आक्रमण कर सकती हैं।

दसवे गुणस्थान का नाम **सूक्ष्मसपराय** है। इस गुणस्थान मे स्थूल वासनाये नही रहती, लेकिन सूक्ष्म वासनाये आत्मा को आक्रान्त करती है। इस गुणस्थान मे, सब वासनाये नष्ट तो हुई होती है, केवल सूक्ष्म लोभ की विद्यमानता होती है जो कि यथार्थ मे शरीर के साथ अवचेतन—आसक्ति के कारण है।

ग्यारहवे गुणस्थान का नाम "**उपशान्तकषाय**" है। दसवे गुणस्थान मे सूक्ष्म लालच था। इस गुणस्थान में भी आत्मा सम्पूर्णरूपेण कार्मिक प्रभाव से रहित नहीं है, अतएव इसको **छद्मस्थ** कहा जाता है। यह आसक्ति से रहित है—अर्थात् ग्यारहवा गुणस्थान **वीतराग** का गुणस्थान माना जाता है। आत्मा इस गुणस्थान मे चिर काल तक रह नहीं पाता।

एक निर्मल आत्मा सीधा ही दसवें से बारहवें गुणस्थान तक उन्नत हो सकता है। बारहवें गुणस्थान में वासनाओं का नाश होता है। यह गुणस्थान नाश की चरम सीमा तक पहुँचता है। इस गुणस्थान में आत्मा पूर्णरूप से चार प्रकारके घातिकर्मों से मुक्त हो जाता है। बारहवें गुणस्थान को क्षीणकषाय नाम दिया जाता है।

तेरहवें गुणस्थान को जैन दर्शन ने **सयोगकेवली** का नाम दिया है। दूसरे भारतीय दर्शनों में इस गुणस्थान को **जीवनमुक्त** का नाम दिया जाता है। इस गुणस्थान में

मिथ्यात्व, अविरति और कषाय तो नहीं है किन्तु योग तो रहता है, अतएव **सयोगकेवली** कहलाता है। तीर्थङ्कर अथवा जगद्गुरु इसी तेरहवें गुणस्थान मे बनता है। अघातिकर्म तो इस गुणस्थान में रहते हैं। यहां यह संकेत किया जाय कि जाति, आयु और भोग के रूपमें, अघातिकर्म योगदर्शन के प्रारब्धकर्म का ही पर्याय है।

जिनमत में आध्यात्मिक विकास में उच्चतम पूर्णता का प्रतिनिधित्व अन्तिम चौदहवें गुणस्थान में होता है। इसका नाम **अयोगकेवली गुणस्थान** है। यह ऐसे सिद्ध का गुणस्थान है जो कि सब प्रकार के घाति और अघाति कर्मों से रहित है, अतएव कार्मिक शरीर से मुक्त है। एक सिद्ध पुरुष, कार्मिक शरीर से रहित विशुद्ध शरीरधारी है, एक ऐसा शरीर लिए हुए जो कि पूर्णरूपेण निर्मल है और जिसका कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वह लोकाकाश में बहुत उच्च स्थान प्राप्त करता है और सिद्धशिला पर विराजमान हो जाता है—वह शिला जो कि देश-काल से परे है। सिद्ध पुरुष अत्यन्त विशुद्ध आत्मा है और नित्य है। सिद्धशिला लोकाकाश और अलोकाकाश के बीच की शिला है—एक ऐसा स्थान है जिसका कि भौतिक जगत् की क्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

उपर्युक्त गुणस्थानो में मैंने घातिकर्म और अघातिकर्म का उल्लेख किया है। इस विषय में यहां यह कहना आवश्यक हो जाता है कि कर्म सामान्यतया दो प्रकार का माना जाता है—घाति और अघाति।

घाति कर्म चार प्रकार के हैं—१. ज्ञानावरण—ज्ञान को नहीं होने देता, २. दर्शनावरण—देखने नही देता ३. मोहनीय कर्म—सुख नहीं होने देता, ४. अन्तराय कर्म—आत्मबल नहीं होने देता है। दूसरे शब्दों में अन्तर्ज्ञान को ढकने वाला कर्म **दर्शनावरणीय** कर्म कहलाता है, ज्ञानार्जन की शक्ति को रोकने वाला कर्म **ज्ञानावरणीय है**, मानसिक सन्तुलन को विचलित करने वाला **कर्म मोहनीय कर्म** कहलाता है जिसके फलस्वरूप मन में भ्रान्ति उत्पन्न होती है, एक सच्चे अन्तर्ज्ञान एवं ज्ञान की कमी प्रतीत होती है। **अन्तराय** आत्मा की उन्नति में बाधक हैं, एवं आत्मा के विभिन्नपक्षीय विकास मे घातक है।

शेष चार कर्म अघाति हैं। ये आत्मा के मुख्य गुणों का घात न करके, उन्हीं घातिया कर्मों की सहायता के लिए परिकर के रूप में होते हैं। यथा :—

१. वेदनीयकर्म—इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं का संयोग कराता है।

२. आयुकर्म—मनुष्यादिरूप किसी भी एक शरीर में रोककर रखता है।

३. नामकर्म—शरीर की अनेक प्रकार की अवस्थायें बना देता है।

४. गोत्रकर्म—विशेष आत्मा का विशेष परिस्थिति में एवं विशेष परिवार में जन्म दिलाता है[६]।

उपर्युक्त चौदह गुणस्थान आध्यात्मिक विकास का क्रमिक विवरण बतलाते हैं। अध्यात्म के इस क्रमिक विकास में कर्म ही मुख्य विषय है। सम्पूर्ण विश्वसृष्टि और व्यष्टि मानव शरीर, कर्म के ही कारण हैं। विश्व और मानव तब तक है जब तक कि कर्म है। लेकिन जब कर्म गुणस्थानों के विकास से क्रमशः नाश को प्राप्त होता है, आत्मा की सम्पूर्ण विशुद्धि होती है, एवं कर्म और उसके परिणामों से मुक्त हो जाता है। कर्म के फलस्वरूप ही शरीर के साथ सम्पर्क, दुःख-सुख की अनुभूति एवं आयु के कारण समय-पराधीनता रहती है।

चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त हुए सिद्धात्मा को कई विद्वान् परमात्मा कहते हैं। परमात्मा या ईश्वर यद्यपि एक ही बात है तो भी कई दर्शनों में ईश्वर विश्वनियन्ता, विश्वरचयिता अथवा जगद्गुरु का स्थान ले लेता है जो ज्ञान द्वारा मानवता के कल्याण में लगे होते है। ●

---

६. प्रवचनसार—६०.

राजर्षि देवकुमार की कहानी

सुबोध कुमार जैन

देवलोक से एक सितारा टूटा। और आरा नगर के सुप्रसिद्ध प्रभू परिवार में समय पाकर बाबू चन्द्रकुमार के घर पुत्र-रत्न ने जन्म लिया।

नाम रखा गया देवकुमार।

पिता चन्द्रकुमार की मृत्यु अकाल में हो गई। देवकुमार का हँसमुख गम्भीर हुआ सो हुआ।

ये कुशाग्रबुद्धि। नन्हा सा एक भाई था। नाम था धर्मकुमार। एक बहिन, नाम नेमसुन्दर। फिर तो बच गई माता। बस इतना ही परिवार था।

घर का हिसाब-किताब देखा तो देवकुमार का गम्भीर मुख सोच में पड़ गया।

एक लाख का कर्ज।

पितामह प्रभूदास ने कोशाम्बी, बनारस और आरा में पांच मन्दिर और धर्मशालाओं को पूरा कराने के हेतु कुछ कर्ज लिया था वही बढ़ते बढ़ते एक लाख हो गया।

माता ने एक छोटी सी बात कही—बेटा! खर्च कम कर देने से कर्ज आसानी से चुकता हो जाता है।

देवकुमार ने वही किया और समय पाकर कर्ज चुकता हो गया।

और जब एक लाख और इकट्ठा हो गये तो भारतवर्ष के तीर्थों की यात्रा का प्रोग्राम बनाने लगे। पर तभी आरा नगर में प्लेग का रोग आ गया। यह महामारी बहिन नेमसुन्दर को उसके ससुराल में लग गई।

वीर गम्भीर देवकुमार को डर छू नहीं गया था। जबकि लोग प्लेग से बीमार अपनों को छोड़ रहे थे, वे नेमसुन्दर को अपने घर उठा लाए।

जब रोग ने नगर में जोर पकड़ा तो परिवार को लेकर अपने बाग में चले गए। फिर सभी को लेकर सम्मेद शिखर की यात्रा को निकल पड़े।

ईसरी में छोटे भाई धर्मकुमार को ज्वर हो आया। उनकी नव-विवाहिता बहू चन्दा बाई भी साथ थी। देखते देखते धर्मकुमार को प्लेग हो गया। सभी पर वज्रपात हुआ।

बीमारी बढ़ चली और धर्मकुमार को अपार कष्ट था। भैया की गोद में उनका सर था और किसी की आंखो में नींद नहीं थी।

लोगो ने देवकुमार की आंखो मे कभी आंसू नहीं देखे थे। उनकी डबडबाई आंखों से सभी की हिम्मत टूट चली थी। धर्मकुमार ने चिन्तायुक्त होकर अपनी नव-विवाहिता चन्दा की ओर देखा। देवकुमार ने प्रेमसिक्त स्वर मे कहा—चिन्ता छोड़ दो। मैं तो हूँ। धर्मकुमार का मुख बाल सुलभ लज्जा सा होकर शान्त हो गया। उनका दांतों को मीज कर कष्टों का झेलना एक अद्भुत दृश्य था। भाभी अनूपमाला और जीजी नेमसुन्दर नन्हीं चन्दा के मुर्झाए मुख को देखकर सुबुक उठीं। परन्तु देवकुमार के नयनों के आर्त्तनाद को देख करके सहम कर रह गई।

तभी १८ वर्ष के धर्मकुमार ने फिर आंखे खोलीं और भैया देवकुमार की ओर भक्ति और विनय से भरे नयनों से देखते हुए टूटते स्वर में कहा :—

"भैया! अब आज्ञा दो, मैं चलू! कष्ट बरदाश्त के बाहर है।

धर्मसुन्दर की आंखों के अनुनय ने देवकुमार को बिल्कुल द्रवित कर दिया। भाई को कलेजे से लगा कर वे भरे हुए कण्ठ से मृदुल प्रवाह में णमोकार मंत्र का पाठ करने लगे। सभी की आंखों में आंसुओं की धारा थी और ओठों पर चित्कार की जगह मंत्र पाठ। हिचकियों के साथ प्रवाह रूप तब तक चलता रहा जब तक देव तुल्य देवकुमार ने लक्ष्मण स्वरूप भाई को जमीन पर नहीं लिटा दिया।

देवकुमार अब सचमुच देवतुल्य हो गए थे। २८-३० वर्ष के नवयुवक की कान्ति आत्मज्ञान से ओत प्रोत थी। ब्रह्मचर्य का धनी वह युवक जब जब निर्ग्रन्थ मुनि के रूप मे दिगम्बर होकर ध्यान मे निमग्न होता लोग नतमस्तक हो जाते।

जप तप का क्रम चलता रहा और तब एक दिवस देवकुमार ने कहा—भारतवर्ष के तीर्थों की यात्रा पर चले।

दक्षिण भारत की उनकी यात्रा अनूठी थी। बैलगाडियो का उनका कारवां जहाँ पड़ाव डालता वही पाठशालाये खोलने का कार्यक्रम चल निकलता। जिनवाणी का उद्धार, ताड़पत्रों एवं हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों को जहा-तहाँ से निकलवा कर, साफ-सुथरा करा कर उनके सदुपयोग पठन-पाठन और ग्रन्थागारो मे स्थानान्तर करने की प्रेरणा दी जाती।

सारे दक्षिण में इस देवतुल्य युवक के आगमन की सूचना फैल गई और अगले गाव वाले गाजे-बाजे के साथ उनके आदर-सत्कार मे मीलों तक सोत्साह आगे चले आते।

देवकुमार के गुरु चारुकीर्ति महाराज उनके साथ थे और स्वय दक्षिण भारतवासी होने के कारण उनके आनन्द का ठिकाना न था।

धर्म के पावन प्रवाह में धर्मकुमार के महाप्रयाण का दुःख और धुलता जा रहा था। सभी परिवार वाले तीर्थों की इस अद्भुत यात्रा के सहगामी क्या हुए, वे कृतकृत्य हो गए।

दक्षिण भारत से बम्बई, मध्य भारत, उत्तर प्रदेश और फिर अपना बिहार—जहाँ पहुँचे उसके पूर्व उनकी कीर्ति वहाँ पहुँची रहती। जहाँ पहुँचते वही शिक्षा-दीक्षा और जिनवाणी उद्धार का कार्यक्रम ऐसा चलता कि नगर मे दूसरी कोई बात किसी को भी जुबान पर नहीं रहती।

आखिर आरा नगर में भी उन्होंने वह किया जिसने उन्हें अमर कर दिया। श्री जैन सिद्धान्त भवन और कन्या पाठशाला की स्थापना। और फिर उनका निश्चय कि—

"जब तक जिनवाणी का उद्धार नहीं हो जाता अखंड ब्रह्मचर्य रखूंगा।"

जिसने सुना श्रद्धावनत हो गया।

दक्षिण भारत की यात्रा में इनकी प्रेरणा पा कर चन्दाबाई ने स्त्री सभाओ मे समाज और धर्म की सेवा का आन्दोलन आरम्भ किया। धर्म ग्रन्थों के अध्ययन के लिए पण्डितों और विद्वानों का सहयोग भी उन्हे मिला। भारतवर्ष के आकाश पर एक और चाँद उभर आया जिसने आगे चलकर "जैन बाला विश्राम" की स्थापना कर सैकड़ों, हजारों अबलाओं को शिक्षित किया, बल दिया, गौरव दिया। जैन महिला परिषद और जैन महिलादर्श द्वारा महिलाओं में क्रान्ति की।

बहिन नेमसुन्दर का जीवन तो भैया देवकुमार पर सदा निछावर था। उनके लिए आदरणीय व्यक्ति दुनिया मे कोई दूसरा न था। वे तो बस भैया के सुख में सुखी, दुःख मे दुःखी थी। गौरव गाथा जब भी उनके मुख से निकलती थी—भैया की।

और छोटे भाई धर्मकुमार की बहू चन्दाबाई के लिए तो वे सदा सब कुछ करने को दौड़ी फिरती। जब जैन बाला विश्राम की स्थापना धर्म कुञ्ज मे हुई तो अपने पति से कहकर आलीशान शिक्षा-भवन बना कर उसके ऊपर भव्य जिन मन्दिर की स्थापना, प्रतिष्ठा इस धूमधाम से कराई कि जो जिसने देखा था भूला नहीं। स्वयं इन्द्राणी बनी और पति इन्द्र।

इतना ही नहीं। बाहुबली का प्रथम दर्शन जो कि भैया देवकुमार के साथ दक्षिण की यात्रा मे हुआ था उसे भुलाए न भूल सकती थी। उनकी देवभक्ति, गुरुभक्ति और शास्त्रभक्ति अनुपम थी।

सो धर्मकुञ्ज आरा मे बाहुबली की विशाल प्रतिमा की स्थापना प्रतिष्ठा कर उन्होने अपूर्व पुण्य और यश प्राप्त किया।

यह सब हुआ पर राजर्षि देवकुमार यह सब देखने को नहीं रहे थे। वे बहुत पहले महाप्रयाण कर चुके थे।

हां, अपने जीवन काल में ही पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी के एक पैसे के पोस्ट कार्ड के ऊपर उन्होने बनारस स्थित अपने निवास स्थान और धर्मशाला के भव्य भवन को स्याद्वाद विद्यालय के लिये देकर अत्यन्त उत्साहपूर्वक विद्यालय की सफलता के लिये कार्यरत हुए थे।

भाईभक्त नेमसुन्दर बतलाती है :—

असाधारण बीमारी की दशा मे अन्ततोगत्वा उन्हें कलकत्ता उपचार के लिए ले जाया गया। उनके उपचार मे किसी को रुपये की कोई परवाह नही थी। उन्हे तो किसी प्रकार बचाना ही था। उनके बिना धन किस काम का रहता। दोनों बच्चे अभी दश वर्ष के भी तो नही हुए थे।

राजर्षि यह सब देखते और हसकर कहते—अपने मन की सब बात निकाल लो पर जो होना है उसे कोई रोक सकता है क्या?

एक लाख रुपये, उस बीमारी के उपचार मे खर्च हो चुके पर बीमारी घटने का नाम न लेती। कलकत्ता का बड़ा से बड़ा डाक्टर और कविराज अपनी सारी योग्यता खर्च कर रहा था। स्वनामधन्य छोटेलाल जी जैन ने बतलाया :—

मैं उस समय छोटा था। अपने पिता के साथ सदा इस धर्मपरायण व्यक्ति के पास जाता था। उन्हें सदा चिन्तामुक्त पाया। अत्यन्त कृश हो गए थे। बोलते तो थक जाते थे, पर धर्म और सिद्धान्त की बात कहते तो लोग अपलक हो उनकी ओर देखते रह जाते। नियम पूर्वक चारुकीर्ति महाराज के साथ एकान्त मे धर्मचर्चा शान्त होकर श्रवण करते थे। उनकी जुबान को कभी किसी ने 'उफ' करते हुए नही देखा। बीमारी तो ऐसी थी कि देखी नही जा सकती थी। कारबन्कल!!

६० वर्ष के ऊपर की वृद्धा नेमसुन्दर उस समय की गाथा विभोर होकर कहती थीं :—

"भैया को कभी डर किसी बात का छू नही गया था। वे नितान्त निर्भय थे। उसी बीमारी की अन्तिम दशा मे मुझसे कहा—मैं तभी तुझे अपनी अच्छी बहिन समझूंगा जब तू मुझे चुपचाप डाक्टर की बात आकर बता देगी। मै अपना अन्त भी बनाना चाहता हूं। तू बता देना जब भी डाक्टर से ऐसी कोई बात सुनना।"

नेमसुन्दर ने कहा—"मैं तो उनकी ऐसी बात सुनकर सन्न रह गई और तब एक दिन मैंने डाक्टर के मुँह से सुना कि अब २४ घण्टे का समय शेष रह गया है तो मैं बिल्कुल सहम गई। भैया की कही बात, जो कि आदेश के रूप में थी मैं भूल नहीं सकी थी। पर यह सूचना उन्हें देने के लिए मै हिम्मत कहां से बटोरूं।"

'मैने प्रभु को याद किया और फिर निर्भय होकर मै उनके कमरे मे पहुची। उन्हे बिल्कुल चैतन्य पाया। इसके पूर्व कि मै कुछ कहूं उन्होने सूखे होठों पर मुस्कान लाकर मुझे पास बुलाया और कान मे पूछा—कुछ सुनकर आई है? मैं बिल्कुल हतप्रभ हो गई पर उन्हें देखकर मेरी हिम्मत फिर लौट आई। मैने देखा कि वे सुनने को तैयार पड़े थे। मैंने सर हिलाकर हामी भरी और फूट फूटकर रो पड़ी। उन्होने मेरे बालों मे हाथ फेर कर मुझे चुप कराया। तब तक सभी कमरे मे आ गये थे। उन्होने अपने गुरु चारुकीर्ति स्वामी को पास बुलाया और पृथ्वी शैया देने को कहा। तभी भाभी अनूपसुन्दर फूट-फूटकर रोने लगी। भैया ने अपनी तेजस्वी आंखो को उठाया, जिसके इशारे सभी समझने लगे थे।"

"भाभी को पकड़ कर कमरे के बाहर ले जाया गया। भैया की आंखें फिर उठी और दरवाजे को बन्द कर दिया गया ताकि अन्दर रोने की आवाज न आये। और अन्त में भैया की आंखे और उनकी २१ अगुलियो के इशारे को किसी को नकारने की हिम्मत नही हुई। उन्हे कलपते हृदय से हमने भू-शैया दी।

"चारुकीर्ति महाराज से उन्होने हाथ जोड़कर मुनिव्रत दिलाने को कहा।"

"ऐसी हिम्मत थी, मेरे भैया की। दिगम्बर मुनि का व्रत लेकर मन्त्र को होठो से धीरे-धीरे स्वय कहते हुए एवं सिद्ध-भक्ति का पाठ सुनते हुए वे सदा के लिए परम शान्ति पूर्वक चले गये।"

इतना कह कर मेरी पूज्या वृद्धा नेमसुन्दर बूआ दादीजी ने अपनी आंखों के आंसू पोछ लिए।

मृत्यु के कुछ दिन पूर्व पूज्य दादाजी देवकुमार जी ने अपनी जमींदारी का सब से अच्छा और कीमती गांव का एक न्यास किया तथा एक वसीयतनामा लिखा। वह वसीयतनामा भी अपने में अद्भुत था। उसमे वे अपने सेवकों को भी भूले नहीं थे।

अपने मुसलमान वृद्ध पिउन (नौकर) से लेकर उन

सभी पड़ोसियों और सम्बन्धियों के प्रति ऐसी उदारता अन्य किसी दस्तावेज में देखने को नहीं मिलेगी।

जैन सिद्धान्त भवन आदि पारिवारिक संस्थाओं के लिए समय के हिसाबसे प्रचुर साधन का उन्होंने वसीयत कर दिया था।

वृद्धा बूआ दादीजी नेमसुन्दर बीबी की बूढ़ी आंखें वर्षों पूर्व विचारों में खो जाती है और फिर अपने पूज्य भैया की कहानी समाप्त करते हुए वे कहती हैं—

"मृत्यु के बाद जैसे ही शव को लेकर लोग गंगा की ओर गए, हम सभी औरतें रोते, कलपते हावड़ा स्टेशन पर चली गईं। एक कोने में सभी सिमटी बैठी थीं। भोर होने को आया था। हम सब थकान से चूर मन से विरक्त गुमसुम पड़ी हुई थीं कि एकाएक आसमान की ओर से गाजे-बाजे की ध्वनि कर्णगोचर हुई...देवों का एक बड़ा समुदाय तरह-तरह के वाद्यों को बजाता, खुशी मनाता, नाचता चला जा रहा था आसमान के और भी ऊपर...और भी ऊपर...और बीच में एक सजी-सजायी अलौकिक पालकी पर विराजमान थे भैया देवकुमार।"

हम भौचक्के अवाक् देख रहे थे और देखते-देखते सब ओझल हो गया। हमने एक दूसरे को देखा। सभी अपनी-अपनी आंखों को मल रहे थे जैसे सपना देखकर उठ रहे हों।

अविश्वसनीय—फिर भी सच।

एक बहुत बड़े बंगाली तांत्रिक हमारे घर आये हुए थे। हम सभी बच्चे बड़े अवकाश होकर सुन रहे थे उनकी कही बातें। पूज्यपाद दादा श्री देवकुमार जी के बारे में उन्होंने कुछ ऐसी बातें बतलाईं कि उनके प्रति लोगों का आकर्षण और बढ़ गया।

रात में उन्होंने अपनी सिद्धियों का प्रयोग दिखलाया। कुछ एक भूत आत्माओं के चित्र सादे कागज पर आये। उनके हाथ के लिखे लेख में बातें करवाई और फिर पूज्य दादा जी देवकुमार जी को बुलाते-बुलाते थक गए। एक दूसरी माध्यम उनकी सेवक आत्मा ने लिखकर सूचना दी—

'वे दूर, बहुत दूर हैं, वहाँ तक हम लोगों का पहुँचना नहीं हो सकता।"

वीर निर्वाणोत्सव

मनायेंगे निर्वाणोत्सव सोल्लास।
करेंगे ब्रह्माण्ड-जीव अलौकिक आभास॥
जन जन के स्वान्त में।
भारत-भू के प्रान्त प्रान्त में॥
गूंजेंगे, सत्य, अहिंसा के सन्देश।
त्रिरत्न का होगा सर्वत्र अन्त:प्रवेश॥
स्याद्वाद सिद्धान्त से व्यावहारिक बनेगा।
परस्पर सद्भाव शाश्वत बढ़ेगा॥
मानवता की अर्चना में समवेत होगा संसार।
विश्व शान्ति और बन्धुता के खिलेंगे पुष्प अपार॥
वैमनस्य, विसंगति के साथ दूर होंगे विद्रोह।
हाँ, सचमुच इसीलिए मनायेंगे यह समारोह॥

—तेजपाल सिंह

घरौंड़ा से प्राप्त चौमुखो जैन प्रतिमा

कुमारी शोभा नागर

हरियाणा प्रान्त साहित्य संस्कृति मे ही नही, अपितु पुरातत्त्व और कलाकी दृष्टिसे भी अत्यन्त समृद्ध है। इसके पुराने टीले तथा खण्डहर आज भी अपने मे उसकी प्राचीन कलाको संजोये हैं। यद्यपि ऐतिहासिक सर्वेक्षण करने पर पता चलता है कि यहाँ बौद्ध भागवत और बौद्ध धर्मों के साथ-साथ जैन धर्म का विकास भी बहुत प्राचीन काल से ही हुआ है। परन्तु इस धर्मकी कलाकृतियाँ हमें यहा उतने प्राचीन रूप में नहीं मिलती। अभी तक उपलब्ध जैन कलाकृतियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकाल में यह प्रदेश जैनधर्म का मुख्य केन्द्र बन चुका था।

प्रस्तुत प्रतिमा गुड़गांवा जिले के घरौड़ा ग्राम से, सड़क बनाने के लिए जमीन समतल करते समय प्रकाश में आई। यह ग्राम बल्लभगढ से ८ किलोमीटर दूर, इसके दक्षिण पूर्व में यमुना नदी के पुराने पाट पर स्थित है। अब यमुना नदी यहां से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर बहती है। हरे भरे खेतों के बीच पुराने टीले पर बसा यह ग्राम अत्यन्त रमणीक है। इसके टीले के आकार विस्तार को देख कर प्राचीन समय में इस स्थान की महत्ता का अनुमान सहज ही हो जाता है।

अब यह प्रतिमा इस गांव के बाहर घरौड़ा-तिगांव सम्पर्क सड़क के किनारे खुले आकाश के नीचे स्थापित कर दी गई है। वहां के स्थानीय लोगों द्वारा 'खेड़ा देवता' के नाम से पूजी जाती है, परन्तु पास जाकर इसका निरीक्षण करने पर पता चला कि यह जैन धर्म की चतुर्मुखी प्रतिमा है। चौमुखी जैन प्रतिमाएं देश के अन्य भागों से भी मिली हैं। परन्तु हरियाणा प्रान्त से पहली बार ही प्रकाश में आई है।

प्रतिमा ११५ सैन्टी मीटर लम्बी और ८५ सैन्टीमीटर चौड़ी है। इसकी ऊंची पीठिका पर चार कोष्ठक प्रदर्शित हैं। प्रत्येक कोष्ठक में एक-एक तीर्थङ्कर विराजमान है। फणावली के कारण पार्श्वनाथ को पहचाना जा सकता है। वे पद्मासन मुद्रा में सर्प पर आसीन हैं, उनके कान लम्बे हैं, सिर भग्न है। फणावली के नीचे दोनों ओर पुष्पाहारी विद्याधर अंकित है। और उनके पीछे एक छोटी जिन प्रतिमा अन्तर्ध्यान मुद्रा में अंकित की गई है। फणावली के ऊपर जल अभिषेक करते हुए गज प्रदर्शित है। साथ के कोष्ठक में ऊँचे उष्णीष वाले ऋषभ देव जी है, सिर उनका भी भग्नावस्था मे है। उनके सिर के पीछे कमल का सुन्दर प्रभामण्डल हैं। उनके कान लम्बे है और कन्धों को स्पर्श कर रहे हैं। कन्धों पर जटाओं का अंकन है जो समय के साथ कुछ मन्द सा पड़ गया है। श्रीवत्स का चिह्न यथास्थान अंकित है। इनके आसन से बैल का निशान भी कुछ मिट सा गया है, लेकिन ध्यानपूर्वक देखने से उसकी धुंधली सी आकृति दिखाई पड़ती है। प्रतिमा के शेष दो कोष्ठकों में शायद नेमिनाथ और महावीर जी थे। उनकी प्रतिमाएं खण्डित होकर बड़ी प्रतिमा से अलग हो चुकी हैं। इस प्रतिमा के कोष्टक स्तम्भों पर तीर्थंकरों के दोनों ओर उनकी सेवा में यक्ष और यक्षणी भी प्रदर्शित किये गये है।

प्रतिमा भूरे पत्थर में निर्मित हैं। प्रकृति के दुष्प्रभाव के कारण इसका पाषाण गल गया है। इसको देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि निरन्तर जलप्रवाह के कारण इसका सौन्दर्य बह गया हो। परन्तु फिर भी कहीं कहीं से बहुत चिकनाहट लिये हुए हैं। खण्डित होने पर भी इसमें अभी भी अध्यात्मिक रस छलकता है। लक्षणों और लाञ्छनों की सीमा में जकड़ी होने के पश्चात् भी यह अपने में अत्यन्त सौन्दर्य समेटे हुए है। तीर्थंकरों के भरे गोलाई लिए हुए अंग इतने तरल हैं कि एक दूसरे से घुल मिल गये से प्रतीत होते हैं। कलात्मक रूप से अत्यन्त सराहनीय है।

सम्भवतः यह प्रतिमा ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के आस पास निर्मित की गई होगी। ★

आदिपुराणगत ध्यानप्रकरण पर ध्यानशतक का प्रभाव

पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

राजा श्रेणिक के प्रश्न पर गौतम गणधर ने जो उसके लिए ध्यान का व्याख्यान किया था उसकी चर्चा करते हुए आदिपुराण के २१वें पर्व में ध्यान का विस्तार से निरूपण किया गया है। वहां जिस शैली से ध्यान का विवेचन किया गया है उस पर ध्यानशतक का प्रभाव अधिक रहा दिखता है[1]। इतना ही नहीं, जैसा कि आगे आप देखेंगे, आदिपुराणगत कुछ श्लोक तो ध्यानशतक की गाथाओं के छायानुवाद जैसे दिखते हैं।

विषयविवेचन की शैली

ध्यानशतक में मंगल के बाद ध्यान का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि जो स्थिर अध्यवसान या मन की एकाग्रता है उसका नाम ध्यान है। उसको छोड़कर जो अवस्थित चित्त है वह भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता के भेद से तीन प्रकार का है। एक वस्तु मे चित्त के अवस्थानरूप ध्यान अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है और वह छद्मस्थों के होता है। जिनों का—सयोग और अयोग केवलियों का—ध्यान योगों के निरोधस्वरूप है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात चिन्ता अथवा ध्यानान्तर—अनुप्रेक्षा और भावनारूप चिन्तन—होता है। इस प्रकार से बहुत वस्तुओं में संक्रमण के होने पर ध्यान का प्रवाह चलता रहता है[2]।

यही बात आदिपुराण में भी श्रेणिक के प्रश्न के उत्तरस्वरूप गौतम गणधर के द्वारा इस प्रकार कहलायी गई है—एक वस्तु में एकाग्रता रूप से जो चिन्ता का निरोध होता है उसे ध्यान कहा जाता है और वह जिसके वज्रर्षभनाराचसंहनन होता है उसके अन्तर्मुहूर्त काल तक ही होता है। जो स्थिर अध्यवसान है उसका नाम ध्यान है और जो चलाचल चित्त है—चित्त की अस्थिरता है—उसका नाम अनुप्रेक्षा, चिन्ता अथवा भावना है। पूर्वोक्त लक्षणरूप वह ध्यान छद्मस्थों के होता है तथा विश्वदृश्वा—सर्वज्ञ जिनों के—योगास्रव का जो निरोध होता है उसे उपचार से ध्यान माना गया है[3]।

समानता के लिए निम्न पद्य देखिये—

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता॥

ध्यानशतक २.

स्थिरमध्यवसानं यत् तद् ध्यानं यच्चलाचलम्।
सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा॥

आदिपुराण २१-९.

ध्यान के भेद

पश्चात् ध्यानशतक में ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार भेदों का निर्देश करते हुए उनमे अन्तिम दो ध्यानों को—धर्म और शुक्ल को—निर्वाण का साधक तथा आर्त और रौद्र ध्यानों को संसार का कारण बतलाया गया है[4]।

१. षट्खण्डागम के ऊपर धवला टीका के रचयिता आचार्य वीरसेन स्वामी के समक्ष भी प्रकृत ध्यानशतक रहा है और उन्होंने उसके वर्गणा खण्ड के अन्तर्गत कर्म-अनुयोगद्वार मे तपःकर्म का व्याख्यान करते हुए यथावसर उसकी ४०-५० गाथाओं को भी उद्धृत किया है (देखिये 'ध्यानशतक : एक परिचय' शीर्षक लेख—अनेकान्त वर्ष २४, किरण ६, पृ० २७१-७७); इसलिए यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सम्भव है धवला पर से ही आ० जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में उस प्रकार से ध्यान का विवेचन किया हो; फिर भी आर्त और रौद्र ध्यानों के विवेचन पर भी, जो धवला में नहीं है, ध्यानशतक का प्रभाव रहा है। यहाँ यह स्मरणीय है कि आ. जिनसेन आ. वीरसेन स्वामी के शिष्य रहे है।

२. ध्यानशतक २-४. ३. आदिपुराण २१, ८-१०.
४. ध्यानशतक ५.

तदनन्तर आदिपुराण में सामान्य ध्यान से सम्बद्ध कुछ प्रासंगिक चर्चा करते हुए (११-२६) आगे कहा गया है कि ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का माना गया है, इसका कारण शुभ व अशुभ अभिप्राय (चिन्तन) है। उक्त प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यानों में प्रत्येक दो दो प्रकार का है। इस प्रकार से ध्यान चार प्रकार का कहा गया है—आर्त, रौद्र (ये दो अप्रशस्त), धर्म और शुक्ल (ये दो प्रशस्त)। इनमें आदि के दो—आर्त और रौद्र—संसारवर्धक होने से हेय तथा अन्तिम दो—धर्म और शुक्ल—योगी जनो के लिए उपादेय हैं[१]।

आर्तध्यान

आगे ध्यानशतक में चार प्रकार के आर्तध्यान का स्वरूप दिखलाते हुए वह किसके होता है, किसके नहीं होता है, तथा उसका फल क्या है; इसका निर्देश करते हुए उसके विषय मे कुछ शका-समाधान भी किया गया है। तत्पश्चात् उक्त आर्तध्यान मे सम्भव लेश्या, उसके ज्ञापक हेतु और गुणस्थान के अनुसार स्वामी का भी उल्लेख किया गया है[२]।

इसी प्रकार आदिपुराण मे भी उक्त चार प्रकार के आर्तध्यान के स्वरूप को प्रगट करते हुए उसके स्वामी, लेश्या, काल, आलम्बन, भाव, फल और परिचायक लिगो का निर्देश किया गया है[३]।

रौद्रध्यान

आर्तध्यान के पश्चात् ध्यानशतक मे रौद्रध्यान के स्वरूप को बतला कर वह किस प्रकार के जीव के होता है, उसके रहते हुए लेश्यायें कौन सी सम्भव हैं, तथा उसके परिचायक लिग कौन से है; इसका विवेचन किया गया है[४]।

आदिपुराण मे भी रौद्रध्यान का विचार करते हुए प्रथमत: उसके निरुक्तार्थ (प्राणिनां रोदनाद् रुद्र:, तत्र भवं रौद्रम्) को प्रगट किया गया है। तत्पश्चात् उसके हिंसानन्द आदि चार भेदो का नामनिर्देश करते हुए यह कहा गया है कि वह प्रकृष्टतर तीन दुर्लेश्याओं प्रभाव से वृद्धिगत होकर छठे गुणस्थान से पूर्व पाच गुणस्थानों में सम्भव है व अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। अनन्तर उसके उक्त चार भेदों का स्वरूप बतलाकर उसके परिचायक लिगों व फल का निर्देश किया गया है। हिंसानन्द के प्रसग में उसके लिए सिक्थ्य मत्स्य और अरविन्द नामक विद्याधर राजा का उदाहरण दिया गया है[५]।

आदिपुराण में कुछ विशेष कथन

तदनन्तर यहा यह कहा गया है कि अनादि वासना के निमित्त से ये दोनों अप्रशस्त ध्यान विना ही प्रयत्न के होते हैं। इन दोनों ध्यानों को छोड़कर मुनिजन अन्तिम दो (धर्म व शुक्ल) ध्यानो का अभ्यास करते है। उत्तम ध्यान की सिद्धि के लिए यहां सामान्य ध्यान की अपेक्षा उसका कुछ परिकर्म[६] (देश, काल एवं आसन आदिरूप कुछ विशेष सामग्री) अभीष्ट बतलाया है[७]।

यह परिकर्म का विवेचन यद्यपि यहा सामान्य ध्यान को लक्ष्य मे रखकर किया गया है, फिर भी इस प्रसंग में कुछ ऐसा भी कथन किया गया है जो ध्यानशतक में धर्मध्यान के प्रकरण मे उपलब्ध होता है व जिससे वह विशेष प्रभावित भी है। उदाहरणार्थ दोनों ग्रन्थो के इन पद्यो का मिलान किया जा सकता है—

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुसग-कुसीलवज्जियं जइणो।
ठाणं वियण भणियं विसेसओ झाणकालम्मि॥

ध्यानशतक ३५.

स्त्री-पशु-क्लीब-संसक्तरहितं विजनं मुने:।
सर्वदैवोचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषत:॥

आ. पु. २१-७७.

× × ×

जच्चिय देहावत्था जिया ण झाणोवरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा॥

ध्या. श. ३९.

---

१. आदिपुराण २१, ११-२९.

२. ध्यानशतक ६-१८.

३. आ. पु. २१, ३१-४१.

४. ध्यानशतक १९-२७.

५. आ. पु. २१, ४२-५३.

६. ध्यान के परिकर्म का विचार तत्त्वार्थवार्तिक (९, ४४) और भगवती आराधना (१७०६-७) में भी किया गया है।

७. आ. पु. २१, ५४-८४.

देहावस्था पुनर्यैव न स्याद् ध्यानोपरोधिनी।
तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत् स्थित्वाऽऽसित्वाऽधिशय्य वा ॥

आ. पु. २१–७५.

× × ×

सव्वासु वट्टमाणा मुणम्रो जं देस-काल-चेट्ठासु।
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा ॥

ध्या. श. ४०.

यद्देश-काल-चेष्टासु सर्वास्वेव समाहिताः।
सिद्धाः सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ति नात्र तन्नियमोऽस्त्यतः ॥

आ. पु. २१–८२.

आदिपुराणगत इन तीनों श्लोको मे ध्यानशतक की गाथाओं का भाव तो पूर्णतया निहित है ही, साथ ही उनके शब्दों के संस्कृत रूपान्तर भी प्रायः जैसे के तैसे लिए गये हैं।

इस प्रकार परिकर्म की प्ररूपणा के बाद यहां ध्याता का लक्षण, ध्येय, ध्यान और फल; इन चार के कहने की प्रतिज्ञा की गई है और तदनुसार आगे क्रम से उनकी प्ररूपणा भी की गई है[1]।

ध्येय की प्ररूपणा के बाद ध्यान का कथन करते हुए यहां यह कहा गया है कि एक वस्तुविषयक प्रशस्त प्रणिधान का नाम ध्यान है, जो धर्म्य और शुक्ल के भेद से दो प्रकार का है। यह प्रशस्त प्रणिधानरूप ध्यान मुक्ति का कारण है[2]।

यह कथन यद्यपि सामान्य ध्यान के आश्रय से किया गया है, फिर भी जैसा कि पाठक ऊपर देख चुके है, उसमे जो देश, काल और आसन आदि की प्ररूपणा की गई है वह ध्यानशतक के धर्मध्यान प्रकरण से काफी प्रभावित है।

पूर्वोक्त ध्याता की प्ररूपणा मे यहा यह कहा गया है कि जिन ज्ञान-वैराग्य भावनाओं का पूर्व मे कभी चिन्तन नहीं किया है उनका चिन्तन करने वाला मुनि ध्यान मे स्थिर होता है। वे भावनाये ये है—ज्ञानभावना, दर्शनभावना, चारित्रभावना और वैराग्यभावना। इन चारों भावनाओं के स्वरूप का भी यहा पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है[3]।

इस कथन का आधार भी ध्यानशतक रहा है। वहां धर्मध्यान के बारह अधिकारो मे प्रथम अधिकार भावना ही है। इस प्रसंग मे निम्न गाथा व श्लोक का मिलान कीजिए—

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य णाण-दंसण-चरित्त-वेरग्गजणियाओ ॥

ध्या. श. ३०.

भावनाभिरसमूढो मुनिर्ध्यानस्थिरीभवेत्।
ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्योपगताश्च ताः ॥

आ. पु. २१–९५.

इसी प्रसंग मे आदिपुराण मे वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षण, परिवर्तन और सद्धर्मदेशन इनको ज्ञानभावना कहा गया है[4]। ध्यानशतककार ने इन्हे धर्मध्यान के आलम्बनरूप से ग्रहण किया है[5]। ज्ञानभावना का स्वरूप दिखलाते हुए ध्यानशतक मे यह कहा गया है कि ज्ञान के विषय मे किया जाने वाला नित्य अभ्यास मन के धारण—अशुभ व्यापार से रोककर उसके अवस्थान—को तथा सूत्र व अर्थ की विशुद्धि को भी करता है। जिसने ज्ञान के आश्रय से जीव-अजीवादि सम्बन्धी गुणो की यथार्थता को जान लिया है वह अतिशय स्थिरबुद्धि होकर ध्यान करता है[6]।

धर्मध्यान

ध्यानशतक मे धर्मध्यान की प्ररूपणा करते हुए उस पर आरूढ़ होने के पूर्व मुनि को किन-किन बातों का जान लेना आवश्यक है, इसका निर्देश करते हुए इन बारह अधिकारो की सूचना की गई है—१ भावना, २ देश, ३ काल, ४ आसनविशेष, ५ आलम्बन, ६ क्रम, ७ ध्यातव्य, ८ ध्याता, ९ अनुप्रेक्षा, १० लेश्या, ११ लिंग और १२ फल।

इनमे से आदिपुराण में सामान्य ध्यान के परिकर्म के

---

१. जैसे—ध्याता ८५-१०३, ध्येय १०४-३१, ध्यान १३२, फल—धर्मध्यान १६२-६३, शुक्ल १८६.
२. आ. पु. २१-१३२.
३. आ. पु. २१, ९४-९९.
४. आ. पु. २१-९६.
५. ध्या. श. ४२.
६. ध्या. श. ३१.

प्रसंग में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; देश[1], काल[2], आसनविशेष[3] और आलम्बन[4] की प्ररूपणा की गई है जो ध्यानशतक से बहुत कुछ प्रभावित है।

ध्यातव्य की प्ररूपणा करते हुए ध्यानशतक में ध्यान के विषयभूत (ध्येयभूत) आज्ञा, अपाय, विपाक और द्रव्यों के लक्षण-संस्थानादि इन चार की प्ररूपणा की गई है[5]।

ध्यातव्य या ध्येय के भेद से जो धर्मध्यान के आज्ञा-विचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद निष्पन्न होते है उनकी प्ररूपणा आदिपुराण मे भी यथाक्रम से की गई है[6]।

ध्यानशतक मे आज्ञा की विशेषता को प्रगट करते हुए जो अनेक विशेषण दिये गये है उनमें से अनादि-निधना, भूतहिता, अमिता, अजिता (अजय्या) और महानुभावा; इन विशेषणों का उपयोग आदिपुराण मे भी किया गया है[7]।

ध्यातव्य के चतुर्थ भेद (संस्थान) की प्ररूपणा करते हुए ध्यानशतक में द्रव्यो के लक्षण, संस्थान, आसन (आधार), विधान (भेद) और मान (प्रमाण) को तथा उत्पादादि पर्यायों के साथ पचास्तिकायस्वरूप लोक, तद्-गत पृथिवियों, वातवलयो एव द्वीप-समुद्रादिकों को चिन्त-नीय (ध्येय) बतलाया है। इसके अतिरिक्त उपयोगादि-स्वरूप जीव व उसके कर्मजनित ससाररूप समुद्र को दिखलाते हुए उससे पार होने के उपाय का भी विचार करने की प्रेरणा की गई है।

इसी प्रकार आदिपुराण मे भी संस्थानविचय नामक चतुर्थ धर्मध्यान की प्ररूपणा करते हुए लोक के आकार, जीवादि तत्त्वो और द्वीप-समुद्रो एव वातवलयो आदि को चिन्तनीय कहा गया है। साथ ही वहां यह भी कहा गया है कि जीवभेदों एवं उनके गुणों का चिन्तन करते हुए उनका जो अपने ही पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से ससार-समुद्र में परिभ्रमण हो रहा है उसका तथा उससे पार होने के उपाय का भी विचार करना चाहिए। तुलना के रूप में निम्न गाथायें व श्लोक द्रष्टव्य है—

खिइ-वलय-दीव-सागर-नरय-विमाण-भवणाइसंठाणं।
वोमाइपइट्ठाणं निययं लोगट्ठिइविहाणं॥
ध्या. श. ५४.

द्वीपाब्धि-वलयानद्रीन् सरितश्च सरांसि च।
विमान-भवन-व्यन्तरावास-नरकक्षितीः॥
आ. पु. २१-१४९.

× × ×

तस्स य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसाय-पायालं।
वसणसय-सावयमणं मोहावत्तं महाभीमं॥
ध्या. श. ५६.

तेषां स्वकृतकर्मानुभावोत्थमतिदुस्तरम्।
भवाब्धिं व्यसनावर्तं दोष-यादःकुलाकुलम्॥
आ. पु. २१-१५२.

× × ×

किं बहुणा सव्वं चिय जीवाइपयत्थवित्थरोवेयं।
सव्वनयसमूहमयं झाएज्जा समयसब्भावं॥
ध्या. श. ६२.

किमत्र बहुनोक्तेन सर्वोऽप्यागमविस्तरः।
नयभङ्गशताकीर्णो ध्येयोऽध्यात्मविशुद्धये॥

आगे आदिपुराण मे उक्त धर्मध्यान के काल व स्वामी का निर्देश करते हुए कहा गया है कि उसका अवस्थान अन्तर्मुहूर्त काल रहता है तथा वह अप्रमत्त दशा का आलम्बन लेकर अप्रमत्तों में परम प्रकर्ष को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उसकी स्थिति आगमपरम्परा के अनुसार सम्यग्दृष्टियो मे और शेष संयतासंयत व प्रमत्त-संयतों में भी जानना चाहिए। साथ ही उसे प्रकृष्ट शुद्धि को प्राप्त तीन लेश्याओं से वृद्धिगत बतलाया गया है[8]।

१. आ. पु. २१, ५७-५८ व ७६-८०.
२. वही २१, ८१-८३.
३. वही २१, ५९-७५.
४. वही २१-८७
५. ध्या. श.—आज्ञा ४५-४९, अपाय ५०, कर्मविपाक ५१, संस्थान ५२-६०.
६. आ. पु.—आज्ञा २१, १३५-४१, अपाय १४१-४२, विपाक १४३-४७, संस्थान १४८-५४.
७. ध्या. श. ४५-४६; आ. पु. २१, १३७-३८.
८. आ. पु. २१, १५५-५६.

तदनन्तर यहाँ धर्मध्यान से सम्बद्ध क्षायोपशमिक भाव का निर्देश करते हुए उसके अभ्यन्तर और बाह्य चिह्नों की सूचना की गई है। फल इसका पाप कर्मों की निर्जरा और पुण्योदय से देवसुख की प्राप्ति बतलाया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि उसका साक्षात् फल स्वर्ग की प्राप्ति और पारम्परित मोक्ष की प्राप्ति है। इस ध्यान से च्युत होने पर मुनि को अनुप्रेक्षाओं के साथ भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए, जिससे ससार का अभाव किया जा सके[1]।

ध्यानशतक मे जिन १२ अधिकारो के द्वारा धर्मध्यान की प्ररूपणा की गई है उनमे धर्मध्यान के स्वामी, लेश्या और फल आदि का विवेचन यथावसर किया ही गया है। स्वामी के विषय में प्रकृत दोनों ग्रन्थों मे कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है। यथा—

ध्यानशतक मे धर्मध्यान के ध्याता कौन होते है, इसका विचार करते हुए कहा गया है कि सब प्रमादो से रहित मुनि तथा उपशान्तमोह और क्षीणमोह उसके ध्याता कहे गये है। उपशान्तमोह और क्षीणमोह का अर्थ हरिभद्रसूरि ने उसकी टीका मे उपशामक निर्ग्रन्थ और क्षपक निर्ग्रन्थ किया है। अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वह धर्मध्यान सातवें अप्रमत्तसयत गुणस्थान से बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है[2]।

परन्तु आदिपुराण मे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उक्त धर्मध्यान के स्वामित्व का विचार करते हुए उसे चौथे असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से सातवे अप्रमत्तसयत गुणस्थान तक ही बतलाया गया है[3]।

यह मान्यता तत्त्वार्थवार्तिक का अनुसरण करने वाली है, तत्त्वार्थवार्तिककार के सामने यह पूर्वोक्त मान्यता रही है कि वह धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत के तथा उपशान्तमोह और क्षीणमोह के होता है[4]। इसीलिए वहां यह शंका उठायी गई है कि धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत के होता है? इसका निराकरण करते हुए वहां यह कहा गया है कि ऐसा मानने पर इससे पूर्व के असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत गुणस्थानों में उसके अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। आगे पुनः यह दूसरी शंका उठायी गयी है कि वह उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानों में होता है? इसका भी निराकरण करते हुए वहां कहा गया है कि यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर उक्त दोनों गुणस्थानों में जो शुक्लध्यान होता है उसके अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि इन दोनों गुणस्थानो मे धर्म्य और शुक्ल इन दोनों ही ध्यानों को स्वीकार किया जाय तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि आर्ष (आगम) में धर्म्यध्यान को उपशम और क्षपक इन दोनों ही श्रेणियो में नही माना गया है तथा उसे वहाँ पूर्व के असयतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में स्वीकार किया गया है[5]। वह आर्ष कौनसा रहा है, यह यहां स्पष्ट नहीं है।

शुक्लध्यान

शुक्लध्यान का निरूपण करते हुए आदिपुराण में उसके आम्नाय के अनुसार शुक्ल और परमशुक्ल ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें छद्मस्थों के शुक्ल और केवलियों के परमशुक्ल कहा गया है[6]। इन भेदों का संकेत ध्यानशतक मे भी उपलब्ध होता है, पर वहां परम शुक्ल से समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नाम का चतुर्थ शुक्ल ध्यान ही अभीष्ट रहा दिखता है[7]।

आगे दोनों ग्रन्थों मे जो शुक्लध्यान के पृथक्त्व-वितर्क सविचार आदि चार भेदों का निरूपण किया गया है सह बहुत कुछ समानता रखता है।

ध्यानशतक मे शुक्लध्यानविषयक क्रम का निरूपण करते हुए एक उदाहरण यह दिया गया है कि जिस प्रकार सब शरीर में व्याप्त विष को मन्त्र के द्वारा क्रम से हीन करते हुए डकस्थान में रोक दिया जाता है और तत्पश्चात् प्रधानतर मन्त्र के योग से उसे डक से भो हटा दिया जाता है, उसी प्रकार तीनों लोकों को विषय

१. आ. पु. २१, १५७–६४.
२. ध्या. श. ६३.
३. आ. पु. २१, १५५-५६.
४. आज्ञाऽपाय-विपाक-सस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। उपशान्त-क्षीणकषाययोश्च। त. सू. (श्वे.) ९, ३७-३८.
५. त. वा. ९, ३६, १३-१५.
६. आ. पु. २१-१६७.
७. ध्या. श. ८९.

करने वाले मन को ध्यान के बल से क्रमशः हीन करते हुए उसे परमाणु में रोका जाता है और तत्पश्चात् जिन-रूप वैद्य उसे उस परमाणु से भी हटा कर मन से सर्वथा रहित हो जाते हैं[1]।

यही उदाहरण कुछ भिन्न प्रकार से आदिपुराण में भी दिया गया है। यथा—वहां कहा गया है कि जिस प्रकार सब शरीर में व्याप्त विष को मन्त्र के सामर्थ्य से खींचा जाता है उसी प्रकार समस्त कर्मरूपी विष को ध्यान के सामर्थ्य से पृथक् किया जाता है[2]।

एक अन्य उदाहरण मेघों का भी दोनों ग्रन्थों मे दिया गया है, जिसमें पूर्णतया समानता है। यथा—

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति।
झाणपवणावहूया तह कम्मघणा विलिज्जंति।।

ध्या. श. १०२

यद्वद् वाताहताः सद्यो विलीयन्ते घनाघनाः।
तद्वत्कर्म-घना यान्ति लयं ध्यानानिलाहताः।।

आ, पु. २१-२१३

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों की ध्यानविषयक वर्णनशैली तथा शब्द, अर्थ और भाव की समानता को देखते हुए इसमे सन्देह नही रहता कि आदिपुराण के अन्तर्गत वह ध्यान का वर्णन ध्यानशतक से अत्यधिक प्रभावित है। यहां इस शका के लिय कोई स्थान नही है कि सम्भव है आदि-पुराण का ही प्रभाव ध्यानशतक पर रहा हो। इसका कारण यह है कि ध्यानशतक पर हरिभद्र सूरि द्वारा एक टीका लिखी गई है, अतः ध्यानशतक की रचना निश्चित ही हरिभद्र के पूर्व में हो चुकी है तथा टीकाकार हरिभद्र सूरि निश्चित ही आचार्य जिनसेन के पूर्ववर्ती हैं। इससे यही समझना चाहिए कि आदिपुराण के रचयिता जिनसेन स्वामी के समक्ष प्रकृत ध्यानशतक रहा है और उन्होंने उसमे ध्यान का वर्णन करते हुए उसका पूरा उप-योग भी किया है।

१. ध्या. श. ७१.
२. आ. पु २१-२१४।

बुद्धिमान् पुरुषार्थी

त्यजति न विदधानः कार्यमुद्विज्य धीमान्,
खलजनपरिवृत्तेः स्पर्धते किन्तु तेन।
किमु न वितनुतेऽर्कः पद्मबोधं प्रबुद्ध-
स्तदपहृतिविधायी शीतरश्मिर्यदीह।।

बुद्धिमान् पुरुषार्थी प्रारम्भ किये हुए कार्य को दुष्टजन की प्रवृत्ति से उद्वेग को प्राप्त होकर छोड़ नहीं देता, किन्तु उससे स्पर्धा करता है—दिखाये गये दोषों से दूर रह कर उसे पूरा करने का ही प्रयत्न करता है। सो उचित ही है—सूर्य के द्वारा विकसित किये गये कमलों को यद्यपि चन्द्रमा मुकुलित किया करता है, फिर भी उससे खिन्न न होकर सूर्य पुनः उदय को प्राप्त होता हुआ उन्हें विकसित करता है।

द्रोणगिरि-क्षेत्र

पं० बलभद्र जी न्यायतीर्थ

स्थिति और मार्ग—द्रोणगिरि मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले मे विजावर तहसील में स्थित है। द्रोणगिरि क्षेत्र पर्वत पर है। वहाँ पहुँचने के लिए २३२ सीढ़ियाँ चढनी पडनी है। सीढ़ियाँ पक्की बनी हुई हैं। पर्वत की तलहटी मे सेंधपा नामक छोटा-सा गाँव है। यहाँ पहुँचने के लिए सेण्ट्रल रेलवे के सागर या हरपालपुर स्टेशन पर उतरना चाहिए। सुविधानुसार मऊ, महोबा या सतना भी उतर सकते हैं। प्रत्येक स्टेशन से क्षेत्र लगभग १०० कि० मी० पडता है। सभी स्थानों से पक्की सडक है। कानपुर-सागर रोड अथवा छतरपुर-सागर रोड पर मलहरा ग्राम है। मलहरा से द्रोणगिरि ७ कि० मी० है। पक्की सडक है। सागर स्टेशन से मलहरा तक बसें चलती हैं। यदि पूरी बस की सवारी हों तो बस क्षेत्र तक चली जाती है। अन्यथा नियमित बसों द्वारा मलहरा पहुँच कर वहाँ से बैलगाड़ी द्वारा जा सकते हैं।

सेंधपा ग्राम कठिन और श्यामला नामक नदियों के बीच बसा हुआ है। निरन्तर प्रवाहित रहने वाली इन नदियों ने इस स्थान की प्राकृतिक सुन्दरता को अत्यन्त आह्लाददायक बना दिया है। ग्राम में जाते ही मन में शान्ति अनुभव होने लगती है। ग्राम से सटा हुआ द्रोणगिरि पर्वत है। यहाँ प्रकृति ने तपोभूमि के उपयुक्त सुषमा का समस्त कोष सुलभ कर दिया है। सघन वृक्षावली, निर्जन-प्रदेश, वन्य पशु, चन्द्रभागा नदी, पर्वत से झरते हुए निर्झर से बने दो निर्मल कुण्ड; ये सभी मिलकर इसे तपोभूमि बनाते हैं।

निर्वाणभूमि—द्रोणगिरि निर्वाण-क्षेत्र है। प्राकृत निर्वाणकाण्ड मे इस सम्बन्ध में निम्न लिखित उल्लेख है—

फलहोडी बडगामे पच्छिमभायम्मि दोणगिरिसिहरे।
गुरुदत्तादिमुणिदा णिव्वाण गया णमो तेसिं॥

अर्थात् फलहोडी बडगाँव के पश्चिम मे द्रोणगिरि पर्वत है। उसके शिखर से गुरुदत्त आदि मुनिराज निर्वाण को प्राप्त हुए। उन्हें मै नमस्कार करता हूँ।

संस्कृत निर्वाणभक्ति में केवल क्षेत्र का नाम द्रोणीमान् दिया है[1]। उसका कोई परिचय अथवा वहाँ से मुक्त होने वाले मुनि का नाम नहीं दिया है।

निर्वाणकाण्ड मे द्रोणगिरि की पूर्व दिशा में जिस फलहोड़ी बडगाव का उल्लेख किया है, वह गाँव आजकल नही मिलता है। इसके निकट सेंधपा ग्राम है, जिसका कोई उल्लेख नही है। सम्भव है, यहाँ प्राचीन काल में फलहोडी बडगाँव रहा हो और वह किसी कारणवश नष्ट हो गया हो। वास्तव में सेंधपा गाँव विशेष प्राचीन प्रतीत नही होता। कहा तो यह जाता है कि जिस भूमि पर यह ग्राम बसा हुआ है वह निकटवर्ती ग्राम की श्मशान भूमि थी। वैसे अब भी यहाँ किसी ग्राम के अवशेष प्राप्त होते हैं और उन अवशेषों मे सैकडों खण्डित जैन मूर्तियां भी बिखरी पड़ी है। जैनेतर लोग अनेक जैन मूर्तियों को यहाँ से ले गये हैं और उन्हें जगह-जगह चबूतरो पर विराजमान करके विभिन्न देवी-देवताओं के नाम से पूजते हैं। पर्वत की तलहटी में एक प्राचीन जैन चैत्यालय अब भी खडा हुआ है, जिसे लोग बंगला कहते हैं। यदि यहाँ खुदाई की जाय तो यहाँ पर पुरातत्त्व की विपुल सामग्री मिलने की सम्भावना है।

निर्वाणकाण्ड के इल्लेख से यह ज्ञात होता है कि यहाँ से न केवल गुरुदत्त मुनि ही मोक्ष पधारे है, अपितु अन्य मुनि भी मुक्त हुए है। वास्तव में तपोभूमि के

---

१. द्रोणीमति प्रबलकुण्डलमेण्ढ्रके च,
वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे।
ऋष्यद्रिके च विपुलाद्रिबलाहके च,
विन्ध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च॥२९

उपर्युक्त रमणीयता को देखते हुए प्राचीन काल में यहाँ तपस्या के लिए आना अधिक सम्भव था और अनेक मुनियों का यहाँ से निर्वाण प्राप्त करना भी असम्भव नहीं था।

द्रोणगिरि नामक एक पर्वत ऋषिकेश से नीली घाटी की ओर जाते हुए १६६ मील दूर जुम्मा से दिखाई पड़ता है। यह कुमायूं में है। इसे दूनगिरि भी कहते हैं। किन्तु इस पर्वत के निकट फलहोड़ी नामक कोई ग्राम कभी रहा था, ऐसे प्रमाण नहीं मिलते। अतः यह द्रोणगिरि गुरुदत्त आदि मुनियों की तपोभूमि रहा हो, ऐसी सम्भावना प्रतीत नहीं होती। इतना अवश्य है कि हिन्दू परम्परा में बाल्मीकि तथा तुलसीकृत रामायणों मे लक्ष्मण के शक्ति लगने पर हनुमान द्वारा जिस द्रोणगिरि पर्वत से संजीवनी बूटी लाने के उल्लेख मिलते हैं, वह द्रोणगिरि हिमालय शृंखला में स्थित यही द्रोणगिरि था, ऐसी मान्यता प्रचलित है। हिन्दू मान्यता के अनुसार विष्णु ने कूर्मावतार यहीं लिया था[1]। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वर्तमान सेंधपा ग्राम के निकटस्थ द्रोणगिरि ही वह पर्वत है, जहाँ से हनुमान संजीवनी बूटी ले गये थे। इन विद्वानों की धारणा है कि श्री रामचन्द्र वनवास के समय ओरछा भी पधारे थे। इसके निकट 'रमन्ना' (रामारण्य) बन मे ठहरे थे और उस समय वे द्रोणगिरि पर्वत पर भी आये थे।

प्राचीन शास्त्रों में द्रोणगिरि का उल्लेख—निर्वाणकाण्ड और निर्वाणभक्ति के अतिरिक्त द्रोणगिरि या द्रोणिमान् पर्वत का उल्लेख भगवती-आराधना, आराधनासार, आराधनाकथाकोष, हरिषेणकथाकोष आदि ग्रन्थों में भी आया है। भगवती-आराधना में आचार्य शिवकोटि इस प्रकार वर्णन करते हैं—

हत्थिणपुरगुरुदत्तो सम्मलिथाली व दोणिमंतम्मि।
डज्झंतो अधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५५२॥

अर्थात् हस्तिनापुर के निवासी गुरुदत्त मुनिराज द्रोणिमान् पर्वत के ऊपर संबलिथाली के समान जलते हुए उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए। संबलिथाली का अर्थ है—एक बर्तन जिसमें घास-फूंस भरी हो और उसका मुख नीचे की ओर हो तथा उसके चारों ओर अग्नि लगी हो। अग्नि लगने पर जिस प्रकार भीतर का घास-फूंस जलने लगता है, उसी प्रकार द्रोणिमान् पर्वत के ऊपर गुरुदत्त मुनिराज भी जलकर मुक्त हुए।

इसी प्रकार अन्यत्र भी इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

वास्तव्यो हास्तिने धीरो द्रोणीमति महीधरे।
गुरुदत्तो यतिः स्वार्थं जग्राहानलवेष्टितः॥

अर्थात् हस्तिनापुर के निवासी गुरुदत्त मुनि ने द्रोणीमान् पर्वत पर अग्नि लगने से आत्मा के प्रयोजन (स्वार्थ) को सिद्ध किया।

पौराणिक आख्यान—भगवती-आराधना और आराधनासार नामक शास्त्रों में द्रोणगिरि पर्वत पर गुरुदत्त मुनिराज के ऊपर हुए जिस उपसर्ग की ओर संकेत किया है, उसके सम्बन्ध में हरिषेणकृत कथाकोष में विस्तृत कथानक दिया गया है जो इस प्रकार है—

श्रावस्ती नगरी का शासक उपरिचर पद्मावती, अमितप्रभा, सुप्रभा और प्रभावती नामक चारों रानियों के साथ प्रमदवन में विहार के लिए गया। ये जब सुदर्शन बावड़ी मे क्रीड़ा कर रहे थे, तभी विद्युद्दंष्ट्र नामक एक विद्याधर अपनी पत्नी मदनवेगा के साथ विमान ले आकाश में जा रहा था। विद्याधरी जल-क्रीड़ा करते हुए राजा और रानियों को देखकर बोली—धन्य हैं ये रानियाँ जो अपने पति के साथ जल-क्रीड़ा में आसक्त हैं। पत्नी के मुख से अन्य पुरुष की प्रशंसा सुनकर विद्याधर को बड़ा बुरा लगा। गुस्से के मारे वह विमान को लौटा ले गया और अपनी पत्नी को अपने घर छोड़कर वह पुनः उसी बावड़ी के पास आया और एक बड़ी भारी शिला से बावड़ी को ढक दिया। इससे दम घुटकर पांचों प्राणी मर गये। राजा क्रोध में मरकर सांप बना तथा चारों रानियां सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्वर्ग में देवियां बनीं। वहाँ अवधिज्ञान से पूर्व भव का वृत्तान्त जानकर अपने पूर्व भव के पति के जीव को सम्बोधन करने आईं। तभी उस राजा का पुत्र अनन्तवीर्य उस वन में विहार करने आया। वहाँ उसने एक शिलातल पर विराजमान अवधिज्ञानी

१. Geographical Dictionary of ancient India byNandalal Day.

सागरसेन नामक मुनिराज को देखा। राजा अनन्तवीर्य उनके निकट आया और दर्शन वन्दन करके उनके पास बैठ गया। उसने मुनिराज से प्रश्न किया—भगवन्! मेरे पिता मरकर किस गति में उत्पन्न हुए हैं? मुनिराज बोले—वापी में जब तेरा पिता रानियों के साथ जल-क्रीडा कर रहा था, तभी विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर ने शिला से वापी को ढक दिया, जिससे मरकर वह वहीं निकट ही सांप हुआ है। तू जा और उससे कहना—'उपरिचर' तू साधु के निकट जा। तेरी बात सुनकर वह बिल से बाहर निकलकर धर्म ग्रहण करेगा।

मुनिराज के वचन सुनकर राजा अनन्तवीर्य बिल के निकट जाकर मुनिराज के कहे अनुसार बोला। उसकी बात सुनकर वह सर्प मुनिराज के समीप गया। मुनि ने उसे उपदेश दिया। उपदेश सुनकर सर्प को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपनी आयु अल्प जानकर हृदय से धर्म ग्रहण कर लिया और कुछ दिनों बाद अनशन करते हुए उसकी मृत्यु हो गई। शुभ भावों से मरकर वह नागकुमार जाति का देव हुआ। अवधिज्ञान से अपने पूर्व-भव जानकर वह देव अनन्तवीर्य के पास आया। देव के वचन सुनकर अनन्तवीर्य को वैराग्य हो गया। वह अपने सुवासु नामक पुत्र को राज्य देकर सागरसेन मुनि के समीप निर्ग्रन्थ मुनि बन गया और घोर तपस्या द्वारा कर्मों का नाश करके मुक्त परमात्मा बन गया।

नागकुमार देव सुमेरु पर्वत आदि पर जाकर जिनालयों की वन्दना किया करता था। एक दिन विमान मे जाते हुए उसे विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर दिखाई पड़ा। पूर्वजन्म की घटना का स्मरण आते ही उसे भयानक क्रोध आया और उसे मय स्त्री के समुद्र में ले जाकर डुबो दिया। विद्युद्-दंष्ट्र अशुभ परिणामों से मरकर प्रथम नरक में नारकी बना। वहाँ से आयु पूर्ण होने पर वह द्रोणगिरि पर सिंह हुआ।

नागकुमार मरकर हस्तिनापुर-नरेश विजयदत्त की विजया रानी से गुरुदत्त नामक पुत्र हुआ। जब वह यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ तो पिता गुरुदत्त का राज्याभिषेक करके मुनि बन गये। गुरुदत्त आनन्दपूर्वक राज्य-शासन करने लगा। एक बार उसने लाटदेश में द्रोणगिरि की पूर्वोत्तर दिशा में स्थित चन्द्रपुरी नगरीके राजा चन्द्रकीर्ति से उसकी छोटी कन्या अभयमती मांगी। किन्तु राजा ने अपनी कन्या का विवाह गुरुदत्त के साथ करने से इन्कार कर दिया। इससे रुष्ट होकर गुरुदत्त ने चन्द्रकीर्ति पर आक्रमण कर दिया। अन्त में चन्द्रकीर्ति को बाध्य होकर अपनी पुत्री का विवाह गुरुदत्त के साथ करना पड़ा। गुरुदत्त कुछ समय वहीं ठहर गया।

एक दिन ग्राम के कुछ लोग गुरुदत्त नरेश के पास आये और हाथ जोड़कर कहने लगे—"देव! द्रोणीमान् पर्वत पर एक व्याघ्र ने बडा उत्पात कर रखा है। उसने हमारे न केवल गोकुल को, अपितु कई मनुष्यों को भी खा लिया है। आप हमारी रक्षा करें।" प्रजा की करुण पुकार सुनकर राजा गुरुदत्त सैनिकों को लेकर द्रोणीमान् पर्वत पर पहुँचा। सेना के कलकल शब्द से घबडाकर वह सिंह एक गुफा में घुस गया। उसके मारने का अन्य कोई उपाय न देखकर सैनिकों ने गुफा में ईंधन इकट्ठा करके उसमें आग लगा दी। सिंह धुएं और आग के कारण उसी गुफामें मर गया और मरकर चन्द्रपुरी मे भव-धर्म नामक ब्राह्मण के घर में कपिल नामक पुत्र हुआ।

राजा गुरुदत्त अपनी पत्नी को लेकर सैनिकों के साथ हस्तिनापुर लौट आया और राज्य-शासन करने लगा। एक बार सात सौ मुनियों के साथ आचार्य श्रुतसागर नगर के निकट पधारे। उनके उपदेश को सुनकर राजा और रानी दोनों ने दीक्षा ले ली। एक दिन मुनि गुरुदत्त विहार करते हुए द्रोणीमान् पर्वत के निकटस्थ चन्द्रपुरी नगरी के बाहर ध्यान लगाये खड़े थे। कपिल अपनी स्त्री से मध्याह्न बेला में भोजन के लिए कहकर खेत जोतने चला गया। उसी खेत में गुरुदत्त मुनि ध्यानारूढ़ थे। वह खेत पानी से भरा होने के कारण जोतने लायक नहीं था। अतः वह दूसरे खेत को जोतने चला गया। और मुनि से कहता गया कि 'स्त्री भोजन लेकर आवेगी, उससे कह देना कि मैं दूसरे खेत पर गया हूँ।' उसकी स्त्री मध्याह्न में भोजन लेकर आई और वहाँ पति को न पाकर उसने मुनि से पूछा। किन्तु मुनि ने कोई उत्तर नहीं दिया तो वह घर लौट गई।

सन्ध्या तक कपिल भूखा रहा। भूख के मारे गुस्से में भरा हुआ वह घर लौटा और अपनी स्त्री को डाटते हुए कहने लगा—'दुष्टे ! तुझसे रोटी लाने को कह गया था। तू फिर भी रोटी नहीं लाई। मैं सारे दिन भूखा मरता रहा।' स्त्री भयाक्रान्त होकर बोली—"मैं तो रोटी लेकर गई थी, किन्तु तुम वहाँ मिले ही नहीं। मैंने वहाँ खड़े नंगे बाबा से भी पूछा, लेकिन उसने भी कोई जवाब नहीं दिया तो मैं क्या करती, लौट आई।

स्त्री की बात सुनकर अज्ञ कपिल को साधु पर क्रोध आया और विचारने लगा—सारा दोष उस साधु का है। उसी के कारण मुझे भूखा रहना पड़ा। अतः उसे इसका पाठ पढ़ाना चाहिए। यह विचार कर वह फटे-पुराने कपड़े, तेल और आग लेकर फिर खेत में पहुँचा। उसने सिर से पैर तक मुनिराज के शरीर पर चिथड़े लपेटकर और उन पर तेल छिड़क कर आग लगा दी। आग लगते ही मुनिराज का शरीर जलने लगा। किन्तु वे आत्म-ध्यान में लीन थे। उन्हें बाह्य शरीर का लक्ष्य ही नहीं था। वे शुद्ध भावों में लीन रहकर शुक्ल ध्यान में पहुँच गये। तभी उन्हें लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रकट हो गया। चारों निकाय के देव गुरुदत्त मुनिराज के केवलज्ञान की पूजा के लिए वहाँ आये। योगीश्वर गुरुदत्त का यह चमत्कार और प्रभाव देखकर कपिल ब्राह्मण भय से कांपता हुआ उनके चरणों मे जा गिरा और क्षमा-याचना करने लगा। वीतराग भगवान् को न तो उसके अपराध पर रोष ही था और न उसकी क्षमा-याचना पर हर्ष। वे तो रोष-हर्ष आदि से ऊपर थे। फिर कपिल ने भगवान् केवली के मुख से उपदेश सुनकर जन्म-जन्मान्तरों का वैर त्याग कर उन्हीं के चरणों मे दीक्षा ले ली।

विचारणीय प्रश्न—इस कथानक में तीन बातें विचारणीय है। एक तो यह कि गुरुदत्त केवली किस स्थान से मुक्त हुए। इस कथानक मे इस बात का कोई उल्लेख नही किया गया। दूसरी यह कि इस कथानक में द्रोणीमान् या द्रोणगिरि को तोणिमान् पर्वत कहा है तथा उसका उल्लेख चन्द्रपुरी के सन्दर्भ मे इस प्रकार किया गया है—

लाटदेशाभिधे देशे चारुलोक-धनान्विते।
पूर्वोत्तरदिशाभागे तोणिमद्भूधरस्य च॥
आसीच्चन्द्रपुरी रम्या सितप्रासादसंकुला।
बहुलोकसमाकीर्णा धन-धान्यसमन्विता॥
—हरिषेण-कथाकोश, कथा १३९, श्लोक ४५-४६।

इसमें चन्द्रपुरी का वर्णन करते हुए उसे लाटदेश में और तोणिमान् पर्वत की पूर्वोत्तर दिशा (ईशानकोण) में बताया है। इससे ऐसा आभास मिलता है कि तोणिमान् पर्वत लाटदेश में था।

इस कथानक से एक नया प्रश्न भी उभरता है। वह यह कि उनको केवलज्ञान भी द्रोणीमान् (तोणीमान्) पर्वत पर नहीं हुआ था, वह चन्द्रपुरी नगरी के बाहर खेतों में हुआ था।

इन तीन प्रश्नों का समाधान मिलना तथा भगवती आराधना से उसका सामंजस्य स्थापित होना अत्यन्त आवश्यक है। भगवती आराधना के अनुसार द्रोणिमान् पर्वत के ऊपर जलते हुए गुरुदत्त मुनि ने उत्तमार्थ प्राप्त किया। आराधनासार मे भी इसी आशय की पुष्टि की गई है। इसमें भी द्रोणीमान् पर्वत के ऊपर अग्नि लगने पर उन्होंने आत्मप्रयोजन की सिद्धि बताई है। कथाकोश ग्रन्थो में द्रोणीमान् पर्वत के ऊपर तो उपसर्ग होने का प्रायः उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु उस पर्वत के निकट किसी स्थान पर यह भयंकर उपसर्ग हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। निर्वाण-काण्ड मे द्रोणगिरि के शिखर से गुरुदत्त मुनि के निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख है। इसमें उपसर्ग होने का कोई उल्लेख नहीं किया गया। इससे स्पष्ट है कि उपसर्ग के तत्काल बाद ही गुरुदत्त को निर्वाण प्राप्त नहीं हुआ। उपसर्ग द्रोणगिरि पर नहीं हुआ। किन्तु उपसर्ग के पश्चात् उन्हें केवलज्ञान हुआ और निर्वाण द्रोणगिरि पर हुआ। भगवती आराधना और आराधनासार (गा. ५०) में उपसर्ग का उल्लेख करते हुए द्रोणीमान् पर्वत पर जिस उत्तमार्थ की प्राप्ति या आत्मप्रयोजन की सिद्धि का उल्लेख किया गया है, उससे आचार्यों का अभिप्राय केवलज्ञान की प्राप्ति से ही है। जैसा कि कथाकोश ग्रन्थों से भी समर्थन प्राप्त होता है। हरिषेण कथाकोष में चन्द्रपुरी के निकट जिस स्थान पर यह घटना घटी वह, लगता है,

द्रोणगिरि के निकट ही था। इसलिए उसे द्रोणगिरि की उपत्यका न लिखकर द्रोणगिरि ही लिख दिया। निर्वाण-काण्ड की स्पष्ट सूचना से हरिषेण कथाकोश की अधूरी सूचना की पूर्ति हो जाती है। वह यह कि गुरुदत्त की मुक्ति द्रोणगिरि पर हुई।

अब सबसे अधिक विचारणीय समस्या रह जाती है कि द्रोणगिरि कहाँ पर था? हरिषेण की सूचनानुसार वह लाटदेश में था। यदि तोणीमान् को चन्द्रपुरी के निकट न मानकर उससे अत्यधिक दूर खीचने का प्रयत्न करें तो सहज ही प्रश्न उठ सकता है कि फिर द्रोणगिरि का उल्लेख वहाँ करने की आवश्यकता क्या थी? और उस स्थिति में भगवती आराधना आदि ग्रन्थों के वर्णन की संगति किस प्रकार बैठाई जा सकेगी? एक कल्पना यह भी हो सकती है कि तोणिमान् पर्वत द्रोणीमान् या द्रोणगिरिसे भिन्न था। किन्तु इस कल्पना के मानने पर गुरुदत्त मुनि दो मानने पड़ेंगे। फिर तोणिमान् पर घटित घटना का उपयोग द्रोणीमान् पर्वत के लिए नहीं हो सकेगा। इसलिए यह मानने से कोई हानि नही है कि द्रोणगिरि के कई नाम थे। उसे द्रोणगिरि के अतिरिक्त द्रोणाचल, द्रोणीमान् और तोणिमान् भी कहते हैं।

किन्तु कठिनाई यह रह जाती है कि लाटदेश (गुजरात) में किसी द्रोणगिरि के होने की कोई सूचना नहीं है। किसी प्राचीन स्थल-कोश से भी इसका समर्थन नहीं होता। वर्तमान मे जहाँ द्रोणगिरि (छतरपुर के निकट) माना जाता है, उसके निकट फलहोड़ी गाँव का पता सरकारी कागजों से भी नही लगता। फलहोड़ी और फलौधी की किञ्चित् समानता के कारण फलहोड़ी की पहचान फलौधी से करके उसको द्रोणगिरि के साथ सम्बद्ध करना, द्राविड़ी-प्राणायाम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। किन्तु कुछ शताब्दियों से तो द्रोणगिरि (छतरपुर के निकट वाला) तीर्थ क्षेत्र माना ही जाता रहा है। सम्भव है, वहाँ पर मन्दिर बनाने वालों को मान्यता-विषयक परम्परा का समर्थन मिला हो।

सभी सम्भावनाओं और फलितार्थों पर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि शताब्दियों से जिसे सिद्धक्षेत्र के रूप में मान्यता और जनता की श्रद्धा प्राप्त है वह तीर्थक्षेत्र तो है ही। विशेषतः उस स्थिति में जब कि किसी दूसरे द्रोणगिरि की सम्भावना असिद्ध है। अतः वर्तमान द्रोणगिरि ही सिद्धक्षेत्र है, यह मान लेना पड़ता है।

क्षेत्र-दर्शन—द्रोणगिरि की तलहटी में सेंधपा गांव बसा हुआ है। गांव में एक मन्दिर है। जिसमें आदिनाथ भगवान की मूलनायक भव्य प्रतिमा विराजमान है। यहीं दोमंजिली दो जैन धर्मशालायें बनी हुई हैं। धर्मशाला से दक्षिण की ओर दो फर्लांग दूर पर्वत है। पर्वत के दायें और बायें बाजू से कठिन और श्यामली नदियाँ सदा प्रवाहित रहती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों ये सदा-नीरा पार्वत्य सरिताएँ इस सिद्धक्षेत्र के चरणों को पखार रही हों। पर्वत विशेष ऊंचा नही है। पर्वत पर जाने के लिए २३२ पक्की सीढ़ियाँ बनी हुई है। चारों ओर वृक्षों, वनस्पतियो और लता-गुल्मो ने मिलकर क्षेत्र पर सौन्दर्य-राशि बिखेर दी है।

पर्वत के ऊपर कुल २८ जिनालय बने हुए हैं। इनमें तिगोड़ा वालो का मन्दिर सबसे प्राचीन है। इसे ही बड़ा मन्दिर कहा जाता है। इसमे भगवान आदिनाथ की एक सातिशय प्रतिमा संवत् १५४९ की विराजमान है। सम्मेदशिखर जी के समान यहाँ पर भी चन्द्रप्रभ टोंक, आदिनाथ टोंक आदि टोकें हैं। यही १३ फुट ऊँची एक प्रतिमा का भी निर्माण हुआ है।

अन्तिम मन्दिर पार्श्वनाथ स्वामी का है। नीचे ३ गज ऊँची १॥ गज चौड़ी और ४.५ गज लम्बी एक गुफा बनी हुई है। इस गुफा के सम्बन्ध में विचित्र प्रकार की विविध किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। एक किंवदन्ती यह है कि सेंधपा गाँव का रहने वाला एक भील प्रतिदिन इस गुफा में जाया करता था और कमल का एक सुन्दर फूल लाया करता था। उसका कहना था कि गुफा के अन्त मे दीवाल में एक छोटा छिद्र है। उसमें हाथ डालकर वह फूल तोड़ कर लाता था। उस छिद्र के दूसरी ओर एक विशाल जलाशय है। उसमें कमल खिले हुए हैं। वहाँ अलौकिक प्रभा-पुंज है। बिलकुल इसी प्रकार की किंवदन्ती मांगीतुंगी क्षेत्र पर भी प्रचलित है।

एक दूसरी किंवदन्ती यह है कि यह गुफा १४-१५ मील दूर भीमकुण्ड तक गई है।

इन किंवदन्तियों में तथ्य कितना है, यह जानने का प्रयत्न सम्भवत: आज तक नहीं हुआ। क्षेत्र पर लगभग १३ फुट ऊँचा ४॥ फुट मोटा वर्तुलाकार एक मानस्तम्भ बना हुआ है। स्तम्भ के मूल मे दो-दो इंच की पद्मासन मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। तथा स्तम्भ के शीर्ष भाग मे तीन ओर सवा फुट ऊँची खड्गासन मूर्तियां हैं और एक ओर पद्मासन मूर्ति विराजमान है। प्रत्येक मूर्ति के ऊपर दो दो पंक्तियों में १२-१२ खड्गासन मूर्तियां बनी हुई हैं जो प्राय: तीन इंच ऊँची हैं। इन छोटी मूर्तियों में अनेक खण्डित हैं। कुल मूर्तियों की संख्या १०४ है।

पर्वत की तलहटी से एक मील आगे जाने पर श्यामली नदी का जलकुण्ड बना हुआ है, जिसे कुण्डी कहते है। वहाँ दो जलकुण्ड पास-पास में बने हुए हैं, जिनमें एक शीतल जल का है और दूसरा उष्ण जल का है। यहाँ चारों ओर हर्र, बहेड़ा, आंवला आदि वनौषधियों का बाहुल्य है। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त आकर्षक है। इस वन में हरिण, नीलगाय, रोझ आदि वन्य पशु निर्भयतापूर्वक विचरण करते हैं। कभी-कभी सिंह, तेंदुआ या रीछ भी इधर जल पीने आ जाते हैं।

क्षेत्र पर शिकार-निषेध का राजकीय आदेश—विजावर नरेश राजा भानुप्रताप (रियासतों के विलीनीकरण से पूर्व) के समय से इस तीर्थ पर शिकार आदि खेलना राज्य की ओर से निषिद्ध है। इससे सम्बन्धित फर्मान, जो राज्य दरबार से जारी किया गया था, इस प्रकार है—

नकल हुक्म दरबार विजावर इजलास जनाब येतमाहराम मुंशी शंकरदयाल साहब दीवान रियासत मुसवते दरखास्त जैन पचान सभा सेंधपा जरिये दुलीचन्द बैशाखिया अजना सरक्षक जैन सभा मा॰ जे १२ मई सन् १९३१ ईसवीय दरख्वास्त फर्माये जाने हुक्म न खेलने शिकार क्षेत्र द्रोणगिरि वाकै मौजा सेंधपा पर अजीज इसके कि बिला इजाजत जैन सभा दीगर कौम के लोग क्षेत्र मजकूर पर न जा सके हुक्मी ईजलास खास रकम जदे २५ मई सन् १९३१ ईसवीय ऐमाद कराये जाने मुश्तहरी कोई शख्स वगैर इजाजत जैन सभा पर्वत पर न जाये न शिकार खेले।

(मुहर)

हुक्म हुआ जरिये परचा मुहकमा जगल व मुहकमा पुलिस के वास्ते तामील इत्तला दी जावे। तारीख २८ मई सन् १९३१ ई०।

इस फर्मान द्वारा द्रोणगिरि पर्वत पर जैन समाज का पूरा अधिकार माना गया है तथा जैन सभा की आज्ञा के बिना शिकार खेलने पर पाबन्दी लगा दी गई है।

शोकजनक घटनाएं—इस शताब्दी में क्षेत्र पर दो अत्यन्त शोकजनक घटनाएँ घटित हुई। एक तो वीर सम्वत् २४२० मे। इस समय एक चरवाहे ने पार्श्वनाथ मन्दिर में प्रतिमा के हाथों के बीच में लाठी फंसाकर खण्डित कर दिया था। दूसरी घटना वीर सम्वत् २४५७ के लगभग हुई। उस समय किसी ने पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति को नासिका से खण्डित कर दिया था। अपराधी बाद में पकड़ा गया था और उसे दण्ड भी दिया गया था।

★

सुजनता का लक्षण

हेत्वन्तरकृतोपेक्षे गुण-दोषप्रवर्तिते ।
स्यातामादान-हाने चेत् तद्धि सौजन्यलक्षणम् ॥
—वादीभसिंह

सत्पुरुष उसे समझना चाहिए जो अन्यान्य कारणों की उपेक्षा कर केवल गुणों के कारण वस्तु को ग्रहण करता है और दोषों के कारण उसे छोड़ता है।

बहोरीवन्द प्रतिमा लेख

डा० कस्तूरचन्द 'सुमन'

१. स्वस्ति······[व] दि ६ [भौ] मे श्रीमद गयाकर्ण्ण-
देव विजय रा-

२. ज्ये राष्ट्रकूट कुलोद्भव महासामंताधिपति श्रीमद-
गोल्हणदेवस्य प्रवर्द्धमानस्य ।।

३. श्रीमद गोल्लापूर्वाम्नाये वेल्लप्रभाटिकायामुरुकुला-
म्नाये तक्कर्कतार्की(कि) चूडामणि श्रीम-

४. माधवनंदिनानुगृहि(ही)तः तस्साधु श्री स(र्व्व)
धर[:] तस्य पुत्र[:]महा[भो]ज[:] धर्मदानाध्ययन-
रतः [।] तेनेदं का-

५. रितं रम्यं सां(शां)तिनाथस्य मंदिरं (रम्) ।। स्वलान्य-
मसज्जक सूत्रधार[:]स्रे (श्रे) स्टि(ष्टि) नामा [।]
वितो(ता)न च महाश्वे-

६. तं निर्म्मितमतिसुंदर[रम्]।। श्रीमच्चन्द्रकराचार्याम्नाय
देसी(शी) ग [णा] न्वये समस्त विद्या विनये (या)
नंदित-

७ विद्व [ज्ज]ना[:] प्रतिष्ठाचार्य्य श्रीमत सुभद्राश्चिरं
जयंतु ।।

[इन्स्क्रिप्शन्स आफ दि कलचुरि चेदि एरा जि. ४, भा. १
पृ. ३०६]

१. सवत् १०...फाल्गुन वदि ६ सोमे श्रीमद् गयाकर्ण्ण-
देव विजय रा -

२. ज्ये राष्ट्रकूट कुलोद्भव महासामन्ताधिपति श्रीमद-
गोल्हण देवस्य प्रवर्द्धमानस्य

३. श्रीमद गोल्लपूर्वा···मध···

शेष अपठनीय

[कनिंघम रिपोर्ट ६, पृ० ३६]

हिन्दी भावार्थ

श्रीमद् गयाकर्णदेव के विजय राज्य में प्रवर्द्धमान राष्ट्रकूट कुल में उत्पन्न महासामन्ताधिपति गोल्हणदेव के शासनकाल में गोलापूर्व आम्नाय में उत्पन्न साधु सर्वधर हुए हैं। सर्वधर तार्किकों मे श्रेष्ठ श्रीमान् माधवनन्दि से अनुगृहीत थे। सर्वधर का महाभोज नामक पुत्र था। महाभोज ने धर्म, दान तथा अध्ययन मे रत रहकर इस शान्तिनाथ मन्दिर का निर्माण कराया था। श्रेष्ठी विरुद से विभूषित सूत्रधार संजक ने सफेदी कर मन्दिर का सौन्दर्य बढ़ाया। चन्द्रकराचार्याम्नाय के (देशीगण मे मे उत्पन्न) आचार्य सुभद्र द्वारा वदि ६ भौमवार के दिन प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है। श्री सुभद्र ने अपनी अर्जित विद्या और विनय से विद्वानों को आनन्दित किया था। प्रतिष्ठा वेरुलप्रभाटिका में सम्पादित हुई ज्ञात होती है अथवा प्रतिष्ठा कराने वाले महाभोज वहां के निवासी थे।

: अन्य :

जबलपुर जिले मे सिहोरा (तहसील) से १५ मील दूर स्थित इस क्षेत्र के नाम के सम्बन्ध में मान्यता है कि पानी के लिए निर्मित बांधो की बहुलता के कारण इसे यह नाम दिया गया है। कनिंघम ने इसके समीपवर्ती क्षेत्र में ४५ बांधों का होना बताया है। आज भी चारों ओर तालाब विद्यमान हैं।

कनिंघम ने बताया है कि यहाँ एक बहुत बड़ा नगर था। टूटी हुई ईंटों तथा बर्तनों के ऊँचे स्थानों पर उपलब्ध अवशेष इस तथ्य के साक्षी है। नगर का कोई परकोटा न था। कनिंघम ने इसका थोलावन नाम होने की सम्भावना भी अभिव्यक्त की है। नाम के दो शब्दों में थोला का अर्थ सम्भवतः थोड़ा और वन का अर्थ पानी होता है। सम्भवत: थोड़ा पानी रहने के कारण इसे यह संज्ञा दी गयी हो तथा बाद में प्रयत्न करने पर पानी बहुत मात्रा में प्राप्त हो जाने के कारण इसे बहुवन कहा जाने लगा। पानी के बहुरने से भी बहोरीवन नाम रखा जाना ज्ञात होता है। गांव में बहुरने का प्रयोग लौटने

अर्थ में होता है। अतः यह सम्भावना तर्कसंगत प्रतीत होती है।

: तिथि निर्णय :

प्रस्तुत लेख सर्वप्रथम श्री कनिघम ने पढ़कर इस ओर अन्य विद्वानों को आकर्षित किया था। कनिघम के बाद डा० भण्डारकर ने अभिलेख का भावार्थ प्रकाशित कराया था। लेख उन्होंने अपठनीय निर्देशित किया था। संवत् सूचक अंक श्री मिराशी जी भी नहीं समझ सके। उन्हें काल सूचक अंक-स्थल टूटा हुआ मिला था।

श्री कनिघम ने संवत् १० पढ़ा था। शासक गयाकर्णदेव का संवत् ९०२ का एक लेख तेवर (जबलपुर) से भी मिला है। गयाकर्णदेव के पुत्र नरसिंहदेव संबंधी भेड़ाघाट से उपलब्ध सम्वत् ९०७ का तथा भरहुन से उपलब्ध सम्वत् ९०९ का लेख भी उल्लेखनीय है।

तेवर लेख के निम्न पद्य द्रष्टव्य हैं—

आत्रेयगोत्रेऽखिल राजचक्र जिगीषु राजोर्जति कर्ण्णदेवः।
तस्माद्यशः कर्ण्णनरेस्वयंभृत्तस्यात्मजोऽयं गयकर्णदेवः ॥३॥
आकल्प पृथिवीं शास्तु श्रीगयाकर्णपार्थिवः।
समतो नरसिंहेन युवराजेन सूनुना ॥४॥

इन पद्यों में गयाकर्णदेव का नरसिंह नामक युवराज पुत्र बताया गया है। उसका अपने पिता के साथ शासन करना भी ज्ञात होता हैं। युवराज उल्लेख से गयाकर्णदेव का वृद्धत्व भी सूचित है। अतः यह तेवर लेख गयाकर्णदेव की वृद्धावस्था का कहा जा सकता है।

बहोरीबन्द लेख गयाकर्णदेव के आरम्भिक शासनकाल की सूचना देता है। तेवर, भितरी, भरहुन लेखों में कलचुरि सम्वत व्यवहृत हुआ है। किन्तु इस लेख में शक सम्वत्। शक सम्वत् १०२२ में यदि ईसवी और शक सम्वत् के अन्तर ७७ वर्ष ५ माह को जोड़ दिया जावे तो सम्वत् १०९९ वर्ष निश्चित होता है। तेवर लेख से यह लेख ५० वर्ष पूर्व का होने से इसे गयाकर्णदेव के आरम्भिक शासनकाल में अंकित कराया जाना कहा जा सकता है।

इस भांति यह लेख शक सम्वत् १०२२ या उससे कुछ ही पूर्व का निश्चित होता है। श्री मिराशी जी का यह कथन भी तर्कसंगत है कि यह लेख या तो दसवीं शती के अन्त का है या ग्यारहवीं शती के आरम्भ का। इसमें विक्रम सम्वत् व्यवहृत नहीं हुआ है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सम्वत् सूचक अंक ११ या १२ अवश्य होते।

: अन्य :

श्री कनिघम को यह १२ फुट २ इंच ऊंची ३ फुट चौड़ी, खड्गासन मुद्रा में, हरिण लाञ्छन से युक्त शान्तिनाथ प्रतिमा एक पीपल के वृक्ष के नीचे मिली थी। आसन पर ७ पंक्ति का लेख है। सम्प्रति मन्दिर निर्मित हो रहा है।

मुनि कान्तिसागर ने लिखा है कि इस प्रतिमा को लोग 'खनुवादेव' कहकर लातों, जूतों और बुहारियों से पूजते थे ताकि डर के मारे वे सुविधायें देते रहें। प्रतिमा के दर्शनों से मनोकामनाएं भी पूर्ण हुई हैं। ईसवी १९६३ की क्षेत्रीय वार्षिक रिपोर्ट मे तहसीलदार ध्रुवदेवसिंह को पुत्ररत्न की उपलब्धि का उल्लेख है।

बेल्लप्रभाटिका

अभिलेख में 'वेल्लप्रभाटिका' स्थान का उल्लेख आया हैं। यह स्थान बाकल से समीकृत किया जा सकता है। बाकल प्रथम तो गोल्लापूर्व आम्नाय के समृद्ध श्रावकों का आवास है। दूसरे बाकल क्षेत्र के समीप है। वहां से दिन में आना-जाना सुविधापूर्वक सम्भव है।

साहित्य-समीक्षा

महावीर जयन्ती स्मारिका—प्रधान सम्पादक पं० भँवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य, साहित्यशास्त्री। प्रकाशक—रतनलाल छावड़ा मन्त्री राजस्थान जैन सभा, जयपुर। मूल्य दो रुपया।

कुछ वर्षों से महावीर जयन्ती के अवसर पर राजस्थान जैन सभा जयपुर की ओर से यह स्मारिका प्रति वर्ष निकाली जा रही है। प्रस्तुत स्मारिका सन् १९७३ की है। यह तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में ऐसे लेखों का संकलन है जो अधिकारी विद्वानों के द्वारा धर्म, दर्शन और समाज के सम्बन्ध में लिखे गये है। द्वितीय खण्ड में कला और साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण लेखो का चयन किया गया है। तीसरे खण्ड मे इंगलिश मे लिख गये लेखों का संग्रह है। स्मारिका में महावीर जयन्ती समारोह से सम्बन्धित चित्रों के अतिरिक्त कितने ही मन्दिर एव मूर्तियो आदि के चित्र भी दे दिये गये है। लेख सभी उपयोगी व पठनीय है। राजस्थान जैन सभा जयपुर का यह कार्य स्तुत्य है। इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन के लिए प्रधान सम्पादक, सम्पादक-मण्डल एवं प्रकाशक आदि को विशेष धन्यवाद देना चाहिए।

'जैन जगत का आहार विशेषांक—सम्पादक—रिषभदास राँका, प्रकाशक—भारत जैन महामण्डल, १५ ए हार्निमन सर्कल, फोर्ट, बम्बई-१।

प्रस्तुत विशेषांक में आहारविषयक लगभग ५०-६० लेख संगृहीत हैं। वर्तमान में जो मांसाहार का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है उसे देखते हुए ऐसे विशेषांक की बहुत आवश्यकता थी। विशेषांक मे ऐसे कितने ही लेख है जो मांसाहार से होने वाली हानियों का दिग्दर्शन कराते हुए शाकाहार को स्वास्थ्यप्रद प्रमाणित करते हैं। उनमें कुछ लेख बिदेशी विद्वान् डाक्टरों के द्वारा लिखे गये है—जैसे फ्रान्स के लगनशील शाकाहारी डा० जीन नुस्तवाम व ज्योफी एल० रुड (सेक्रेटरी इण्टर नेशनल वेजीटेरियन यूनियन व द वेजीटेरियन सोसाइटी ग्रेट ब्रिटेन आदि)। इस समय विदेशों में शाकाहार का प्रचार बढ़ रहा है, जब कि हमारे भारत की स्थिति उससे विपरीत हो रही है। जो जीवनतत्त्व मांस में पाये जाते हैं उनसे कई गुने वे गेहूं, चावल, दाल, शाक-सब्जियों एवं फलों में पाये जाते है। प्रस्तुत अंक में इसे कुछ तालिकाओं द्वारा प्रमाणित भी किया गया है। स्वास्थ्यप्रद भोज्य पदार्थ कौन से हैं तथा भोजन कब और कितना करना चाहिए इत्यादि बातों पर इस अंक मे अच्छा प्रकाश डाला गया है। साथ ही मांसाहारियों का स्वभाव कैसा क्रूर बन जाता है व बुद्धि कुण्ठित रहती है, इसे भी अनेक लेखों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

कुछ स्वादलोलुपी अण्डों को विशेष स्वास्थ्यप्रद बतलाते है। पर उनके प्रयोग से कितने रोग हो सकते हैं, इसे डा० सरयूदेवी लोमा के द्वारा लिखे गये 'शाकाहारी भोजन और प्राकृतिक चिकित्सा' शीर्षक लेख (पृ० २३४ से २३७) मे बहुत कुछ स्पष्ट किया गया है। लेख में उन विदेशी डाक्टरों का नामोल्लेख भी किया गया है जिन्होंने खोजकर यह प्रमाणित किया है कि अण्डों के प्रयोग से अनेक रोग होते है।

प्रस्तुत "आहार-विशेषांक" के प्रगट करने के लिए सम्पादक व प्रकाशक आदि का विशेष आभार मानना चाहिए।

राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारों की ग्रन्थ-सूची पंचम भाग—सम्पादक—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए., पी-एच. डी. व पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ साहित्यरत्न। प्रकाशक—प्रबन्धकारिणी कमेटी दि० जैन अ० क्षेत्र श्री-महावीरजी। बड़ा आकार, पृष्ठ संख्या ४८+१३८६, मूल्य ४०)।

प्रस्तुत ग्रन्थसूचीमें ४५ शास्त्रभण्डारों की १०६७० पाण्डुलिपियों का परिचय कराया गया हैं। इस परिचय में

ग्रन्थ, पत्रसख्या, आकार (प्रतिकी लम्बाई-चौडाई), भाषा, लेखनकाल और प्राप्तिस्थान आदि की यथासम्भव सूचना की गई है। इन पाण्डुलिपियो मे कितने ही ऐसे गुटके भी है, जिनमे मे किसी-किसी मे तो १८० तक छोटी मोटी रचनाये - जैसे पूजा, स्तुति एवं कथाये आदि --पायी जाती है (जैसे—दि० जैन अग्रवाल मन्दिर उदयपुर का गुटका नं० ३, पृ ११३४-४१)। ग्रन्थ की प्रस्तावना मे कुछ शास्त्र-भण्डारो के परिचय के साथ उनमे उपलब्ध हुई अनेक ऐसी कृतियो की भी सूचना की गई है, जो प्राय. अभी तक परिचय मे नही आई थी। ग्रन्थसूची के अन्त मे ग्रन्थानुक्रमणिका, ग्रन्थ एव ग्रन्थकार तथा ग्राम एवं नगर नामावलि; इन महत्त्वपूर्ण परिशिष्टो को भी जोड दिया गया है। इससे ग्रन्थ का महत्त्व बढ गया है व शोध-खोज करने वाले विद्वानो को बहुत सुविधा हो गई है।

ऐसे श्रमसाध्य कार्यो के सम्पन्न करने मे समय व शक्ति अधिक लगती है। यह महान् कार्य श्री डा कस्तूरचन्द जी कासलीवाल एम ए, पी-एच. डी और पं. अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न के द्वारा सम्पन्न हुआ है। इसके लिये वे अतिशय अभिनन्दनीय है। साथ ही प्रबन्धकरिणी कमेटी श्री दि. जैन अ. क्षेत्र श्रीमहावीरजी व उसके सुयोग्य मत्री श्री सोहनलाल जी सौगाणी को भी धन्यवाद देना चाहिये, जिनकी लगन व प्रेरणा से यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सका है। यह ग्रन्थ सम्पन्न सार्वजनिक धार्मिक सस्थाओ के लिए अनुकरणीय है। ग्रन्थ की छपाई आदि भी ठीक है। ग्रन्थ की जिल्द भारी हो गई है व उसके टूट कर बिखर जाने की आशका है। यदि इसे २ जिल्दो मे विभक्त कर दिया गया होता तो ठीक रहता, भले ही मूल्य प्रत्येक जिल्द का २५-२५) रुपया रख दिया जाता।

—बालचन्द्र शास्त्री

निर्वाण महोत्सव के अवसर पर सार्वजनिक उपयोग के साहित्य का निर्माण

राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि की सरक्षकता तथा प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी की अध्यक्षता मे गठित राष्ट्रीय समिति ने भगवान महावीर के २५सौवें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर स्वीकृत कार्यक्रम के अनुसार साहित्य प्रकाशन का दायित्व जिस **साहित्य निर्माण समिति** को सौपा है उसका कार्यान्वियन समस्त जैन समाज की प्रतिनिधि सस्था भगवान महावीर २५००वा निर्वाण महोत्सव महासमिति के माध्यम से हो रहा है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत एक योजना यह है कि जैन धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, आचार नीति आदि विषयों पर विभिन्न भाषाओ मे लघु-पुस्तिकाए प्रकाशित की जाये। यह कार्यक्रम सम्बन्धित समिति के विचाराधीन है। आवश्यक है कि अब तक इन विषयो पर जो पुस्तिकाए प्रकाशित हुई है उन्हे भी सामने रखा जाय और विद्वानों तथा लेखकों का चुनाव अतिम रूप से विषयो के निर्वाचन के उपरान्त किया जाये।

जैन समाज की सभी प्रकाशन सस्थाओ, विद्वान लेखको से अनुरोध है कि इस प्रकार की जो पुस्तिकाएं उनके द्वारा या उनके माध्यम से प्रकाशित हुई है उनकी एक-एक प्रति निम्नलिखित पते पर भेज दें।

यदि इस प्रकार की कोई पाण्डुलिपिया रही हो तो उनके विषय में भी कृपया सूचना भेजी जाये कि किस विषय की पुस्तक कहा से, कब तक प्रकाशित होने की आशा है। यदि इस प्रकार की पूर्व प्रकाशित पुस्तिकाएं आपके पास उपलब्ध नही भी हो, किन्तु जानकारी हो कि अमुक स्थान से अमुक लेखक की पुस्तिका प्रकाशित हुई है तो भी लिखने की कृपा करे ताकि उन्हे उपलब्ध किया जा सके। अगस्त के द्वितीय सप्ताह तक यदि यह सामग्री और सूचनाए भेजी जा सके तो सुविधा होगी।

भारतीय ज्ञानपीठ
बी ४५/४७, कनाट प्लेस
नई दिल्ली-१

लक्ष्मीचन्द्र जैन
संयोजक, साहित्य निर्माण समिति
भ० म० २५००वां निर्वाण महोत्सव

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों का सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डा. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बडा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १·२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युतम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। .. ·२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य ·१६

अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२ ००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बडे आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

वर्ष २६ : किरण २ द्वैमासिक मई-जून १९७३

अनेकान्त



सप्त मुखधारी चन्द्रप्रभ तीर्थकर। मुनिराज श्री विद्यानन्द जी महाराज का अभिमत है कि तीर्थकर के ये सप्तमुख सप्तभंगी के प्रतीक है। यह अभूतपूर्व मूर्ति अलबर्ट एण्ड विक्टोरिया म्यूजियम लंदन में सुरक्षित है।

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

☆

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २६ किरण २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर-निर्वाण सवत् २४९९, वि० स० २०३० | मई-जून १९७३

शान्तिनाथ-स्तोत्र

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन् पादद्वयं ते प्रजाः ।
हेतुस्तत्र विचित्रदुःख-निचयः संसार-घोरार्णवः ॥
अत्यन्त स्फुरदुग्ररश्मि-निकर-व्याकीर्ण-भूमण्डलो
ग्रैष्मः कारयतीन्दु-पाद-सलिल-च्छायानुरागं रविः ॥

—शान्ति भक्ति, आचार्य पूज्यपाद

–हे भगवन् ! मनुष्य स्नेहवश आपके चरणों की शरण में नही जाते । किन्तु ससार रूप यह भयानक समुद्र नाना प्रकार के दुःखों का आगार है, इसी कारण से मनुष्य आपकी चरण-शरण मे जाते है। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की भयानक तपती हुई किरणों से व्याकुल हुआ भूमण्डल चन्द्र-किरण, जल और छाया से अनुराग करता है।

अर्थात् मनुष्यो को वस्तुतः जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों, जल और वृक्षो की छाया से प्रेम नही है, किन्तु मनुष्य जब ग्रीष्म ऋतु मे सूर्य की झुलसाने वाली धूप मे व्याकुल हो जाते है तो शान्ति प्राप्त करने के लिए वे कही पेड़ की शीतल छाया में बैठ जाते है अथवा शीतल जल मे स्नान करते है अथवा उन्हे चन्द्रमा की शीतल किरणो में शान्ति प्राप्त होती है । इसी प्रकार हे भगवन् ! भक्त जनो को आपसे प्रेम नही है, किन्तु ससार मे उन्हे नाना प्रकार के दुःख है, उनसे वे व्याकुल हैं । इसलिए वे आपकी शरण मे आते है, जिससे उन्हे शान्ति प्राप्त हो सके । और वास्तव में ही आपकी शरण मे आने से उन्हें शान्ति प्राप्त होती है ।

भारतीय परम्परा में अरहंत की प्राचीनता

मुनिराज श्री विद्यानन्द जी महाराज

'अरहत' भारतीय परम्परा में परमाराध्य देव है। वर्तमान इतिहास मे इनका जैन धर्मावलम्बियों से अविच्छिन्न एवं घनिष्ट सम्बन्ध रह गया है। अनादि निधन एव प्राचीन नमस्कार मत्र मे और प्राचीन-अर्वाचीन दलगत धार्मिक ग्रन्थो-वेदो-पुराणो आदि मे अरहतो को भक्ति-भावपूर्वक स्मरण और नमन किया गया है। अरहत का स्मरण मात्र सर्व पापो से निवृत्ति मे कारण है और इसीलिए प्रत्येक प्रबुद्ध मनीषी प्रात से साय तक प्रत्येक शुभकार्य के आरम्भ मे 'णमो अरहताण' प्रभृति मत्र बोलना अपना कर्तव्य समझता है। 'अरहत' शब्द प्रकृति प्रदत्त-प्राकृत है, इसको सस्कृत मे अर्हन् कहा जाता है और इसकी निष्पत्ति 'अर्ह प्रशसायाम्' धातु से की जाती है। पाणिनि के सूत्र 'अर्ह प्रशसायाम्' से शतृ प्रत्यय और 'उगिदचा सर्वनाम स्थाने धातो' से नुम् होने पर 'अर्हत्' 'अर्हन्त' आदि रूप बनते है।

प्राकृत भाषा मे शतृ प्रत्यय के स्थान पर 'न्त' प्रत्यय होकर अरहत रूप बनता है। कहीं-कही 'ह श्री ह्री क्रीत क्लान्त क्लेश ग्लान स्वप्न-स्पर्श हर्षार्हगर्हेषु' हैम सूत्र से इकार हो जाता है और कही प्राकृत परम्परा के अनुसार अकार का आगम हो जाता है—इस प्रकार अरिहत और अरहत ये दो रूप बनते है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसका एक रूप 'अरुह' भी प्रयुक्त किया है, यथा—'अरुहासिद्धाइरिया' [मो० पा० ६।१०४] सभवत यह तमिल भाषा से प्रभावित है। अन्य भाषाओ मे भी इस अरहत शब्द की व्यापकता रही है और उनमे इसके रूपान्तर मिलते है। यथा—

प्राकृत	अरहत, अरिहत।
पालि	अरहन्त।
सस्कृत	अर्हत्।
शौरसेनी और तमिल	अरुह।
मागधी	अलहंत, अलिहत।
अपभ्रश	अलहतु, अलिहतु।
कन्नड़	अरुहत, अरुह।

अरहत शब्द का अस्तित्व भारत के प्राचीनतम माने जाने वाले साहित्य मे कहाँ-कहाँ उपलब्ध है, इसकी तालिका तो बहुत बडी है, फिर भी यहाँ उसके सकेत मात्र हेतु कुछ उद्धरण दिया जाना उपयुक्त है। इसके सिवाय जैन वाङ्मय तो इसका असीम भडार है—उसमे तो पदे-पदे अरहत के गुण, उनकी महिमा आदि मिलते है।

'श्रमण-सस्कृति' के प्रसग मे पृष्ठ ५७ पर आचार्य विनोबा भावे के उद्गार छपे है। जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करते हुए उन्होने कहा है—"ऋग्वेद मे भगवान् की प्रार्थना मे एक जगह कहा है—'अर्हन् इद दयसे विश्वमम्बम्'—२-३३-१०—हे अर्हन्! तुम इस तुच्छ दुनिया पर दया करते हो। इसमे अर्हन् और दया दोनो जैनो के प्यारे शब्द है। मेरी तो मान्यता है कि जितना हिन्दूधर्म प्राचीन है, शायद उतना ही जैन धर्म प्राचीन है।"

ऋग्वेद का उपर्युक्त अविकल मत्र इस प्रकार है—

'अर्हन् बिभर्षि सायकानि।
धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्॥
अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्बं।
न वा ओ जीयो रुद्र त्वदन्यदस्ति॥'—२-३३-१०

जैन आचार्य श्री नेमिचन्द्र के प्रतिष्ठा तिलक से उक्त मत्र की शब्द एव भावावलियाँ पूरा-पूरा मेल खाती है। आचार्य नेमिचन्द्र जी के शब्दो मे उक्त मंत्र का विस्तार इस प्रकार है—

'अर्हन् बिभर्षि मोहारि विध्वंसि नय सायकान्।
अनेकान्तद्योति निर्बाध प्रमाणोदार धन्व च॥

ततस्त्वमेव देवासि युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्[1] ।
दृष्टेष्ट बाधितेष्टाः स्युः सर्वथैकान्तवादिनः ।।
अर्हन्निष्कमि वात्मानं बहिरन्तर्मलक्षयम् ।
विश्वरूपं च विश्वार्थ वेदिनं लभसे सदा ।।
अर्हन्निदं च दयसे विश्वमभ्यंतराश्रयम् ।
'नृ सुरासुर संघातं मोक्ष मार्गोपदेशनात् ।
ब्रह्मासुरजयी वान्यो देव रुद्रस्त्वदस्ति न ।।'

- प्रतिष्ठातिलक ३।७४-७८

— हे अर्हन् ! आप मोह शत्रु को नष्ट करने वाले नय-रूपी वाणों को धारण करते हो तथा अनेकान्त को प्रकाशित करने वाले निर्बाध प्रमाणरूप विशाल धनुष के धारक हो। युक्ति एवं शास्त्र से अविरुद्ध वचन होने के कारण आप ही हमारे आराध्य देव हो। सर्वथा एकान्तवादी हमारे देवता नहीं हो सकते, क्योंकि उनका उपदेश प्रत्यक्ष एवं अनुमान से बाधित है।

—हे अर्हन् ! आप ऐसी आत्मा को धारण करते हो जो निष्क अर्थात् आभूषण या रत्न की भांति प्रकाशमान है, बाह्य और अन्तमल से रहित है और जो समस्त विश्व के पदार्थों को एक साथ निरन्तर जानती है। हे अर्हन् ! आप नर, सुर एवं असुर सभी को मोक्ष-मार्ग का उपदेश देते हो। अतः विश्व पर दयाभाव से परिपूर्ण हो। आपसे अन्य कोई और ब्रह्म अथवा असुर को जीतने वाला, बलवान् देवता नहीं है।'

ऋग्वेद में अन्य स्थानों पर भी 'अर्हन्' पद का प्रयोग मिलता है—

'अर्हन् देवान् यक्षि मानुषात पूर्वो अथ ।'—[2]
'अर्हन्तो ये सुदानवो नरो उसामि शव सः ।'—[3]
'अर्हन्ता चित्पुरोद धेऽशेष देवावर्वते ।'—[4]

ऋग्वेद के उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि ऋग्वेद काल में जैन धर्म विद्यमान था और जैन धर्मावलम्बी अर्हन्त की उपासना करते थे।

वाराहमिहिर संहिता, योगवासिष्ठ, वायु पुराण तथा ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में भी अर्हत एवं आर्हत मत का उल्लेख मिलता है—

'दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ।'—[5]
'वेदान्तार्हत सांख्य सौगत गुरू त्र्यक्षारि सूक्तादशो ।'[6]
'ब्राह्म शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथाऽर्हतम् ।'—[7]
'शरीर परिमाणो हि जीव इत्यार्हता मन्यन्ते ।'—[8]

शाश्वत कोष तथा शारदीय नाममाला में अर्हत् शब्द 'जिन' का पर्यायवाची कहा गया है—

'स्यादर्हन् जिन पूज्ययोः ।'—[9]
'तीर्थङ्करो जगन्नाथो जिनोऽर्हन् भगवान् प्रभुः ।'—[10]

अमर कोषकार ने अर्हत् को मानने वाले लोगों को आर्हक, स्याद्वादिक तथा आर्हत कहा है और हेमचन्द्राचार्य ने यथार्थ वक्ता को परमेश्वर कहा है —

'स्यात् स्याद्वादिक आर्हकः ।'—[11]
'यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ।'—[12]

हनुमन्नाटककार जैन शासन श्रद्धानियों के ईश्वर को अर्हन संज्ञा देते हैं, यथा —

'अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता ।'—[13]

बौद्धग्रन्थों में बुद्ध के लिए भी अरहत शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें मुख्य कारण म० बुद्ध का, तीर्थङ्कर महावीर का समकालीन होना है क्योंकि उस काल में जिन धर्म प्रभावक रूप में विद्यमान था और जिन तथा अरहत दोनों शब्द धर्मोपदेष्टाओं-इन्द्रियविजेताओं के लिए प्रयुक्त किये जाने का चलन था। इतना ही क्यों, पालि भाषा के बौद्ध आगम – (त्रिपिटक में) धम्मपद में

१. युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । —आप्तमीमांसा ६ ।
२. ऋग्वेद २।५।२२।४।१
३ ऋग्वेद ४।३।६।५२।५
४. ऋग्वेद ६।८६।५
५. वाराहमिहिर संहिता ४५।५८
६. वाल्मीकि, योगवासिष्ठ ६।१७३।३४
७. वायुपुराण १०४।१६
८ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।२।३३
९. शाश्वतकोष ६४१
१० शारदीयाख्य नाममाला—हर्षकीर्ति ६
११ अमरकोष (मणिप्रभा) २।७।१८
१२. हेमचन्द्र योगशास्त्र २।४
१३. हनुमन्नाटक १।३

अरहंत वग्गो नामक एक स्वतंत्र प्रकरण भी है। धम्मपद के अनुसार अपनी जीवन यात्रा के (भावी नय की अपेक्षा) अन्त को प्राप्त, भावी जन्म-मरण-शोकादि रहित-- मुक्त जीव अरहंत संज्ञा को पाते है। तथाहि —

'गतद्धिनो विसोकस्स्य विप्पमुत्तस्स सब्बधि।
सब्बगन्थ पहीनस्स परिलाहो न विज्जनि॥'

—धम्मपद, अरहंतवग्गो ६०

'यत्थारहंतो विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं।'

—वही ६८

—जहाँ कही भी अरहंत विहार करते है वहाँ रमणीक स्थान होता है। म० बुद्ध ने कहा था --'भिक्षुओ! प्राचीनकाल में जो भी अरहत तथा बुद्ध हुए थे, उनके भी ऐसे ही दो मुख्य अनुयायी थे, जैसे मेरे अनुयायी सारिपुत्र और मोग्गलायन है। —(गौतमबुद्ध पृ० १७४)

जैन धर्म मे पाच अवस्थाओं मे सपन्न आत्मा सर्वोत्कृष्ट एवं पूज्य मानी गई है। इनमे अरहत सर्व प्रथम है। अरहंत किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही है। वह तो आध्यात्मिक गुणो के विकास से प्राप्त होने वाला महान् मङ्गलमय पद है। जैन आगमो मे चार घातिया कर्मो पर विजय प्राप्त करने वालो और अनन्त चतुष्टय प्राप्त करने वालो को अरहंत नाम से कहा जाता है, ये जीवनमुक्त होते है, ससार की आधि-व्याधि और उपाधियो से दूर और बहुत दूर।

'णट्ठ चदुघाइ कम्मो दंसणसुहणाण वीरिय मईओ।
सुह देह त्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो॥'

—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्रव्य सग्रह ५०

धवला टीका मे अरहंत का 'अरिहननादरहंता...... रजोहननाद्वा अरहंता अतिशय पूजार्हत्वाद्वा अरहंता।'— के रूप मे विवेचन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द बोधपाहुड मे अरहंत के गुणो का वर्णन करते हुए लिखते है—

'जरवाहि जम्म मरणं चउगइगमणं च पुण्ण पावं च।
हन्तूण दोष कम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो॥'—[1]

अर्थात् जिन्होने जरा, व्याधि, जन्म, मरण, चतुर्गतिगमन, पुण्य-पाप, इन दोषों तथा कर्मो का नाश कर दिया है और जो ज्ञानमय हो गये है, वे अरहत है। अरहत की इन्ही विशेषताओं को पचाध्यायी मे इस प्रकार कहा गया है--

'दिव्यौदारिक देहमयो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्य सौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मदेशकः॥—[2]

उक्त सपूर्ण कथन का साराश यह है कि—समस्त भारतीय साहित्य मे अरहत शब्द अतिशय पूज्य आत्मा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। वेद-काल मे लेकर अद्यावधि इस शब्द का महत्व रहा है। जैन धर्म के चतु शरण पाठ मे अरहत को ही प्रमुखता दी गई है--

'चत्तारि सरणं पवज्जामि। अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।'

---

१ बोध पाहुड ३०
२ पचाध्यायी २।६०७

जैन चित्रकला

जैन चित्रकला की ऐतिहासिक उपलब्धि ७वीं शताब्दी से है, जिसके प्रमाण सम्राट् हर्ष के समकालीन पल्लव राज महेन्द्रवर्मन (७वीं शताब्दी) के समय में निर्मित सित्तन्नवासल गुफा की पांच जिन-मूर्तियां हैं। समग्र भारतीय चित्रशैलियों में १५वीं सदी से पूर्व जितने भी चित्र प्राप्त हैं, उन सबमें मुख्यता और प्राचीनता जैन चित्रों की है। ये चित्र दिगम्बर जैनियों से सम्बद्ध है, जिन्हें अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों को चित्रित कराने एव करने का बड़ा शौक था।

—भारतीय चित्रकला, वाचस्पति गरोला, पृ० १३८

स्याद्वाद-दर्शन

साहित्य परामर्शक मुनि श्री बुद्धमल जी

स्याद्वाद, जैन दर्शन के मन्तव्य को भाषा मे उतारने की पद्धति को कहते है। 'स्याद्वाद' के 'स्यात्' पद का अर्थ है, अपेक्षा या दृष्टिकौण और 'वाद' पद का अर्थ है— सिद्धान्त या प्रतिपादन। दोनो पदो मे मिलकर बने इस पद का अर्थ हुआ —किसी वस्तु, धर्म, गुण या घटना आदि का किसी अपेक्षा से कथन करना 'स्याद्वाद है। पदार्थ में जो अनेक आपेक्षिक धर्म है, उन सबका यथार्थ ज्ञान तभी सम्भव हो सकता है, जब कि उस अपेक्षा को सामने रक्खा जाये। दर्शन-शास्त्र मे नित्य-अनित्य, सत्-असत्, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, वाच्य-अवाच्य आदि तथा लोक-व्यवहार मे छोटा-बडा, स्थूल-सूक्ष्म, दूर-समीप, स्वच्छ-मलिन, मूर्ख-विद्वान् आदि अनेक ऐसे धर्म है, जो आपेक्षिक है। इन तथा इन जैसे अन्य किसी भी धर्म या गुण का जब हम भाषा के द्वारा कथन करना चाहते है, तब वह उसी हद तक सार्थक हो सकती है, जहाँ तक हमारी अपेक्षा उसे अनुप्राणित करती है। जिस अपेक्षा से हम जिस शब्द का प्रयोग करते है, उसी समय उसी पदार्थ के किसी दूसरे धर्म की अपेक्षा से दूसरे शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता है। वह भी उतना ही सत्य होगा, जितना कि पहला। साराश यह कि एक पदार्थ के विषय मे अनेक ऐसी बातें हमारे ज्ञान मे निहित होती है, जो एक ही समय मे सारी की सारी समान रूप से सत्य होती है। फिर भी वस्तु के इस पूर्ण रूप को किसी दूसरे व्यक्ति के सामने रखते समय हम इसे विभक्त करके ही रख सकते है। भाषा की कुण्ठता के कारण ऐसा करने के लिए हम बाधित है। कोई एक शब्द वस्तु के सम्पूर्ण धर्मों को अभिव्यक्त कर सके, ऐसा सम्भव नही है। अतः भिन्न-भिन्न शब्दो के द्वारा भिन्न-भिन्न धर्मो का प्रतिपादन कर हम वस्तु सम्बन्धी अपना अभिप्राय दूसरो के सामने रखते है। जिस धर्म का प्रतिपादन करते हे, उसके लिए तद्बोधक शब्द का प्रयोग करते है और अवशिष्ट विरोधी तथा अविरोधी समस्त धर्मो के लिए प्रतिनिधि स्वरूप 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते है, जिसका भाव होता है कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त और अनेक धर्म भी इस वस्तु मे विद्यमान है सही, परन्तु इस समय उन सबकी सूची ही कर सकते है, कथन नही। हमारी इस सूची मे ज्ञात अवशिष्ट धर्मो को भी कथ्यमान धर्म के समान वस्तु का अग समझे, पर साथ ही यह भी समझे कि इस समय हम उसका ध्यान मुख्यतया अमुक कथ्यमान धर्म की ओर ही आकृष्ट करना चाहते हे।

कभी-कभी 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किये विना भी वस्तु-धर्म का प्रतिपादन किया जाता है, परन्तु वहाँ भी कथक के अभिप्राय मे कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त धर्मो का निराकरण करने की बात नही आनी चाहिए, तभी वस्तु-सम्बन्धी वास्तविकता का आदर किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि हम वस्तु का प्रतिपादन करते समय कभी सम्पूर्ण वस्तु के विषय मे कहना चाहते है और कभी केवल उसके एक अंश मात्र के विषय मे। वाक्य मे 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते समय सम्पूर्ण वस्तु का चित्र हमारे सामने होता है। उसी को दूसरे के सामने रखना चाहते है अर्थात् एक कथ्यमान धर्म को मुख्य रूप से और शेष धर्मों को 'स्यात्' के प्रतिनिधित्व मे गौण रूप मे कहना चाहते है। इस प्रकार के कथन को दर्शन-शास्त्र मे 'प्रमाण-वाक्य' या 'सकलादेश' कहा जाता है। परन्तु जब हम वस्तु के किसी एक धर्म के विषय मे तो कहते है, परन्तु शेष धर्मो के विषय मे न तो किसी प्रतिनिधि शब्द का प्रयोग कर समर्थन करते है और न किसी निवारक शब्द का प्रयोग कर खण्डन करते है, केवल कथ्यमान धर्म को कह कर शेष के लिए तटस्थ मौनावलम्बी हो जाते है। यह कथन 'नय-

वाक्य' या 'विकलादेश' कहलाता है। दूसरे शब्दो मे उपर्युक्त बात को यो भी कहा जा सकता है— वस्तु सम्बन्धी हमारी सम्पूर्ण दृष्टि प्रमाण और एक दृष्टि या दृष्टिकोण नय कहलाता है।

प्रमाण-वाक्य कहे चाहे नय-वाक्य, दोनो ही स्थितियो मे उद्देश्य यही होता है कि वस्तु-प्रतिपादन में भाषा का प्रयोग ठीक मे हो और ज्ञाता उसका अभिप्राय ठीक समझें। प्रतिपाद्य के प्रति किसी भी प्रकार का अन्याय तभी रुक सकता है, जबकि प्रतिपादक अपने आग्रह और एकान्त से विमुख होकर यथावस्थित कथन करे। अयथार्थ कथन वैचारिक हिंसा है तो यथार्थ कथन अहिंसा। प्रमाण-वाक्य और नय-वाक्यमय स्यादवाद की इस कथन प्रणाली को वैचारिक अहिंसा का प्रतीक कहा जा सकता है, क्योंकि यह प्रणाली ही कथित और कथनावशिष्ट स्वभावो को, यदि वे वस्तु मे प्रमाणित होते है तो समान रूप मे स्वीकार करती है। यहां तक कि परस्पर विरोधी स्वभावो को भी जिस-जिस अपेक्षा से वे वहाँ प्राप्त होते है, उस-उस अपेक्षा से स्वीकार करना इस प्रणाली को अभीष्ट है। यदि ऐसा न किया जाये तो दार्शनिक पहलुओ का समाधान तो दूर रहा, साधारण व्यवहार भी नही चल सकता।

भिन्न-भिन्न अपेक्षाएं भिन्न-भिन्न जिज्ञासाओं के उत्तर से स्वयं फलित होती है। एक वस्त्र विशेष के लिए पूछने वालो को हम उनकी जिज्ञासाओ के अनुसार ये भिन्न-भिन्न उत्तर दे सकते है—

१. यह वस्त्र रुई का है।
२. यह वस्त्र मिल का है।
३. यह वस्त्र नरेन्द्र का है।
४. यह वस्त्र पहनने का है।
५. यह वस्त्र पांच रुपये का है।

अब बताइए, यह वस्त्र किस-किस का समझा जाए? किसी एक का या पाच का? इन पाचो कथनो मे से कोई भी कथन ऐसा नही, जिसे अप्रमाणित कहा जा सके। पाचों ही बाते भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उसी एक वस्त्र के विषय मे सत्य है। पाँच ही क्यो, दो गज का है, भारत का है, सन् १६५५ का है आदि और भी अनेक बाते उसके विषय मे कही जा सकती है और सबकी सब समान रूप से सत्य हो सकती है। इनमे से प्रत्येक कथन वस्त्र सम्बन्धी कोई न कोई जानकारी देता है। एक वाक्य मे जो बात कही गई है, दूसरे प्रत्येक वाक्य मे उससे भिन्न बात कही गई है। फिर भी इनमें परस्पर कोई विरोध नही है। विरोध इसलिए नही है कि प्रत्येक की अपेक्षाएं भिन्न है। वह वस्त्र उपादान-कारण की अपेक्षा से रुई का, तो सहकारी-कारणो की अपेक्षा से मिल का और स्वामित्व की अपेक्षा से नरेन्द्र का, कार्यक्षमता की अपेक्षा से पहनने का तथा मूल्य की अपेक्षा मे पाच रुपये का है। प्रश्न-कर्ताओ की ये जिज्ञासाएँ— यह वस्त्र रुई का है या रेशम का? मिल का है या हाथ का है? नरेन्द्र का है या वीरेन्द्र का? पहनने का है या ओढने का? कितने मूल्य का है?- उत्तरदाता को भिन्न-भिन्न उत्तर देने के लिए ही प्रेरित करती है। किसी एक उत्तर मे सारी जिज्ञासाएं शान्त नही हो सकती।

साधारण लोक-व्यवहार मे अपेक्षा-भेद से कथन का यह प्रकार जितना मौलिक, उचित और सत्य है, उतना ही दार्शनिक क्षेत्र मे भी। उपर्युक्त वस्त्र-सम्बन्धी ज्ञान मे एकान्तवादिता सत्य से जितनी दूर ले जा सकती है, तत्वज्ञान सम्बन्धी एकान्तवादिता भी उतनी ही दूर ले जाती है, अत: दार्शनिक क्षेत्र मे भी 'स्याद्' (अपेक्षावाद) का प्रयोग आदरणीय ही रही, अनिवार्य भी है।

जैनेतर दार्शनिको का स्याद्वाद के विषय मे एक खास तर्क यह रहा है कि यदि पदार्थ 'सत्' है तो 'असत्' कैसे हो सकता है? इसी प्रकार नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि परस्पर विरोधी धर्म एक ही समय मे एक पदार्थ मे कैसे टिक सकते है? इसी तर्क के आधार पर शंकराचार्य और रामानुजाचार्य जैसे विद्वानों ने 'स्याद्वाद' को 'पागल का प्रलाप' कहकर इसकी उपेक्षा की। राहुल साकृत्यायन ने 'दर्शन-दिग्दर्शन' मे बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के शब्दों के आधार पर दही, दही भी है और ऊंट भी, तो दही खाने के समय ऊंट खाने को क्यों नहीं दौड़ते? इस आशय का कथन कर स्याद्वाद का उपहास किया है। डा० एस० राधाकृष्णन् ने इसे 'अर्द्ध सत्य' कह कर त्याज्य बताया है। इसी प्रकार किसी ने इसे 'छल

और किसी ने 'संशयवाद' बतलाया है। परन्तु यह सब तो 'प्रत्येक विभिन्न कथन के साथ विभिन्न अपेक्षा होती है'—स्याद्वाद के इस सूत्र को हृदयगम न कर सकने के कारण हुआ है। बद्धमूल धारणा तथा जैनेतर ग्रन्थो मे जैनो के लिए किये गए कथन को सत्य मानकर चलना भी इसमें सहायक हुए है। अन्यथा अपेक्षा भेद से 'सत्' अर्थात् 'है' 'असत् अर्थात् 'नहीं है' का कथन विरुद्ध मालूम नही देना चाहिए।

वस्त्र की दुकान पर किसी ने दुकानदार से पूछा—'यह वस्त्र सूत का है न ?' दुकानदार ने उत्तर दिया—'हा साहब, यह सूत का है।' दूसरे व्यक्ति ने आकर उसी वस्त्र के विषय मे पूछा—'क्यो साहब, यह वस्त्र रेशम का है न ? दुकानदार बोला 'नही, यह रेशम का नही है।' यहाँ कथित वस्त्र के लिए 'यह सूत का है', यह बात जितनी सत्य है, उतनी ही 'यह रेशम का नही है' यह भी सत्य है। एक ही वस्त्र के विषय मे सूत की अपेक्षा से 'सत्' अर्थात् 'है' और रेशम की अपेक्षा से 'असत्' अर्थात् 'नही है' का कथन किसको अखर सकता है ? स्याद्वाद भी तो यही कहता है। सत् है तो वह असत् कैसे हो सकता है ?' यह शका तो ठीक ऐसी ही है कि 'पुत्र है, तो वह पिता कैसे हो सकता है ?' इसमे कोई विरुद्धता नही आ सकती, क्योकि अपेक्षाए भिन्न है।

स्याद्वाद के मतानुसार प्रत्येक पदार्थ 'स्व' द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेशा से 'सत्' है तथा 'पर' द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'असत्'। इसे सरलतापूर्वक यो समझा जा सकता है—एक घड़ा स्व-द्रव्य मिट्टी की अपेक्षा से सत्—अस्तित्व युक्त है, पर द्रव्य—वस्त्रादि इतर वस्तुओ की अपेक्षा से असत् है अर्थात् घड़ा है, वस्त्र नही है।

द्रव्य के समान ही किसी बात की सत्यता मे क्षेत्र की अपेक्षा भी रहती है। कोई घटना किसी एक क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य हो सकती है। जैसे—भगवान् महावीर का निर्वाण 'पावा' मे हुआ। भगवान के निर्वाण की घटना 'पावा क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य—सत् है, परन्तु यदि कोई कहे 'भगवान् का निर्वाण राजगृह मे हुआ तो यह बात असत्य ही कही जायेगी।

द्रव्य और क्षेत्र के समान ही पदार्थ की सत्ता और असत्ता बताने के लिए काल की भी अपेक्षा है, जैसे—आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात सवत् २००५ मे किया। इसके अतिरिक्त किसी काल का कथन किया जाए तो वह अणुव्रत-आन्दोलन के सम्बन्ध मे सत्यता प्रकट नही कर ककता।

इसी प्रकार वस्तु की सत्यता मे भाव भी अपेक्षित है; जैसे पानी मे तरलता होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तरलता नामक भाव से ही पानी की सत्ता पहचानी जा सकती है, अन्यथा तो वह हिम, वाष्प या कुहरा ही होता, जो कि पानी नही, किन्तु उसके रूपान्तर है।

उपर्युक्त प्रकार से हम जान सकते है कि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से ही है, परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से नही। यदि परद्रव्य आदि से भी उसकी सत्ता हो सकती तो एक ही वस्तु सब वस्तु होती और सब क्षेत्र, सब काल और गुणयुक्त भी होती अर्थात् एक घडा मिट्टी का भी कहा जा सकता और सोने, चादी, लोहे आदि का भी, कानपुर का भी कहा जा सकता और दिल्ली का भी। सवत् २००५ का भी कहा जा सकता और सवत् २००० का भी। जलाहरण के काम मे भी लिया जा सकता और पहनने के काम मे भी।

परन्तु ऐसा नही हो सकता, क्योकि उसमे स्वधर्मो की सत्ता के समान ही परधर्मो की असत्ता भी विद्यमान है। स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से घट मे 'अस्ति' शब्द का विषय बनने की जितनी योग्यता है, उतनी ही परद्रव्यादि की अपेक्षा से 'नास्ति' शब्द का विषय बनने की भी। यही कारण है कि घड़े का स्वरूप विधि और निषेध दोनो से प्रकट होता है।

उपर्युक्त 'सत्-असत् अर्थात् 'अस्ति-नास्ति' अर्थात् विधि-निषेध' के आपेक्षिक कथन के समान ही वस्तु मे सामान्य-विशेष, एक-अनेक आदि विभिन्न धर्मो का भी आपेक्षिक अस्तित्व समझना चाहिए।

स्याद्वाद का सिद्धान्त, जिस वस्तु में जो-जो अपेक्षायें घटित होती हो, उन्हे ही निर्भीकतापूर्वक स्वीकार करने का अनुरोध करता है। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं है

राजस्थान के जैन कवि और उनकी रचनाएं

डॉ० गजानन मिश्र एम. ए., पी-एच. डी., आर. ई. एस.

गुमानीराम भांवसा—

ये पडित टोडरमल जी के लघु पुत्र थे। इनका जन्म सं० १८१८ के आस-पास हुआ था। ये अच्छे वक्ता तथा सरल हृदय थे। ये फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे। इन्होने महाराजा प्रतापसिह की आज्ञा से कातिक शु० ५ स० १८४६ मे 'दीवान हाफिज' का पद्यानुवाद किया था। इनके नाम से 'सत्तास्वरूप' नामक रचना तथा अनेक पद भी लिखते है।

चम्पाराम भांवसा —

ये माधोपुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम हीरालाल था। इनकी निम्नलिखित रचनाएं मिलती है—

१ भद्रबाहु चरित्र भाषा (श्रावण शु० १५ स० १८००)।
२. धर्म प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (१८६८)।
३. चर्चासागर।

जगन्नाथ पंडित—

इनका जन्म टोडारायसिह के निवासी पौमराज खण्डेलवाल के यहाँ हुआ था। इनका रचनाकाल १७वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा १८वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। ये संस्कृत तथा न्यायशास्त्र के विद्वान थे। इन्होने निम्नलिखित ग्रंथ लिखे थे :—

१. श्वेताम्बर पराजय
२. जिन स्तोत्र
३. कर्मस्वरूप वर्णन
४. नेमि नरेन्द्र स्तोत्र
५. चतुर्विशति सधान स्वोपज्ञ टीका
६. सुखेण चरित्र
७. सुखनिधान

टीकमचन्द—

ये जयपुर राज्य के किसी कस्बे के निवासी थे। धर्म मे इनकी बहुत अधिक श्रद्धा थी। इन्होंने निम्नलिखित रचनाए की :—

१. चतुर्विशति कथा (पद्य) स० १७१२।
२. चन्द्रहंस की कथा (१७०८)।
३. श्रीपाल स्तुति।
४. अन्य स्तुतियाँ।

टेकचन्द—

इनके जन्म, परिवार तथा अन्य परिचयात्मक सामग्री के लिए अन्त साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य मौन है। इनके ग्रन्थो की सख्या अत्यधिक है। उपलब्ध ग्रंथो के नाम इस प्रकार है :—

१. तीन लोक पूजा (१८२८)।
३. सुदृष्टि तरंगिणी वचनिका (१८३२)
३. सूत्र जी की वचनिका (१८३७)।
४. कथाकोष भाषा
५. सोलहकारण बड़ी पूजा
६. दश लक्षण बड़ी पूजा
७. कल्याणक पूजा
८. रत्नत्रय बड़ी पूजा
९. नन्दीश्वर पंचमेरु पूजा

कि जो अपेक्षाए न हो, उन्हे भी स्याद्वाद के आधार पर माना जाए। अश्वशृंग, आकाश-कुसुम और वन्ध्या-सुत के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए स्याद्वाद की कोई अपेक्षा लगाने की आवश्यकता नही है, क्योकि इनकी तो सत्ता ही असिद्ध है। स्याद्वाद का काम वस्तु को यथार्थ रूप से प्रकट करने का ही है, न कि जैसा हम चाहे, वैसा वस्तु को बना देने का।

भगवान् महावीर ने जगत् को जीवन-क्षेत्र मे अहिसा की जितनी बहुमूल्य देन दी है, विचार-क्षेत्र मे भी 'स्याद्-वाद की उतनी ही बहुमूल्य देन दी है। अहिसा जीवन को उदार और सर्वांगीण बनाती है तो स्याद्वाद विचारो को। एकांगी विचार अपूर्ण और वास्तविकता से दूर होता है, जबकि सर्वांगीण विचार पूर्ण और वास्तविक होता है।

१०. नन्दीश्वर पंचमेरू पूजा
११. कर्मदहन पूजा
१२. बुधप्रकाश छहढाला[1]।

डालूराम—

ये माधवराजपुरा (जयपुर) के निवासी अग्रवाल जैन थे[1]। ये दीवान अमरचन्द जी के सम्पर्क मे रहे है। आपकी रचनाओं की सख्या १८-१९ है जिनमे पूजा साहित्य अधिक मात्रा मे है। आप दोहा, चौपाई, सवैया, पद्धरि, सोरठा, अडिल्ल एवं कुण्डलिया आदि विविध छन्दो के प्रयोग मे कुशल है[1]।

रचनाओ के नाम ये है :—

१. पच परमेष्ठी पूजा (१८६२)	१०. शिखर विलास पूजा
२. पच परमेष्ठी गुणवर्णन (१८६५)	११. पचकल्याण पूजा
३. गुरु उपदेश श्रावकाचार भाषा (१८६७)	१२ इन्द्रध्वज पूजा
४. श्रीमत् सम्यक् प्रकाश भाषा (१८७१)	१३. पचमेरु पूजा
५ अढाईद्वीप पूजा (१८७९)	१४. रत्नत्रय पूजा
६. अष्टान्हिका पूजा (१८७९)	१५ नेमि-पार्श्वनाथ पूजा
७. द्वादशाग पूजा (१८७९)	१६ चतुर्दशी कथा
८. दशलक्षण पुजा (१८८०)	१७. द्वादशानुप्रेक्षा
९. तीन चौबीसी पूजा (१८८२)	१८. पद आदि

थानसिंह ठोलिया—

इनका निवास स्थान सागानेर था। पिता का नाम मोहनराम था। इनके समय मे राजनैतिक एव साम्प्रदायिक उपद्रवो के कारण जयपुर का वातावरण अशान्त था। जैन समाज भी अपने आपको सुरक्षित नही पा रहा था। ऐसे समय मे ये सागानेर छोड़कर भरतपुर चले गये। जब जयपुर मे शान्ति हुई तब वापिस लौट आये। तत्कालीन परिस्थितियों का कवि ने स्वरचित काव्यों में यत्र-तत्र चित्रण किया है। आपकी दो रचनाएं उपलब्ध है :—

१ रत्नकरड श्रावकाचार (चैत्र कृष्णा ५ सं० १८२१)।

२. सुबुद्धि प्रकाश (फाल्गुन कृ० ६ सं० १८४७)।

देवीसाद गोधा—

इनका जन्म बसवा में चिमनीराम गोधा के घर हुआ था। इन्होने (१) सिद्धान्तसार की वचनिका (फाल्गुन शु० १० स० १८४४), (२) चर्चाग्रन्थ, (३) चिद्विलास तथा (४) परमानन्द विलास की रचना की।

नेमिचन्द सेठी

ये आमेर के निवासी थे। इन्होने देवेन्द्रकीर्ति (माघ शुक्ला ११, सं० १७७०) के गद्दी पर बैठने के अवसर पर जकडी लिखी। इसमे तत्कालीन दीवान रामचन्द्र एव किशनचन्द आदि के नामोल्लेख भी हुए है। जकड़ी के अलावा इन्होने वैशाख शुक्ला ११, स० १७७१ को प्रीतकर चरित्र पूर्ण किया।

लोहट—

इनका मूल निवास स्थान साँभर (जयपुर राज्य) था। इनके पिता का नाम धर्मा था। इनकी निम्नलिखित रचनाये मिलती है :—

१ यशोधर चरित्र (१७२१)	५. पार्श्व पूजा
२. षट्लेश्यावलि (१७३०)	६ पूजाष्टक
३. चौबीस ठाणा (१७३९)	७ द्वादशानुप्रेक्षा
४. अठारह नाता का वर्णन	८. पार्श्वनाथ का गुणमाल

शीलाल गगवाल—

इनका जन्म जयपुर राज्य के डिग्गी कस्बे मे हुआ। ये पचेवर गये जहाँ इनकी साहिबराम से भेट हुई। उन्ही से इनको साहित्य रचना की प्रेरणा मिली। पचेवर से ये लवा गये और वही १८८१ मे 'बन्ध उदय सत्ता चौपाई' तथा मार्गशीर्ष कृष्णा ६, स० १९०५ मे चौबीसठाणा चौपाई नामक ग्रन्थ की रचना की।

सेवाराम शाह—

ये सांगानेर निवासी बखतराम शाह के सुपुत्र थे। घर मे इन्हे साहित्यिक वातावरण मिला था। अतः आरम्भ से ही साहित्य के प्रति रुचि होना स्वाभाविक

---

१. हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास — कामताप्रसाद जैन, पृ० २१७।
२. हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृ० ८०-८१।
३. हिन्दी जैन साहित्य का परिशीलन—नेमिचन्द्र जैन, पृ० २३४।

था। उस रुचि को इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखकर पूर्ण किया—

१. चतुर्विशति पूजा भाषा (१८५४)
२. धर्मोपदेश सग्रह (१८५८–१८६६)
३. मान-ज्ञान संग्राम
४. अनन्त व्रत पूजा आदि

रतनचन्द्र—

रतनचन्द्र का जन्म बैशाख सुदि पचमी वि० स० १८३४ मे बडजात्या गोत्रीय खण्डेलवाल परिवार मे जयपुर राज्यान्तर्गत 'कुड' नामक ग्राम मे हुआ। इनके पिता का नाम लालचन्द तथा माता का नाम हीरादेवी था[१]। इन्होने स० १८४८ मे लक्ष्मीचन्द मुनि से नागौर मे दीक्षा ग्रहण की[२]। इस समय इनकी आयु लगभग १४ वर्ष की थी। इस प्रकार अल्पायु मे ही मुनि होकर इन्होने जयपुर, जोधपुर, मेवाड़, अजमेर व किशनगढ आदि स्थानों का भ्रमण किया। स० १८६२ मे ये आचार्य बन गये[३]। इनकी निम्नलिखित रचनाए उपलब्ध है—

१. चौबीस विनती[४]।
२. देवकी ढाल[५]।
३. पद[६] (११४)।

लालचन्द—

पं० लालचन्द सागानेर के निवासी थे[७]। वड़े होने पर ये बयाना जाकर रहने लग गये। इनकी मुख्य रचनाए ये हैं—

१. वरांग चरित्र (माघ शु० ५ स० १८२७)।
२. विमलनाथ पुराण भाषा (आसीज शु० १० स० १८३७)।
३. शिखर विलास (१८४२)।
४ आगम शतक।
५ सम्यक्त्व कौमुदी।
६. अकृत्रिम चैत्यालय पूजा।
७. इन्द्रध्वज पूजा।
८. पचपरमेष्ठी पूजा।
९. समवसरण पूजा।
१०. त्रिलोकसार पूजा।
११. तेरहद्वीप पूजा।
१२. पचकुमार पूजा।
१३ पचकल्याण पूजा।

लक्ष्मीदास—

लक्ष्मीदास भी सागानेर के निवासी थे। ये देवेन्द्र-कीर्ति के शिष्य थे। कार्तिक शुक्ल ६ स० १७८१ को इन्होंने यशोधर चरित्र की रचना की। इस रचना का आधार भट्टारक सकलकीति तथा पद्मनाभ के सस्कृत मे रचित यशोधर चरित्र थे। यशोधर चरित्र के कुछ छद दृष्टव्य है—

कुंद लिता देडिलौ मनोज प्रभूत महा,
सब जग वासी जीव जे रंक करि राखे है।
जाके बस भई भूप नारी रति जैम कांति,
कुबेर प्रमान संग भोग अभिलाषे है॥
बोली सुन बैन तबं दूसरी स्वभाव सेती,
काम बान ही ते काम ऐसे वाक्य भाषे है।
नैन तीर नाहि होइ तौ कहा करं सुजाके,
मति पास जीव नाना दुख चाखं है॥

जिनदास—

जिनदास के विषय मे केवल मात्र इतना ही ज्ञात हो सका है कि ये जयपुर के जैन कवि थे और इन्होंने अनेक कृतियों की रचना की थी। उनमें से कुछ उपलब्ध कृतियों के नाम ये है—

१. सतगुरु शतक[८]। (चैत्र कृ० ८ सं० १८५२)।
२. चेतनगीत[९]।
३. धर्मतरुगीत[१०]।

---

१. श्री रतनचन्द्र पद मुक्तावली पृ० (क)।
२. वही, पृ. (ग)।
३. वही, पृ० (ग)।
४. राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो की सूची पृ० ६४६।
५. वही, पृ० ४४०।
६. इनके पद श्रीरतनचन्द्र पदमुक्तावली नामक ग्रथ मे प्रकाशित हैं।
७. कामताप्रसाद जैन ने तो इनका नाम ही इस प्रकार लिखा है—लालचन्द सागानेरी। हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास—पृ० २१९।
८. वीरवाणी।
९. शास्त्र भंडार पार्श्वनाथ का मदिर वे० ९०१।
१०. वही।

४. आराधनासार[१]। ५ मुनीश्वरों की जमाल[२]। ६. राजुल सज्झाय[३]। ७. विनती[४]। ८. विवेक जकडी[५]। ९. सरस्वती जयमाल[६]। १०. पद[७]।

विजयनाथ माथुर --

ये टोडा नगर के निवासी थे[८]। इन्होने जयचन्द्र छाबड़ा के पुत्र ज्ञानचन्द के कहने से सकलकीर्ति के वर्द्धमानपुराण का पौष कृष्ण १० स० १८६१ को पद्यानुवाद किया।[९]

नेमीचन्द पाटणी---

इनके पिता का नाम रत्नचन्द्र था। ये जयपुर के अलावा अहिपुर अमरावती एवं इन्दौर आदि स्थानों पर भी रहे। जयपुर में इनका निवास स्थान अमरचन्द दीवान मंदिर में था।[१०] इनकी निम्नलिखित ३ रचनाए उपलब्ध हुई है---

१ चतुर्विंशति तीर्थंकर पूजा[११] (भादवा सुदि १० स १८८०)
२. तीन चौबीसी पूजा[१२] (कार्तिक सुदि १४ सं० १८९४)
३ तीन लोक पूजा[१३] (स० १९२१)

---

१. राज० के जैन शास्त्र भंडारों की हस्तलिखित खोज - पृ० ७५७।
२. वही, पृ० ६५८। ३. वही, पृ० ७५०।
४. वही, पृ० ७७५। ५. वही, पृ० ७२२।
६. वही, पृ. ६५८।
७. वही, पृ० ५५८, ५८१ एवं ७६४ आदि।
८. राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार पृ० २६६।
९. साधर्मी जन मध एक दिवस बैठे सभा।
भाषण को परमग, चर्चा सबै पुरान की।
भाषा और पुराण की रची छंद के माहि।
वर्द्धमान पुराण की भाषा है जू नाहि॥
-- वर्द्धमानपुराण की प्रशस्ति।
१०. वीरवाणी।
११. यह ग्रंथ बाबा दुलीचन्द के भंडार के बे० स० १४४ पर है।
१२. यह ग्रंथ शास्त्र भंडार, बाबा दुलीचन्द भडार के बे० सं० २७५ पर है।
१३. राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार पृ० २६६।

अखैराम—

प० अखैराम ने आमेर के भट्टारक महेन्द्रकीर्ति के गद्दी पर बैठने पर उस उत्सव की "जकडी" की रचना की है। इसमे तत्कालीन परिस्थितियो का चित्रण है। यह समय स० १७९२ के आसपास का था, क्योकि महेन्द्रकीर्ति पौष शुक्ला १० सं० १७९२ में गद्दी पर बैठे थे। अखैराम के नाम से अनेक पद तथा 'शील तरगिणी' नामक एक कथा भी मिलती है।

उदयराम—

उदयराम भट्टारक अनन्तकीर्ति के समय में हुए थे। इन्होंने अनन्तकीर्ति के चातुर्मास का वर्णन दो जकडियों में किया है। इन जकडियो मे गेयता है और साथ ही ऐतिहासिकता भी। जकडियों के अलावा इनके कुछ पद भी उपलब्ध हुए है।

किशनसिंह पाटणी—

किशनसिंह पाटणी का मूल निवास स्थान बरबाडा (सवाई माधोपुर) के पास रामपुर नामक गाँव था[१]। इनके पिता का नाम सुखदेव था। इनका गोत्र पाटणी तथा पद सगी था। कालान्तर मे किशनसिह सागानेर आकर रहने लगे और यही उन्होने ग्रथ रचना की। उपलब्ध इन रचनाओ की सख्या लगभग १५ है—

१. णमोकार रास (स० १७६०)
२. चौबीस दडक (१७६४)
३. रात्रि भोजन कथा पद्य (१७७३)
४ पुण्याश्रवकथाकोष (१७७२)
५ भद्रबाहु चरित्र (१७८३)
६. त्रेपन क्रियाकोप (१७६४)
७. लब्धिविधान कथा (१७८२)
८. निर्वाण कांड (१७८३)
९. एकावली व्रत कथा
१०. चेतनलोरी
११. गुरुभक्ति गीत
१२. जिन भक्ति गीत
१३. चेतनशिक्षा गीत
१४. चतुर्विंशति स्तुति
१५. श्रावक मुनी गुण वर्णन गीत।

---

१. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास—नाथूराम प्रेमी पृ० ६८–७१।

भारतीय दर्शन में योग

साध्वीश्री अशोकश्री जी

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान है। यहाँ के ऋषि-महर्षियों ने गिरि कन्दराओं मे बैठ कर आत्म-निदिध्यासन से जो अनुपम एवं मौलिक तत्त्व पाये, उन्होने उनको विश्व-हित मे वितरित किया था। उन्हें जितना स्व-कल्याण अभिप्रेत था, उतना पर-कल्याण भी अभीष्ट था। आत्मा का साक्षात्कार करने मे उन्होने अथक आयाम उठाया था। कठिन से कठिन साधना उन्होने की और उसके आधार पर उन्हे महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हुई। भावी पीढ़ी के लिए उन्होंने उन उपलब्धियो को संजोकर रक्खा, जो आज हमारे लिए विशेष धरोहर बन गई है। हम यदि उसके अनुसार बढते रहे तो साधना के चरम उत्कर्ष को सहज ही प्राप्त कर सकते है।

साधना के विभिन्न मार्ग है। योग-साधना भी उनमे एक विशिष्ट मार्ग है, जिसे भारत की सभी परम्पराओ ने स्वीकार किया है। इस राज-मार्ग पर चलकर व्यक्ति स्व-हित और पर-हित दोनो को यथेष्ट रूप से साध सकता है। योग-परम्परा के विभिन्न पहलुओ पर विचार करना प्रस्तुत निबन्ध का अभिप्रेत है।

परिभाषा :

योग शब्द युज् धातु के साथ घञ् प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। युज् धातु दो प्रकार की है --युज् नर योगे और युज् समाधौ। प्रथम का अर्थ है---जोड़ना और दूसरी का अर्थ है---समाधि (मन-स्थिरता)। विभिन्न आचार्यों ने योग को विभिन्न परिभाषाओ मे बाधा है। महर्षि पतजलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है[1]। दूसरी परिभाषा की अपेक्षा उन्होने पहली परिभाषा पर अधिक बल दिया है और उसका ही अपने ग्रन्थ मे आद्योपान्त विवेचन किया है। भगवद्गीता मे 'योग कर्मसु कौशलम्' मन, वचन और काय के सम्यग् प्रयोग को योग कहा है। वहाँ अनासक्ति योग का भी वर्णन किया गया है। यहां पर एक असामजस्य भी पैदा हो जाता है कि एक ओर जहाँ कर्म-कुशलता को योग कहा है, वहाँ दूसरी ओर अनासक्त रहने का उपदेश भी दिया गया है। यह प्रत्यक्ष विरोध चिन्तन के लिए विशेष उत्प्रेरित करता है। कार्य निपुणता के लिए उसमे तल्लीन व तन्मय बनना पडता है और उसमे बिना तन्मय बने कार्य-दक्षता नही सधती तथा तल्लीन रहने पर भी इसमे आसक्ति न हो, यह कैसे सम्भव है। पर गीता मे इसका सुन्दर समाधान दिया गया है, जिससे किसी को विरोधाभास प्रतीत न हो।

काव्य की भाषा मे कहा जा सकता है---

बांसों की छाया सीढ़ियो को बुहार रही है
परन्तु कोई धूली नहीं उठती
चन्द्रमा का प्रकाश पानी के तल में अन्तर्प्रवेश करता है
परन्तु पानी में कोई चिह्न नहीं छोड़ता[2]।

अर्थ स्पष्ट ही है। क्रिया की सर्जना मे कमल की तरह निर्लिप्त रहे।

गीता मे एक दूसरी परिभाषा और भी आती है 'योग. समत्वमुच्यते' समताभाव ही योग है। अरविंद के विचारानुसार 'स्वास्थ्य, प्रसन्नता, स्फूर्ति और आनन्द प्राप्त करने की कला का नाम योग है।'' वैसे तो अरविंद ने सम्पूर्ण जीवन को ही योग माना है। उनका कहना है---"हम जीवन और योग दोनो को ही ठीक प्रकार से देखे तो सम्पूर्ण जीवन ही सचेतन रूप से या अचेतन रूप से योग है। क्योंकि इस शब्द से हमारा मतलब है कि अपनी सत्ता मे प्रसुप्त क्षमताओ के आविर्भाव द्वारा आत्मा की परिपूर्णता की दिशा मे व्यक्ति का विधिबद्ध प्रयत्न और मानव सृष्टि का उस विश्वव्यापी तथा परस्पर के सत्ता के साथ मिलकर, जिसे कि हम मनुष्य में और

१. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।

२. ध्यान सप्रदाय, पृ० ६४।

विश्व में अंशत: अभिव्यक्त देखते है। परन्तु जीवन की उन प्रतीतियो के पीछे जाकर देखने पर सारा जीवन ही प्रकृति का विशाल योग दिखाई देता है, उस प्रकृति का जो अपनी सभाव्य शक्तियो के सब वृद्धिशाली आविर्भाव मे पूर्णता साधित करने और अपनी दिव्य वास्तविक सत्ता के साथ[१]।" दूसरे शब्दो मे अरविंद का योग मनुष्य जाति मे भगवान् पाना और प्रकट करना है। इस योग का साराश यही है कि हम अपने आपको भगवान् के समक्ष प्रस्तुत कर दे और भगवान् की उत्कृष्ट ज्योति और पवित्रता को अपने मन मे ले आवें। विवेकानन्द ने मानसिक नियमन को योग कहा है।

व्यास जी ने प्रथम सूत्र की व्याख्या मे लिखा है कि 'योग समाधि'। वाचस्पति मिश्र ने उसे स्पष्ट किया है कि यहाँ योग शब्द युजृनर् योगे इस धातु से नही बना है, अपितु युज् समाधौ से बना है। किसी महर्षि ने उद्योग, सयोग और वियोग, इन तीनो के समवायी रूप को योग बताया है। अभ्यास उद्योग है, वैराग्य वियोग और प्रणिधान सयोग है। आत्माद्वैत वाद मे 'ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग एव सम्यग् ज्ञान का जो साधन है, वही योग है'।[२] 'प्रवृत्तिलक्षणो योग:' प्रवृत्तिमात्र योग है, यह परिभाषा भी की जाती है।

बौद्ध परम्परा मे 'कुशल पवित्तीए जोगो'--कुशल प्रवृत्ति को योग कहा है।

जैन परम्परा मे हेमचन्द्राचार्य ने योग को निम्नोक्त रूप मे अभिव्यञ्जित किया है—"चार वर्गो मे मोक्ष सबसे प्रधान है। योग उसका कारण है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र; इस त्रिवेणी का संगम ही योग है।[३] आचार्य हरिभद्र के अभिमतानुसार धर्म का व्यापार मात्र योग है अर्थात् योग वह है, जो मोक्ष के साथ साक्षात् सम्बन्ध कराये।[४] धर्म मोक्ष का प्रधानतम साधन है; अत: जितने भी धार्मिक व्यापार है, वे सब योग की परिधि मे है। इस व्याख्या का फलित होता है; 'वत्थु सहावो धम्मो'—आत्म-रूप वस्तु का स्वभाव—धर्म ही योग है। उपर्युक्त परिभाषाओं मे जितना योग शब्द का अर्थ जोडना उपयुक्त बैठता है, उतने अन्य अर्थ नही। फिर भी सभी परिभाषाओ में सत्याश अवश्य रहता है। क्योंकि अन्तिम लक्ष्य सबका एक है—आत्मस्थित शक्तियो के उत्कर्षण एव बाह्य विषयों के अपकर्षण द्वारा मुक्ति व शाश्वत शान्ति की ओर अग्रसर होना। इसलिए साराश के रूप मे हम कह सकते है, एक ही मजिल की अनेक राहे है जैसे कि एक ही वृक्ष की अनेक शाखाएं।

योग का विशाल साहित्य

वेद और उपनिषद् :

भारतीय दर्शनो की तीन प्रमुखतम धाराएं रही है—वैदिक, बौद्ध और जैन। तीनो ही परम्पराओ मे न्यूनाधिक मात्रा मे योग का विश्लेषण मिलता है। वैदिक साहित्य का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ है—ऋग्वेद। उसमे योग शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे किया गया है, पर उसका अर्थ प्राय जोडना ही अभिप्रेत रहा है, समाधि व आध्यात्मिक अर्थ वहां विवक्षित नही है। पर इसके उत्तरवर्ती साहित्य—उपनिषदो मे आध्यात्मिक अर्थ मे भी योग शब्द का प्रयोग है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे स्पष्ट रूप से योग और योगोचित्त, स्थान प्रत्याहार धारणादि योगाङ्गो का वर्णन भी मिलता है।[५] मध्यकालीन एव अर्वाचीन उपनिषद् तो केवल योग विषयक ही है, जिनमे योगशास्त्र की भाति योगाङ्गो का सागोपाग वर्णन है[६]। वे निम्नोक्त

---

१. योग विचार, पृ० १।

२. आत्माद्वैतवाद।
परमार्थब्रह्मप्राप्ति मार्गभूत सम्यग् साधनीभूतो योग।

३. योगशास्त्र, पृ० १, श्लो० १५।
चतुर्वर्गे ऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्
ज्ञान, श्रद्धा चारित्र रूप, त्रयं च स।

४ योगविंशिका १
मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्म वावारो
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइं गओ विसेसेणं

५. श्वेताश्वतर उपनिषद्, अ० २

६. त्रिरुन्नत स्थाप्य समं शरीर,
हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत् विद्वान्,
स्त्रोतासि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥

है—ब्रह्मविद्योपनिषद, ब्रह्मबिदु, योगशिखा, ध्यानबिन्दु, तेजबिन्दु, योगतत्त्व, नादबिन्दु और चूलिकोपनिषद् आदि। कहना चाहिए, ऋग्वेद मे जो अध्यात्म-चिन्तन अंकुरित था, वही उपनिषदो मे पल्लवित एव पुष्पित होकर शाखा-प्रशाखाओ के साथ फलावस्था को प्राप्त हुआ है। उपनिषद् काल मे योग-प्रक्रिया कितनी पल्लवित थी, यह स्पष्ट ही है।

महाभारत और गीता :

महाभारत मे भी योग शब्द का प्रयोग अध्यात्म के अर्थ मे मिलता है। शान्ति पर्व और अनुशासन पर्व मे योग की अनेक प्रक्रिया का समुचित वर्णन मिलता है।[१] गीता भी महाभारत का ही एक विशेष अग है। वहाँ पर योग अध्यात्म अर्थ मे विपुल मात्रा मे अभिव्यञ्जित अवश्य है, पर वह भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीनो से संश्लिष्ट होकर ही। गीता के छठे और तेरहवे अध्याय मे तो योग के मौलिक सिद्धान्त और योग की सारी प्रक्रियाए आ जाती है।

न्याय :

न्याय, जिसका प्रमुख विषय है प्रमाण-पद्धति का विश्लेषण करना, उसमे भी महर्षि गौतम ने योग को महत्त्व दिया है। महर्षि कणाद ने तो अपने वैशेषिक दर्शन मे यम-नियमादि योगाङ्गों की विशेष महिमा गाई है।[२]

प्राणान् प्रयोऽयेह सयुक्त चेष्ट,
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत् ।
दुष्टाश्व युक्तमिव वाहमेन,
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्त ॥६॥
समे शुचौ शर्करा वह्नि,
वालुका विवर्जिते शब्दजाल श्रयादिभि. ।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने,
ग्रहानि वातश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

१. शान्तिपर्व १९३, २१७, २४६, २५४ आदि, अनुशासन पर्व ३४, २४६।

२. समाधि विशेषाभ्यासात् ४।२।३८
अरण्य गुहा पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः। –४।२।४२
तदर्थ यमनियमाभ्यात्म संस्कारो
योगाच्चात्मध्यात्म विध्युपायै । –४।२।४६

पुराण :

पुराणो मे भागवत मे योग का सुमधुर पद्यो मे वर्णन आता है। अनेक तान्त्रिक ग्रथो मे भी योग विषयक तथ्य बिखरे पड़े है। उनमे महानिर्माण तन्त्र षड्चक्र निरूपण आदि मुख्य है। यहाँ पर जीव (ससारी आत्मा), आत्मा (मुक्त आत्मा) और परमात्मा; इन तीनो का अभेद प्रतिपत्ति को योग बताया है।[३]

जैमिनी :

पूर्व मीमासा मे जैमिनी ने योग का निर्देश तक नही किया है, वह किसी दृष्टि से ठीक भी है, क्योकि उसमे सकाम कर्मकाण्ड अर्थात् धूममार्ग की ही मीमांसा है। उसकी पहुंच भी स्वर्ग तक ही है, उसका साध्य मोक्ष नही है। पर योग का उपयोग तो मोक्ष के लिए ही होता है।

सांख्य परम्परा :

साख्य सूत्र मे भी योग-प्रक्रिया पर वर्णन करने वाले कई सूत्र है।[४] महर्षि वादरायण ने अपने ब्रह्म सूत्र के तीसरे अध्याय का नाम ही साधना अध्याय रक्खा है और उसमे आसन. ध्यानादि योगाङ्गों का समुचित विवेचन है। 'योगदर्शन' तो मुख्यतया योग विषयक ही ठहरा, उसमे योग-प्रक्रिया का पाया जाना स्वाभाविक ही है। इतना ही नही, वह तो सारे यौगिक ग्रन्थों का उत्तर-दायित्व वहन करने वाला है। अनेक दार्शनिको ने योग पर थोडा सा विवेचन करके विशेष जानकारी के लिए 'योगदर्शन' को देखने की सूचना दी है। महर्षि पतजलि द्वारा प्रणीत 'पातजल योगदर्शन' भी सर्वांगीण योग-साधना का संवाहक सर्वोत्तम ग्रन्थ है। उसका अनुकरण तो प्राय: दार्शनिकों ने किया ही है।

३. महानिर्माण तंत्र, अ० ३, पृ० ८२
ऐक्य जीवात्मनो राहु. योगं योग विशारदाः
शिवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्ति परे विदु. ।

४. अभिषेचनोपवास ब्रह्मचर्य गुरुकुलवास नाना प्रस्थ यज्ञादान प्रेक्षणदिङ् नक्षत्र मन्त्र काल नियमाश्च दृष्टयः। ६।२।२।
अयतस्य शुचि भोजनाभ्युदयो न विद्यते नियमाभावाद् विद्यते नार्थान्तराद् वा यमस्य ।

बौद्ध परम्परा :

बौद्ध परम्परा मे योग के अर्थ मे ध्यान शब्द का प्रयोग आता है। जैन परम्परा की तरह बौद्ध परम्परा मे भी चार प्रकार के ध्यानो का वर्णन मिलता है, जिनका विश्लेषण हम आगे करेंगे। 'विशुद्धि मग्ग' मे तीन तरह की समाधियो का उल्लेख मिलता है। 'विशुद्धि मग्ग' और 'अभिधम्म कोष', ये दोनों तो मुख्यत ध्यान विषयक ही है। भगवान् महावीर की तरह भगवान् बुद्ध ने भी बोधि-प्राप्ति के पूर्व ६ वर्ष तक योगाभ्यास किया था। उनके सहस्रों शिष्यों ने भी वही पथ अपनाया था। ध्यान संप्रदाय बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। उपर्युक्त इन सभी तथ्यो से यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध परम्परा मे भी योग-विद्या विकसित एव पल्लवित थी।

जैन परम्परा :

जैन परम्परा के पूर्ववर्ती साहित्य मे योग के अर्थ मे तप और सवर शब्द का जितना उपयोग हुआ है उतना योग शब्द का नही हुआ है। तप के अनशन आदि बारह भेदों का एव संवर के सम्यक्त्व आदि पाच भेदो का वर्णन अनेक स्थानो पर मिलता है। वर्णन ही नही, बल्कि इसका विकास तत्कालीन मुनियो मे साक्षात् मूर्तिमान् था। भगवान् महावीर की बारह वर्ष की कठोरतम साधना इसी योगाभ्यास की ज्वलन्त प्रतीक थी। अनेक स्थलों पर आता है कि भगवान् महावीर अमुक आसन लिए हुए ध्यान मे रत थे। 'तीर्थंकर महावीर' पुस्तक मे इसी विषय को पुष्ट करते हुए लिखा है—'सानुलट्ठिय से भगवान् ने दृढ़भूमि की ओर विहार किया और पेढाल गाव मे स्थित पेढ़ाल नामक उद्यान मे पोलास नाम के चैत्य मे जाकर अष्टम तप करके एक भी जीव की विराधना न हो, इस प्रकार एक शिला पर शरीर को कुछ झुकाकर हाथ लम्बे करके किसी रूक्ष पदार्थ पर दृष्टि स्थिर करके दृढ़ मनस्क होकर अनिमेष दृष्टि से भगवान् वहाँ एक रात्रि ध्यान में स्थिर रहे। यह महाप्रतिमा तप कहलाता है।'[1]

योग शब्द इस अर्थ मे आगमानुमोदित भले ही न हो, पर योग-प्रक्रिया उस समय भी नितान्त पल्लवित एवं विकसित थी, यह निश्चित रूप से माना जा सकता है। जैन दर्शन मे योग शब्द को एक सकीर्ण परिभाषा मे न बाधकर उसे विशाल अर्थ प्रदान किया है। महर्षि पतजलि की तरह उसे न केवल निरोधात्मक ही माना है और न अरविद की तरह विधेयात्मक ही; प्रत्युत दोनों को एक साथ तोला है। जो भी प्रवृत्ति या निवृत्ति मोक्ष के अभिमुख ले जाये, उसी प्रवृत्ति एव निवृत्ति का नाम योग है। प्रवृत्ति का सूचक शब्द निर्जरा एव निवृत्ति का सूचक शब्द सवर है। सवर योग और निर्जरा योग, ये दोनों जैन दर्शन के हार्द है। सामान्यतया योग शब्द का फलितार्थ अध्यात्म-विकास ही है। अध्यात्म-विकास ने जितना जैन दर्शन मे विकास पाया है, उतना अन्य दर्शनो मे नही। यह पूर्ववर्ती साहित्य का समुल्लेख हुआ।

१. हरिभद्र :

मध्ययुग मे श्री हरिभद्र सूरि ने तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करके तथा लोक रुचि के अनुसार योग शब्द की नवीन परिभाषा कर योग साहित्य मे एक नया अध्याय जोड दिया था। सुव्यवस्थित योग साहित्य की जैन परम्परा मे जो कमी थी, उसे उन्होंने अपनी बौद्धिक प्रतिभा से सम्पन्न किया। योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगविंशिका, योगशतक और षोडशक, ये योगप्रक्रिया का समस्त व्यौरा देने वाली उनकी अनुपम कृतियाँ है। उनकी प्रतिभा ने केवल जैन योग का वर्णन करके ही आत्मतोष नही माना, प्रत्युत 'पातंजल योग दर्शन' मे प्रतिपादित योग-प्रक्रिया के साथ जैन सकेतो का समन्वय भी प्रस्तुत किया है। 'योग दृष्टि समुच्चय' में जिन आठ दृष्टियो का वर्णन है, वह सारे योग साहित्य मे एक नया आलोक है। इनका सविस्तर वर्णन अग्रिम प्रकरणो में किया जा सकेगा।

२. हेमचन्द्र :

हेमचन्द्र सूरि द्वारा रचित 'योगशास्त्र' भी एक अनूठा ग्रन्थ है। उसमे पातंजल योगदर्शन मे प्रतिपादित आठ योगाङ्गों के क्रम से साधु और गृहस्थ जीवन की आचार-प्रक्रिया का जैन सिद्धान्तानुसार सुन्दरतम वर्णन है। उसमे आसन, प्राणायाम, धारणा और ध्यान प्रभृति के स्वरूपों का वर्णन एवं उनकी महिमा भी बतलाई गई

---

१. तीर्थंकर महावीर, पृ० २२१

है। इससे यह फलित होता है कि हेमचन्द्र ने राजयोग की तरह हठयोग को भी महत्त्व दिया था।

३. यशोविजय :

यशोविजयजी द्वारा रचित योगग्रन्थ भी जैन साहित्य की अनुपम निधियाँ है। उनका शास्त्राध्ययन, तर्क-कौशल और योगानुभूति अत्यन्त गम्भीर थी। उन्होने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, सटीक बत्तीस बत्तीसियाँ लिखकर योग साहित्य मे मानो एक प्रकार की बाढ-सी ला दी। उन्होने जैन सिद्धान्तो की सूक्ष्म मीमासा के साथ अन्य दर्शनो का समन्वय भी किया है। इसके अतिरिक्त उन्होने हरिभद्रसूरि कृत 'योगविंशिका' तथा षोडशक ग्रंथो पर टीका लिखकर गूढ तत्त्वो का उद्घाटन भी किया था। उन्होने महर्षि पतजलि कृत योग सूत्र पर भी एक लघुवृत्ति लिखी तथा उसमे जैन परम्परा एव साख्य परम्परा का यथासम्भव समन्वय भी किया है। तटस्थता की झलक उनके प्रत्येक ग्रथ मे रही है।

४. दिगम्बर परम्परा :

दिगम्बर-साहित्य मे ज्ञानार्णव तो प्रसिद्धतम ग्रथ है ही, ध्यानसार और योग प्रदीप ये दोनो भी कम महत्त्व के नही है। वे पद्यात्मक एव लघु परिमाण है। 'योगसार' नामक ग्रथ भी इस विषय मे महत्त्वपूर्ण है। पर इसके रचयिता का परिचय अब तक सुलभ नही हुआ है। योगतारावली, योगवीज और योग कल्पद्रुम आदि ग्रंथ भी महत्त्वपूर्ण है। विक्रम की सत्रहवी शताब्दी मे भवदेव द्वारा रचित 'योग निबन्ध' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ भी देखने मे आया है। जिसमे विष्णु पुराणादि ग्रन्थो के उद्धरण देकर योग-सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर विस्तृत विवेचन किया है।

अन्य भाषाओं में :

महाराष्ट्री भाषा मे ज्ञानदेवी द्वारा विरचित गीता की ज्ञानेश्वरी टीका भी दर्शनीय है। इसके छठे अध्याय का वर्णन अत्यन्त सुन्दर एव मनोहर है। निश्चित ही ज्ञानदेवी ने ज्ञानेश्वरी टीका द्वारा अपने अनुभव एव वाणी को अबध्य बनाया है। 'सिद्धान्त सहिता' भी योग विषयक दर्शनीय ग्रन्थ है। कबीर का 'बीजक ग्रन्थ' भी योग साहित्य का एक अग है। हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगाली आदि विविध भाषाओ मे पातजल योग शास्त्र का अनुवाद तथा विवेचन मिलता है। विभिन्न भाषाओ मे पातजल योग शास्त्र का अनुवाद योग साहित्य के गौरव को और भी बढा देता है। भारतीय साहित्य मे योग साहित्य भी अपना अनूठा स्थान रखता है, यह अब कोई उलझा हुआ विषय नही रह गया है। ★

लंका में जैन धर्म

लंका देश में जिस समय बौद्ध भिक्षु गये, उस समय जैन धर्म लंका देश में फैला हुआ था व जैन साधु बड़ी संख्या में विचरण करते थे। हिन्दी साप्ताहिक पत्र "चौराहा" में 'जैन और बौद्ध परम्पराओं का मिलन बिन्दु' शीर्षक निम्नलिखित लेख में यह जानकारी प्रकाशित हुई है।

यहाँ बौद्ध साहित्य के गौरव को बढ़ाने वाली एक बात को भी बताना अनुचित न होगा, जिसने जैन धर्म के एक ऐसे गौरवमय साक्ष्य की ओर संकेत किया है जिसका पता स्वयं जैन धर्म को भी नहीं है। अशोक के पुत्र और पुत्री, महेन्द्र और संघमित्रा, जब लका में धर्म प्रचारार्थ गये तो वहाँ उन्होंने अपने से पूर्व स्थापित निर्ग्रन्थ संघ को देखा। लंका के प्राचीन नगर अनुराधापुर की (जो आज खण्डहर के रूप में पड़ा है) जब स्थापना की गई तो वहाँ महावंश के कथनानुसार तत्कालीन राजा ने निर्ग्रन्थों के लिए भी आश्रम बनाए। इतना ही नहीं, पालि ग्रन्थों का साक्ष्य है कि लंका में बौद्ध धर्म की स्थापना होने के बाद भी ४४ ईसवी पूर्व तक निर्ग्रन्थों के आश्रम लंका में विद्यमान थे, जिसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में 'पालि डिक्शनरी आफ प्रापर नेम्स' के सम्पादक प्रसिद्ध सिंहली बौद्ध विद्वान् मललसकर ने भी स्वीकार किया है। जैन विद्वानों को अपने प्राचीन विदेशी-प्रचार कार्य की खोज करनी चाहिए।

जैन दर्शन-साधना का केन्द्रीय विचार है, वस्तुतः वीतरागता। सम्पूर्ण वीतरागता जैन-दर्शन का लक्ष्य है। अहिंसा और अनेकान्त उसके दाएँ-बाएँ स्थित है। यह त्रिविध साधना मानवता के तेज को निखारने वाली है। 'माणुसत्तं भवे मूलं' मनुष्यता ही मूल वस्तु है, यह जो कहा गया है, यही वस्तुतः जैन दर्शन की प्रकृत स्थिति है, उसका आत्मवाद नहीं। और यहीं पर बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन दोनों मिलते हैं। दोनों का लक्ष्य मानव है, वह मानव जो पूर्ण विमुक्त है, केवली है, अर्हत् है।

—महेन्द्रकुमार जैन दिल्ली

कौशाम्बी

पं० बलभद्र जैन

स्थिति—इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम मे यमुना के उत्तरी तट पर ६० किलोमीटर दूर कोसम नामक एक छोटा सा ग्राम है। वहाँ जाने के लिए इलाहाबाद से मोटर मिलती है। इलाहाबाद से सराय अकिल तक ४२ किलो मोटर की पक्की सड़क है। वहाँ से कौशाम्बी का रैस्ट हाउस कच्चे मार्ग से १८ किलोमीटर दूर है। यहाँ तक बस जाती है। रैस्ट हाउस से क्षेत्र ४ किलोमीटर है। कच्चा मार्ग है। इलाहाबाद से २३ मील दूर मेन लाइन पर भरवारी स्टेशन से यह क्षेत्र दक्षिण की ओर २० मील है। यहाँ से भी मोटर, इक्का द्वारा जा सकते है। आजकल प्राचीन वैभवशाली कौशाम्बी के स्थान पर गढ़वा कोसम इनाम और कोसम खिराज नामक छोटे-छोटे गाँव है जो जमुना के तट पर अवस्थित है। क्षेत्र से गढ़वा इनाम गाव १ किलोमीटर है। वहाँ से १० किलोमीटर जल मार्ग से पभोसा गिरि है, जहाँ पर भगवान पद्मप्रभु की भव्य मूर्ति है। कौशाम्बी की स्थापना चन्द्रवंशी राजा कुशाम्बु ने की थी। इसका पोस्ट आफिस अकिल सराय है।

तीर्थक्षेत्र—इस नगरी की प्रसिद्धि छटवे तीर्थकर भगवान पद्मप्रभु के कारण हुई है। भगवान पद्मप्रभु के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान कल्याणक यही पर हुए थे। इन कल्याणको को मनाने के लिए इन्द्र और देव, राजा और प्रजा सबका यहाँ आगमन हुआ था और यह नगरी तब विश्व के आकर्षण का केन्द्र बन गई थी। तबसे यह नगरी लोक विश्रुत तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध हो गई। प्रसिद्ध जैन शास्त्र तिलोय पण्णत्ति मे भगवान पद्मप्रभु की कल्याणक भूमि के रूप में कौशाम्बी का उल्लेख इस प्रकार आया है :—

अस्सजुव किण्ह तेरसि दिणम्मि पउमप्पहो अ चित्तासु।
धरणेण सुसीमाए कोसंबि पुरवरे जादो ॥४।५३१॥

—पद्मप्रभु तीर्थकर ने कौशाम्बी पुरी मे पिता धरण और माता सुसीमा से आसौज कृष्णा त्रयोदशी के दिन चित्रा नक्षत्र में जन्म लिया।

इसका समर्थन आ० रविषेण कृत 'पद्मपुराण ६८।१४५, आ० जटासिंह नन्दी कृत 'वराङ्ग-चरित २७।८२, आ० गुणभद्र कृत 'उत्तर पुराण ५२।३८ में भी किया गया है।

उस समय कौशाम्बी अत्यन्त समृद्ध महानगरी थी। आज तो वह खण्डहरो के रूप मे पड़ी हुई है। कहते है, वर्तमान सिहवल, कोसम, पाली, पभोसा ये सब गाव पहले कौशाम्बी के अन्तर्गत थे। वास्तव में कौशाम्बी में भगवान के गर्भ और जन्म कल्याणक हुए थे और पभोसा में जो कौशाम्बी का उद्यान था, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुए थे, अत. ये दोनों ही स्थान तीर्थ क्षेत्र है। आजकल इस वन का नाम अथरवन कहलाता है।

भगवान के दीक्षा-कल्याणक का विवरण 'तिलोय पण्णत्ति' मे इस प्रकार मिलता है :—

चेत्तासु किण्हतेरसि अवरण्हे कत्तियस्स णिक्कंतो।
पउमप्पहो जिणिंदो तदिए खवणे मणोहरुज्जाणे ॥४।६४६

—पद्मप्रभ जिनेन्द्र कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के अपराण्ह समय मे, चित्रा नक्षत्र मे, मनोहर उद्यान मे तृतीय भक्त के साथ दीक्षित हुए। उन्होने दीक्षा लेकर दो दिन का उपवास किया। वे दो दिन के पश्चात् वर्धमान नगर मे पारणा के निमित्त पधारे। राजा सोमदत्त ने भगवान को आहार दान देकर असीम पुण्य का बन्ध किया। देवताओ ने पचाश्चर्य किये। भगवान घोर तप करने लगे। दीक्षा के छह माह पश्चात् भगवान विहार करते हुए पुन: दीक्षावन मे पधारे। यहाँ आप ध्यान लगाकर बैठ गये और इसी मनोहर उद्यान में उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो

गया। आचार्य यतिवृषभ 'तिलोय पण्णत्ति' ग्रंथ में भगवान के ज्ञान कल्याणक का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं :—

बइसाह सुक्क दसमी चेत्तारिक्खे मणोहरुज्जाणे।
अवरण्हे उप्पण्णं पउमप्पह जिणवरिंदस्स ॥४।६८३

—पद्मप्रभ जिनेश्वर को वैशाख शुक्ला दसमी के अपराण्ह काल में चित्रा नक्षत्र के रहते मनोहर उद्यान में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

उसी समय इन्द्रों और देवों ने आकर उनकी पूजा की। कुवेर ने समवसरण की रचना की और भगवान ने इसी बन मे—पभोसा गिरि मे धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

यहाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना उस समय घटित हुई, जब भगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्ति से पूर्व यहाँ पधारे। वे पारणा के लिए नगर मे पधारे। संयोगवश उस समय भारत के सर्वाधिक शक्तिशाली गणराज्य वैशाली के अधिपति चेटक की पुत्री कुमारी चन्दना (चन्दनवाला) दुर्भाग्य के चक्र मे पडकर सेठ वृषभसेन की सेठानी द्वारा बधन में पड़ी हुई थी। झूठे सापत्न्य द्वेष से सेठानी ने उसे जजीरो में बाध रक्खा था। चन्दना ने ज्यों ही प्रभु महावीर को देखा तो उसके सारे बन्धन खुल गये। सेठानी ने उसे निराभरण कर रक्खा था, उसे खाने के लिए काजी मिश्रित कोदो का भात मिट्टी के सकोरे मे दे रक्खा था। भगवान के दर्शन करते ही उसका कोमल शरीर बहुमूल्य वस्त्राभूषणों ने सुशोभित होने लगा। उसके शील के माहात्म्य से उसका मिट्टी का सकोरा सोने का हो गया और कोदो का भात शाली चावलों का भात बन गया। किन्तु चदना को तो इस सबकी ओर ध्यान देने का अवकाश ही कहाँ था। वह तो प्रभु की भक्ति मे लीन थी। जगद्गुरु त्रिलोकीनाथ प्रभु उसके द्वार पर आहार के लिए आये थे। उसके हृदय का सम्पूर्ण रस ही भक्ति बन गया था। वह भगवान के चरणों में झुकी और नवधा भक्तिपूर्वक उसने भगवान को पड़गाया। आज उसके हृदय में कितना हर्ष था! वह अपने सारे शोक-सन्तापों को भूल गई। आज उसके हाथों से तीर्थङ्कर भगवान ने आहार लिया था। इससे बड़ा पुण्य संसार में क्या कोई दूसरा हो सकता है।

भगवान का आहार समाप्त हुआ। देवों ने आकर उसका सम्मान किया। उन्होंने पंचाश्चर्य किये—आकाश से रत्न वर्षा हुई, पुष्प वृष्टि हुई, देवों ने दुन्दुभी घोष किये, शीतल सुरभित पवन बहने लगी और आकाश मे खड़े हुए देव जयजयकार कर रहे थे, 'धन्य यह दान, धन्य यह पात्र और धन्य यह दाता।'

प्रभु आहार के पश्चात् वन की ओर चले गये, भक्त चन्दना जाते हुए प्रभु को निर्निमेष दृष्टि से देखती रही। कौशाम्बी के नागरिक आकर चन्दना के पुण्य की सराहना कर रहे थे। यह पुण्य-चर्चा राजमहलो मे भी पहुची। कौशाम्बी नरेश शतानीक की पटरानी मृगावती ने सुना तो वह उस महिमामयी भाग्यवती नारी के दर्शन करने के लिए राजकुमार उदयन के साथ स्वय आई। किन्तु उसे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्यमिश्रित हर्ष हुआ कि वह नारी और कोई नही; उसकी छोटी बहिन है। वह अपनी प्रिय बहिन को बडे आदरपूर्वक महलो मे लिवा ले गई। किन्तु चन्दना अपनी इस अल्प वय मे ही कर्म के जिन क्रूर हाथो मे पडकर नाना प्रकार की लाञ्छनाओ और व्यथाओ का अनुभव कर चुकी थी, उससे उसके मन मे संसार के प्रति प्रबल निर्वेद पनप रहा था। उसके बधुजन आकर उसे लिवा ले गये। लेकिन उसका वैराग्य पकता ही गया और एक दिन चन्दना घरबार और राज सुखों का परित्याग करके भगवान महावीर की शरण मे जा पहुची और आर्यिका दीक्षा ले ली। अपने तप और कठोर साधना के बल पर वह भगवान महावीर की ३,६००० आर्यिकाओ के सघ की सर्वप्रमुख गणिनी के पद पर प्रतिष्ठित हुई।

भगवान महावीर अपने जीवन काल मे कई बार कौशाम्बी पधारे और वहाँ उनका समवसरण लगा।

तत्कालीन इतिहास—जैन ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व ७वीं शताब्दी में जो सोलह बड़े जनपद थे, उनमे एक वत्स देश भी था, जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी। गंगा जी की बाढ़ के कारण जब हस्तिनापुर का विनाश हो गया, उसके बाद चन्द्रवंशी नेमिचक्र ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया था। उनके वश ने यहाँ बाईस पीढ़ी तक राज्य किया।

भगवान महावीर के समय में शतानीक वत्स देश का राजा था। वैशाली गणतंत्र के अधिपति चेटक की सात पुत्रियाँ थी जिनमे से ज्येष्ठा और चन्दना तो प्रव्रजित हो गई। शेष पाँच पुत्रियो मे बडी पुत्री प्रियकारिणी–जिन्हे त्रिशला भी कहा जाता है––कुण्डलपुर नरेश महाराज सिद्धार्थ के साथ व्याही गई। मृगावती वत्सनरेश चन्द्रवंशी सहस्रानीक के पुत्र शतानीक के साथ, सुप्रभा दशार्ण देश के हेमकच्छ नरेश सूर्यवशी दशरथ के साथ, प्रभावती कच्छ देश की रोरुका नगरी के राजा उदयन के साथ, पांचवी पुत्री चेलिनी मगध नरेश शिशुनागवंशी श्रेणिक के साथ विवाही गई।

इस प्रकार वत्सराज शतानीक सासारिक सम्बन्ध के कारण महावीर भगवान के मौसा थे और मृगावती उनकी मौसी थी। इस प्रकार उनका इस राजवंश से रक्त सबध था। किन्तु इससे अधिक उनके पतित पावन व्यक्तित्व के कारण यह राजवश उनका अनन्य भक्त था।

वत्स देश के राजाओं के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि वे शिक्षित और सुसस्कृत थे। इनकी राजवशावली इस प्रकार बताई[1] जाती है -

१. सुतीर्थ

२. रच

३. चित्राक्ष

४. सुखीलाल-सहस्रानीक

५. परंतप शतानीक और जयंती पुत्री

६. उदयन और एक पुत्री

७. मेधाबिन अथवा मणिप्रभ

८. दण्डपाणि

९. क्षेमक।

शतानीक की बहिन जयन्ती कट्टर जैन धर्मानुयायी थी और महावीर[2] की भक्त थी। शतानीक वड़ा वीर था। उसने एक बार चम्पानगरी पर आक्रमण करके उसे जीत लिया और उसे अपने राज्य मे मिला लिया। ललित कलाओं में उसकी बड़ी रुचि थी। उसके यहाँ एक कुशल चित्रकार था। किसी कारणवश राजा ने उसे निकाल दिया। इससे चित्रकार के मन में प्रतिशोध की भावना जागृत हुई। वह सीधा अवन्ती नरेश चण्डप्रद्योत के राजदरबार में पहुंचा और उसे मृगावती रानी का चित्र दिखाया। प्रद्योत चित्र देखते ही मृगावती के ऊपर मोहित हो गया। उसने शतानीक के पास सन्देश भेजा कि या तो महारानी मृगावती को मुझे दे दो या फिर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। वीर शतानीक ने युद्ध पसन्द किया। अवन्ती नरेश ने प्रबल वेग से कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। किन्तु शतानीक की इस युद्ध के दौरान—सम्भवतः विशूचिका रोग से मृत्यु हो गई। प्रद्योत उस समय वापिस लौट गया।

मृगावती ने राज्य का शासन-सूत्र सम्भाल लिया। उदयन की अवस्था उस समय ६-७ वर्ष की थी। रानी जानती थी कि प्रद्योत से युद्ध अवश्यम्भावी है। अतः वह युद्ध की तैयारी करती रही। उसने एक मजबूत किला बनवाया। प्रद्योत ने मृगावती के पास पुनः विवाह का प्रस्ताव भेजा। मृगावती ने चतुराई से उदयन के राज्यारोहण तक का समय मांग लिया और वह किले-खाइयो और युद्ध की अन्य तैयारियो मे जुटी रही। १३-१४ वर्ष की अवस्था में उदयन का राज्याभिषेक हुआ। प्रद्योत ने पुनः कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। भयानक युद्ध हुआ। अन्त मे समझौता हुआ। प्रद्योत के हाथों से उदयन का राज्याभिषेक हुआ, मृगावती भगवान महावीर के पास दीक्षित हो गई।[3]

उदयन भी भगवान महावीर के समकालीन था। वह अपने समय में सारे देश में रूप और गुणों मे सारे राजकुमारों की ईर्ष्या और कुमारियों की कामना का एक मात्र आधार बन गया था। यह कहा जाता है कि उस समय की प्रमुख पाँच महानगरियों में उदयन के चित्र राजप्रासादों से लेकर नागरिकों और वारांगनाओं के सायं कक्ष में सब कही सम्मोहन के साधन बने हुए थे। वह वीणावादन में अत्यन्त निपुण था। जब वह अपनी प्रसिद्ध घोषवती वीणा के तारों पर उँगलियाँ चलाता था

१. The Journel of the Orissa Bihar Research Society, Vol.-I

२. भरतेश्वर-बाहुबली वृत्ति, (तृतीय संस्करण) पृष्ठ ३४१-२।

३. भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति, पृष्ठ ३२३-५।

तो सुनने वाले अपना होश गँवा बैठते थे। अपनी इसी वीणा की बदौलत वह अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता से प्रणय विवाह करने में सफल हुआ था। बाद में राजनैतिक कारणों से मगध की राजकुमारी पद्मावती तथा अन्य दो राजकुमारियों का भी विवाह उसके साथ हुआ था। किन्तु वासवदत्ता के प्रति उसका जो अनुराग था, उसको लेकर अनंगहर्ष, कात्यायन, वररुचि, गुणाढ्य, श्रीहर्षदेव, क्षेमेन्द्रदेव आदि अनेकों कवियो ने काव्य रचना की है। महाकवि भास ने उदयन-वासवदत्ता के कथानक को लेकर तीन नाटकों की रचना की है।

उदयन ने कौशाम्बी को कला केन्द्र बना दिया था। उस समय के जन-जीवन में सौन्दर्य और सुरुचि की भावना का परिष्कार हुआ था। उसके समकालीन नरेशों में इतिहास प्रसिद्ध प्रसेनजित, चण्डप्रद्योत, श्रेणिक बिम्बसार, अजातशत्रु, हस्तिपाल, जितशत्रु, दधिवाहन आदि मुख्य थे जिन्होंने तत्कालीन भारत के इतिहास का निर्माण किया।

इस नगरी में कई बार महात्मा बुद्ध भी पधारे थे किन्तु जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म का प्रचार उस समय यहाँ कम ही हुआ था। भगवान महावीर के प्रभावक व्यक्तित्व की ओर ही यहाँ की जनता अधिक आकृष्ट हुई। उदयन भी महावीर का भक्त था। महात्मा बुद्ध उदयन के समय जब कौशाम्बी पधारे, तब उदयन उनके पास एक बार भी दर्शनार्थ नहीं आया। सम्भवतः इससे क्षुब्ध होकर बौद्ध ग्रन्थकारों ने उदयन के चरित्र को कुछ निम्न ढंग का चित्रित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु जैन कथा साहित्य में उदयन का चरित्र-चित्रण भद्र शब्दों में किया गया है।

उदयन की मृत्यु स्वाभाविक ढंग से नही हुई। उदयन के कोई सन्तान नहीं थी। वह अपना अधिकांश समय जैन धर्म की क्रियाओं में—धर्माराधना में व्यतीत किया करता था। एक बार उसने एक कर्मचारी को किसी अपराध पर पृथक् कर दिया। उस कर्मचारी ने उदयन से इसका बदला लेने की प्रतिज्ञा की। वह अवन्ती पहुँचा। वहाँ केवल प्रतिशोध के लिए ही वह जैन मुनि बन गया। कुछ समय बाद वह अपने गुरु के साथ कौशाम्बी आया। पर्यूषण पर्व के दिनों में एक दिन उदयन ने उपवास किया और वह रात में धर्मागार मे ही सोया। वहीं पर वह वंचक साधु और गुरु भी ठहरे हुए थे। रात्रि में जब राजा गहरी नींद में सो रहा था, उस समय वह धूर्त चुपचाप उठकर राजा के पास पहुँचा और एक चाकू (अथवा कटार) से राजा की हत्या करके कटार वहीं फेंक कर भाग गया। गुरु की नींद खुली। उन्होंने देखा, राजा निर्जीव पड़ा है, चारों ओर रक्त बह रहा है और शिष्य लापता है। वे सारी स्थिति समझ गये। उन्होंने सोचा कि एक जैन साधु राजा का हत्यारा है, इस अपवाद को सुनने-देखने के लिए मैं जीवित नही रहना चाहता। उन्होंने उसी कटार से आत्मघात कर लिया[1]।

उदयन की कोई सन्तान नहीं थी। तब वासवदत्ता ने अपना भतीजा गोद ले लिया। उसका राज्याभिषेक किया गया। कुछ वर्ष बाद उसने अवन्ती पर भी अधिकार कर लिया। इसके कुछ वर्षों बाद मगध सम्राट् नन्दिवर्धन ने उससे वत्स राज्य छीन लिया।

प्राचीन साहित्य से यह पता चलता है कि यह नगरी उस समय अत्यन्त समृद्ध थी। यातायात की यहाँ सुविधाएं थी। फलत. देश-देशान्तरो के साथ उसका व्यापारिक सम्बन्ध था। यह श्रावस्ती से प्रतिष्ठान जाने वाले मार्ग पर एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र थी। मौर्य, शुग, कुषाण और गुप्त काल मे भी यह कला और वाणिज्य का केन्द्र रही।

यह शताब्दियो तक मृण्मूर्तियों तथा मनको के निर्माण का प्रसिद्ध केन्द्र रही। किन्तु मुस्लिम काल मे इसकी समृद्धि समाप्त हो गई; कला का विनाश कर दिया गया; मूर्तियाँ, मन्दिर, स्तूप, शिलालेख तोड़ दिये गये। आज कौशाम्बी का स्वर्णिम अतीत खण्डहरो के रूप मे बिखरा पड़ा है।

पुरातत्व—कौशाम्बी में प्रयाग विश्वविद्यालय की ओर से खुदाई हुई थी। फलतः यहाँ से हजारों कलापूर्ण मृण्मूर्तियाँ, और मनके प्राप्त हुए, जो प्रयाग संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

---

१. भरतेश्वर-बाहुबली वृत्ति, पृ० ३२५।

कहा जाता है, ढाई हजार वर्ष पहले राजा शतानीक का किला चार मील के घेरे में था। उसमे बत्तीस दरवाजे थे। उसी के अन्दर कौशाम्बी नगरी बसी हुई थी। इस किले के अवशेष अब भी है। कई स्थानों पर तो किले की ध्वस्त दीवालें ३० से ३५ फुट ऊची स्पष्ट दिखाई देती है। यहाँ प्राचीन नगर के भग्नावशेष मीलों मे बिखरे पड़े है। इनके मध्य सम्राट् अशोक का बनवाया हुआ एक स्तम्भ भी खड़ा हुआ है, जो वस्तुत: उसके पौत्र सम्राट् सम्प्रत्ति द्वारा निर्मित है। भगवान् पद्मप्रभ का जन्म-स्थान होने के कारण सम्राट् सम्प्रति ने यहाँ स्तम्भ निर्मित कराया था और उसके ऊपर जैन धर्म की उदार शिक्षायें अंकित कराई थी।

यहाँ के खण्डहरो मे मैंने सन् १९५८ की शोध-यात्रा मे अनेक जैन मूर्तियों के खण्डित भाग पडे हुए देखे थे। मुझे अखण्डित जैन प्रतिमा तो नही मिल पाई। किन्तु जो खण्डित प्रतिमाएँ मिली, उनमे किसी प्रतिमा का शिरोभाग था तो किसी का अधोभाग। मुझे जो शिरोभाग मिले, वे भावाभिव्यजना और कला की दृष्टि से अत्यन्त समुन्नत थे। मुझे सिंहासन पीठ और आयागपट्ट के भी कुछ भाग उपलब्ध हुए थे। सिंहासन पीठ पर धर्मचक्र और पुष्प उत्कीर्ण थे। वे तथा आयागपट्ट के अलकरण भी अनिन्द्य कला के उत्कृष्ट उदाहरण थे।

खुदाई मे एक विहार निकला है, जो मंखलीपुत्र गोशालक का कहलाता है। कहा जाता है, इस बिहार में गोशालक के सम्प्रदाय के पांच हजार साधु रहते थे। प्रारंभ में गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य था। किन्तु बाद में वह भगवान् से द्वेष और स्पर्द्धा करने लगा। उसने एक नया सम्प्रदाय भी चलाया, जिसका नाम आजीवक सम्प्रदाय था। किन्तु अब तो वह केवल ग्रन्थो में ही रह गया है।

जैन मन्दिर—विधि की यह कैसी विडम्बना है कि जो नगरी कभी जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रही, आज वहाँ एक भी जैन का घर नही है। केवल लाला प्रभुदास जी आरा वालों का बनवाया हुआ एक दिगम्बर जैन मन्दिर और एक जैन धर्मशाला है। मन्दिर में दो वेदियाँ है। एक मे भगवान् पद्मप्रभ की प्रतिमा और चरण है। तथा दूसरी वेदी मे एक चैत्य है जिसमें चारों दिशाओं में पद्मप्रभ भगवान् की प्रतिमा हैं। इस मंदिर का प्रबन्ध बाबू निर्मलकुमार जी आरा के परिवार की ओर से होता है। धर्मशाला के वरामदे में बच्चों की पाठशाला लगती है।

पभोसा

पभोसा क्षेत्र कौशाम्बी से १९ कि०मी० दूर है। मार्ग कच्चा है। किन्तु इक्के जा सकते है। कौशाम्बी से यमुना नदी मे नावों में जाने से मार्ग केवल १० कि० मी० पड़ता है और सुविधाजनक भी है। कौशाम्बी से पाली होते हुए पैदल मार्ग से केवल ८ कि० मी० है। पभोसा यमुना तट पर अवस्थित है।

तीर्थक्षेत्र—छटे तीर्थकर भगवान् पद्मप्रभ अपने राजमहलों के द्वार पर बधे हुए हाथी को देखकर विचारमग्न हो गये, उन्हे अपने पूर्व भवो का स्मरण हो आया। उन्हें संसार की दशा को देखकर वैराग्य हो गया और कौशाम्बी के मनोहर उद्यान (पभोसा) में जाकर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन दीक्षा ले ली। देवो और इन्द्रो ने भगवान् का दीक्षा कल्याणक महोत्सव मनाया।

भगवान् दीक्षा लेकर तपस्या मे लीन हो गये और लगभग छह माह के घोर तप के बाद उन्हे चैत शुक्ला पूर्णमासी को उसी मनोहर उद्यान मे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवो और इन्द्रो ने आकर ज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाया। यही पर भगवान् का प्रथम समवसरण लगा और भगवान् की प्रथम कल्याणी वाणी खिरी। भगवान् के चरणों में बैठकर और उनका उपदेश सुनकर असंख्य प्राणियों को आत्म-कल्याण की प्रेरणा मिली।

जिस स्थान पर भगवान् पद्मप्रभ के दीक्षा और ज्ञान-कल्याणक मनाये गये, वह स्थान पभोसा है। इसीलिए यह कल्याणक तीर्थ माना जाता है।

यह स्थान प्राचीन काल मे मुनियों की तपोभूमि रहा है। कालिन्दी का प्रशान्त कूल, सुरम्य पर्वत की हरीतिमा और गुहा की एकान्त शान्ति—यह सारा वातावरण मुनियो के ध्यान-अध्ययन के उपयुक्त है। प्राचीन साहित्य मे ऐसे उल्लेख मिलते है, जिनसे पता चलता है

कि यहाँ पर मुनि जन तपस्या किया करते थे। ललितघट आदि वत्तीस राजकुमार मुनि बनकर यहाँ आये और यमुना-तट पर खड़े होकर विविध प्रकार के तप करने लगे। एक दिन यमुना में भयंकर बाढ़ आ गई और वे सभी मुनि बाढ़ मे बह गये। उनकी स्मृति में यहाँ वत्तीस समाधियाँ बनी हुई थी, जिन पर हिन्दुओं ने अधिकार कर लिया है।

इतिहास—पभोसा कौशाम्वी का ही भाग था। यहाँ उस समय वन था। इसलिए कौशाम्वी से भिन्न पभोसा का अपना कोई स्वतन्त्र इतिहास नही है। किन्तु यहाँ तीर्थंकर पद्मप्रभ के दो कल्याणको की पूजा और उत्सव के बाद बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के काल मे एक महत्वपूर्ण घटना घटी। भगवान् नेमिनाथ ने बलराम के पूछने पर द्वारका और नारायण श्रीकृष्ण के भविष्य का वर्णन करते हुए कहा—आज से बारह वर्ष पीछे मद्यपी यादवों द्वारा उत्तेजित किये गये द्वैपायन मुनि के शाप से द्वारका भस्म होगी। अन्तिम समय में श्रीकृष्ण कौशाम्वी के वन मे शयन करेंगे और जरत्कुमार उनकी मृत्यु के कारण बनेंगे।

भगवान् की इस भविष्यवाणी को सुनकर बलराम के मामा (रोहिणी के भाई) द्वैपायन विरक्त होकर मुनि बन गये और कही दूर वनो में जाकर तप करने लगे। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के बडे भ्राता जरत्कुमार भी वहाँ से चले गये और बनों में रहने लगे। तीर्थंकर अन्यथावादी नहीं होते। दोनों ने ही, लगता था, भवितव्य और तीर्थंकर वाणी को झुठलाना चाहा। किन्तु भवितव्य होकर ही रही। द्वैपायन के क्रोध से द्वारका भस्म हो गई। बलराम और श्रीकृष्ण वहाँ से चल दिये और कौशाम्वी के इस वन में पहुँचे। श्रीकृष्ण प्यास से व्याकुल हो गये। वे एक पेड की छांव में लेट गये। बलराम जल लाने गये। जरत्कुमार उसी वन में घूम रहा था। उसने दूर से कृष्ण के वस्त्र को हिलता हुआ देखकर उसे हिरण समझा। उसे बाण सन्धान करते देर न लगी। वाण आकर श्रीकृष्ण के पैर में लगा। जब जरत्कुमार को तथ्य का पता लगा तो वह आकर पैरो में पड़ गया। श्रीकृष्ण सम्यग्दृष्टि थे, भावी तीर्थंकर थे। उन्होंने बड़े शान्त और समता भाव से प्राण विसर्जन किये। बलदेव जब लौट कर आये तो अपने प्राणोपम अनुज को मृत देखकर वे ऐसे मोहाविष्ट हुए कि छह माह तक मृत देह को लिये फिरे। अन्त में एक देव द्वारा समझाने पर तुगीगिरि पर जाकर उन्होने दाह सस्कार किया।

इस प्रकार इस कल्पकाल के अन्तिम नारायण श्रीकृष्ण के अन्तिम काल का इतिहास पभोसा की मिट्टी मे ही लिखा गया।

स्थानीय मन्दिर—यहाँ दिगम्बर जैन धर्मशाला बनी हुई है। धर्मशाला में ही एक कमरे मे मन्दिर भी है। उसमे पद्मप्रभु भगवान् की मूर्ति के अतिरिक्त भूगर्भ से निकली हुई कुछ प्राचीन जैन मूर्तियाँ भी विराजमान है। ये मूर्तियाँ प्राय: हल जोतते हुए किसानो को मिली है।

धर्मशाला के निकट ही पहाड़ी है। पहाड़ी छोटी सी है। पहाड़ी पर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई है। सीढ़ियो की कुल सख्या १६८ है। ऊपर जाकर समतल चबूतरा मिलता है। वहाँ एक कमरा है जो मन्दिर का काम देता है। पहले यहाँ मन्दिर था किन्तु भाद्रपद वदी ६ वीर स० २४५७ को यकायक पर्वत टूटकर मन्दिर के ऊपर गिर पडा, जिससे मन्दिर तो समाप्त हो गया, किन्तु प्रतिमा बाल-बाल बच गई। तब प्रतिमा निकाल कर एक कमरे मे विराजमान कर दी गई। कहते है, पहले पहाड़ पर तीन मन्दिर थे। उनके नष्ट होने पर इलाहाबाद के लाला छज्जूमल ने संवत् १८८१ मे यह मन्दिर बनवाया था।

इस कमरे में एक गज ऊँचे चबूतरे पर सब प्रतिमाये विराजमान है। इनमे मूलनायक भगवान् पद्मप्रभ की प्रतिमा भूरे वर्ण की पद्मासन मुद्रा मे है। अवगाहना प्राय: दो हाथ है। प्रतिमा चतुर्थ काल की है, ऐसी मान्यता है। प्रतिमा पर गूढ लास्य और वीतराग शान्ति का सामञ्जस्य अत्यन्त प्रभावक है।

मन्दिर के ऊपर पहाड़ की एक विशाल शिला मे उकेरी हुई चार प्रतिमाये दिखाई पड़ती है जो ध्यानमग्न मुनियों की है। ऊपर दो गुफाएँ भी है, जिनमें शिलालेख प्राप्त हुए है।

इस पहाड़ी के नीचे ही यमुना नदी बहती है। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त आकर्षक है। ध्यान- सामायिक के लिए स्थान अत्यन्त उपयुक्त है।

किम्बदन्ती—मूलनायक प्रतिमा के सम्बन्ध में एक किम्वदन्ती है कि लगभग डेढ़ पौने दो सौ वर्ष पहले कौशाम्वी के पुजारी को स्वप्न हुआ कि मन्दिर के द्वार पर जो कुआ है, उसमें पद्मप्रभ भगवान् की प्रतिमा है। उसे निकाल कर मन्दिर मे विराजमान करो। प्रातः होते ही पुजारी ने स्वप्न की चर्चा की। चर्चा प्रयाग तक पहुची। बहुत से लोग एकत्रित हुए। कुए से प्रतिमा निकाली गई। खोदते समय भामण्डल मे फावड़ा लग गया, जिससे दूध की धार बह निकली। लोगो ने जब बहुत विनम्र स्तुति की, तब वह शान्त हुई। वही प्रतिमा पभोसा के मन्दिर में लाकर विराजमान कर दी गई।

दैवी अतिशय—मूलनायक प्रतिमा अत्यन्त अतिशय सम्पन्न है। जैसा अद्भुत आश्चर्य इस प्रतिमा मे है, वैसा सभवत. अन्यत्र कही देखने मे नही आया। प्रतिमा यद्यपि भूरे पाषाण की है किन्तु सूर्योदय के पश्चात् इसका रंग बदलने लगता है। ज्यो ज्यो सूर्य आगे बढ़ता जाता है, त्यों त्यो प्रतिमा का रग लाल होता जाता है। लगभग बारह बजे प्रतिमा लोहित वर्ण की हो जाती है। इसके पश्चात् यह वर्ण हलका पड़ने लगता है और लगभग तीन बजे तक यह कत्थई रग की हो जाती है। पश्चात् वह फिर अपने असली वर्ण मे आ जाती है। रंग का यह परिवर्तन किस कारण से है, यह विश्वासपूर्वक नही कहा जा सकता। सभव है, पाषाण की ही ये विशेषताये हो। किन्तु सूर्य की किरणें मन्दिर के अन्दर प्रतिमा तक नही पहुच पाती। ऐसी दशा मे प्रतिमा का यह रंग-परिवर्तन एक दैवी चमत्कार माना जाने लगा है।

इस प्रकार का एक और भी दैवी चमत्कार यहाँ देखने को मिलता है। यहाँ हर रात को पर्वत के ऊपर केशर की वर्षा होती है। प्रातःकाल पहाड़ी के ऊपर जाने पर छोटो-छोटी पीली बूदें पड़ी हुई मिलती है और भीनी-भीनी सुगन्धि चारों ओर वातावरण में भरी हुई रहती है। यहाँ कार्तिक सुदी १३, चैत सुदी १५ को खूब केशर वर्षा होती है।

पुरातत्त्व—पभोसा मे शुङ्ग काल (ई० पू० १८५ से १००) के समय के कई शिलालेख प्राप्त हुए है। शुग वश के अन्त के बाद शुंग वंश की ही एक शाखा—मित्र वंशी नरेशो का आधिपत्य यहाँ रहा। इन मित्रवंशी कई राजाओ के सिक्के और मूर्तियाँ कौशाम्वी, मथुरा, अहिच्छत्र आदि कई स्थानो पर बहुसंख्या में मिले है। उत्तर पाचाल नरेश आषाढसेन के समय के भी दो लेख पभोसा मे पाये गये है। एक लेख मे राजा आपाढसेन को बृहस्पति मित्र का मामा बताया है। बृहस्पतिमित्र मथुरा का मित्र-वशीय नरेश था। वे लेख इस प्रकार है—

१. **अधियछात्रा राज्ञो शौनकायन पुत्रस्य वंगपालस्य पुत्रस्य राज्ञो तेषणीपुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण वैहिदरी पुत्रेण आसाढ़सेनेन कारितं**

अर्थात् अधिछत्रा के राजा शौनकायन के पुत्र राजा वंगपाल के पुत्र और त्रैवर्ण राजकन्या के पुत्र राजा भगवत के पुत्र तथा वैहिदर राजकन्या के पुत्र आषाढसेन ने यह गुफा बनवाई।

—जैन शिलालेख संग्रह; भाग २, पृ० १३-१४

डा० फ्यूरर ने शुगकाल के अक्षरो से मिलते-जुलते अक्षरों के कारण इस शिलालेख का काल द्वितीय या प्रथम ईसवी पूर्व निश्चित किया है। इस शिलालेख के तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक तो इस शिलालेख से यह तथ्य प्रगट होता है कि राजा आषाढ़सेन ने इस गुफा का निर्माण कराया। दूसरा इसमे अहिच्छत्र, जो उत्तर पाचाल के प्रतापी राजाओं की राजधानी थी, की राजवंशावली दी गई है।

एक दूसरा शिलालेख इस प्रकार है—

२. **राज्ञो गोपाली पुत्रस बहसतिमित्रस मातुलेन गोपालीया वैहिदरी पुत्रेन आसाढसेनेन लेनं कारितं उवाग्स (?) दसमे सबछरे कश्शपीनां अरहं (ता) न...**

अर्थात् गोपाली के पुत्र राजा वहसतिमित्र (बृहस्पति मित्र) के मामा तथा गोपाली वैहिदरी अर्थात् वैहिदर राजकन्या के पुत्र आषाढसेन ने कश्यपगोत्रीय अरहन्तों... दसवें वर्ष मे एक गुफा का निर्माण कराया।

—जैन शिलालेख संग्रह, भाग २

यह शिलालेख भी द्वितीय या प्रथम ईसवी पूर्व का माना गया है।

पभोसा में जो प्राचीन मन्दिर और मूर्तियाँ हैं, वे सभी प्रायः शुंग और मित्रवंशी राजाओं के काल की

मालूम पड़ती है। यहाँ पर एक आयागपट्ट भी उपलब्ध हुआ था, जो इस प्रकार पढ़ा गया है—

सिद्धं राञो शिवमित्रस्य संवचटे...रव माहकिय... स्थविरस बलदासस निवर्तन श......शिवनंदिस अन्तेवासिस शिवपालित आयागपट्टो थापयति अरहत पूजायें।

अर्थात् सिद्ध राजा शिवमित्र के राज्य के बारहवें वर्ष में स्थविर बलदास के उपदेश से शिवनन्दी के शिष्य शिवपालित ने अरहन्त पूजा के लिए आयागपट्ट स्थापित किया।

आसपास के जैन मन्दिर—यह क्षेत्र शताब्दियों तक जेन धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। अत यहाँ आसपास मे जैन पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री और मूर्तियाँ बहुतायत से मिलती हैं। वर्षा के प्रारम्भ मे खेतो मे हल चलाते समय बहुधा जैन मूर्तियाँ निकलती है। इसी प्रकार की एक मूर्ति चम्पहा बाजार मे देखी जो एक खेत मे से निकली थी। यह मूर्ति खण्डित है। घुटनो के नीचे का भाग टूट गया है। यह सर्वतोभद्रिका है। अब यहाँ जैन मन्दिर भी बन गया है और वह मूर्ति मन्दिर मे रख दी गई है। यह मूर्ति ई० सन् से पूर्व की प्रतीत होती है।

इसी प्रकार शहजादपुर में एक जैन मन्दिर है। एक अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन काल मे यहाँ दो सौ जैन मन्दिर थे। किन्तु अब वहाँ एक भी जैन का घर नही रहा। यह स्थान भरवारी से सत्रह मील दूर है। कविवर विनोदीलाल इसी स्थान के निवासी थे। बनारसी विलास में भी इन कविवर की चर्चा आई है। इनकी कई रचनाएँ अब तक मिलती है, जैसे तीन लोक का पाठ, नेमिनाथ का विवाह आदि।

दानानगर में भी एक प्राचीन मन्दिर है।

पाली मे एक प्राचीन मन्दिर था। किन्तु यमुना की बाढ़ मे वह बह गया। उसके भग्नावशेष बचे है। नया मन्दिर बन गया है। प्रतिमायें अत्यन्त प्राचीन है।

वार्षिक मेला—क्षेत्र पर वार्षिक उत्सव चैत सुदी पूर्णमासी को होता है। ●

नाथ निरंजन पावे

अवधू क्या सोवे तन मठ में, जाग विलोकन घट में ॥ अ० ॥
तन मठ की परतीत न कीजे ढहि परे एक पल में। हलचल मेट खबर ले घट की, चिन्हे रमता जल मे ॥अ०॥१॥
मठ में पंचभूत का वासा, सासा धूत खबीसा। छिन-छिन तोही छलन कूं चाहै, समझे न बौरा सीसा ॥अ०॥२॥
सिर पर पंच बसे परमेश्वर, घट में सूछम बारी। आप अभ्यास लखै कोई विरला, निरखे ध्रू की तारी ॥अ०॥३॥
आशा मारी आसन घर घट में, अजपाजाप जपावे। आनन्दघन चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावे ॥अ०॥४॥

—आनन्दघन

अर्थ—हे अवधूत आत्मन्! तू इस शरीररूपी मठ में अभी तक ममत्व निद्रा मे क्यों सो रहा है? आत्मा के शुद्ध उपयोग को जगाकर आत्म-स्वरूप को देख। शरीर रूपी यह मठ क्षणिक है, इसका विश्वास मत कर। क्षण भर में यह नष्ट हो जायगा। तू राग-द्वेष के संकल्प-विकल्प छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप की खबर ले। आत्मा रूप घट मे समतारूप जल भरा हुआ है। इस मठ मे पांच भूतो का निवास है और श्वासोच्छ्वास रूप धूर्त घुस कर बैठे है। ये तुम्हें क्षण-क्षण में छलने मे लगे हुए है। इस तथ्य को मूर्ख शिष्य समझ नहीं पा रहा। तेरे सिर पर पंच परमेष्ठी रहते है और तेरे अन्दर पंच परमेष्ठी रूप आत्मा है। किन्तु इस एकत्व विभक्त आत्मा को निरन्तर अभ्यास द्वारा ध्रुवतारे के समान कोई विरला ही अनुभव कर पाता है। जो समस्त इन्द्रियों के विषयों का त्याग करके घर में स्थिर उपयोग रूप आसन लगा कर आत्मा के शुद्धोपयोग का जाप जपता है, उसका अनुभव करता है, आनन्दघन कहते हैं, वह सम्यग्दृष्टि जीव सच्चिदानन्द स्वरूप अपने भीतर के परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

वैराग्योत्पादिका अनुप्रेक्षा

संकलनकर्ता—**श्री पं० वंशीधर शास्त्री**

'अनेकान्त' के वर्ष २५ किरण ६ में सात अनुप्रेक्षाएँ दी गई थीं। बाबू पन्नालाल जी अग्रवाल देहली की कृपा से कुछ अन्य विद्वान् कवियों की अनुप्रेक्षायें उपलब्ध हुई हैं। उन्हें यहां साभार दिया जा रहा है। इससे ज्ञात होता है कि जैनों में अनुप्रेक्षा-साहित्य का भण्डार अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत है। ये अनुप्रेक्षाये असाम्प्रदायिक और लोक-कल्याण की भावना से निबद्ध की गई है। अतः यह साहित्य सार्वजनीन और सार्वत्रिक है। यदि अनुसन्धान किया जाय तो जैन शास्त्र भण्डारों में अभी अन्य अनेक कवियों द्वारा विरचित अनुप्रेक्षा-साहित्य उपलब्ध हो सकता है। यह सम्पूर्ण साहित्य प्रकाशित करने की आवश्यकता है।

—संपादक

कविवर रूपचन्दकृत बारह भावना (पंचमगल पाठ से)

भव तन भोग विरत्त कदाचित चित्तए
धन जोवन पिय पुत्त कलत्त अनित्त ए।
कोउ न सरन मरन दिन दुख चहुँ गति भर्यौ
सुख दुख एकहि भोगत जिय विधिवसि पर्यौ॥
पर्यौ विधिवसि आन चेतन आन जड़ जु कलेवरो।
तन असुचि परतें होय आस्रव परिहरते सवरो।
निर्जरा तप बल होय समकित
बिन सदा त्रिभुवन भम्यो।
दुर्लभ विवेक विना न कबहूँ परम धरम विषै रम्यो॥

आचार्य उमास्वामी कृत तत्वार्थ सूत्र

'स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः॥
'अनित्याशरण ससारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवर-निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ धर्म स्वाख्यात तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा॥९।७

कविवर भूधरदासकृत बारह भावना (पार्श्वपुराण से)

अनित्य—द्रव्य सुभाव विना जग माहि
पर ये रूप कछू थिर नाहि।
तन धन आदिक दीषें जेह
काल अगन सब ईधन तेह॥
अशरण—भव वन भमत निरंतर जीव
याहि न कोई सरण सदीव।
व्यौहारै परमेठी जाप
निश्चै सरण आपको आप॥
संसार—सूर कहावै जो सिर देय
खेत तजै सो अपयश लेय।
इस अनुसार जगत की रीत
सब असार सब ही विपरीत॥
एकत्व—तीन काल इस त्रिभुवन माहि
जीव सघाती कोई नाहि।
एकाकी सुख दुख सब सहै
पाप पुन्न करनी फल लहै॥
अन्यत्व—जितने जग सजोगी भाव
ते सब जिय सों भिन्न सुभाव।
निज सजोग नही पर सोय
पुत्र सुजन पर क्यों नहि होय॥
अशुचि—अशुचि अस्थि पिंजर तन येह
चाम वसन बेढो घिन गेह।
चेतन चिरा तहाँ नित रहै
सो विन ज्ञान गिलानि न गहै॥
आस्रव—मिथ्या अविरत योग कसाय
ये आस्रव कारण समुदाय।
आस्रव कर्मबन्ध को हेत
बन्ध चतुर्गति के दुख देत।
संवर—समिति गुप्ति अनुपेहा धर्म
सहन परीषह संजय पर्म।

ये संवर कारण निर्दोष
संवर करै जीव को मोष।
निर्जरा—तप बल पूर्व कर्म खिर जाहि
नए ज्ञान बल आवै नाहिं।
यही निर्जरा सुखदातार
भव कारन तारन निर्धार॥
लोक—स्वयंसिद्ध त्रिभुवन चित जान
कटि कर धरै पुरुष सठान।
भ्रमत अनादि आत्मा जहाँ
समकित बिन शिव होय न तहाँ॥
बोधिदुर्लभ—दुर्लभ धर्म दशांग पवित्त
सुखदायक सहगामी नित्त।
दुर्गति परत यही कर यहै
देय स्वर्ग शिव थानक गहै॥
सुलभ जीव को सब सुख सदा
नौग्रैवेयक तांई संपदा।
बोधि रतन दुर्लभ ससार
भव दरिद्र दुख मेटनहार॥
ये दस दोय भावना भाय
दिढ़ वैराग भए जिनराय।
देहु भोग ससार सरूप
सब असार जानो जगभूप॥

कविवर बुधजन कृत बारह भावना

(छहढाला, पहली ढाल से)

अनित्य—आयु घटत तेरी दिन रात
हो निश्चिन्त रहो क्यों भ्रात।
यौवन धन तन किकर नारि।
है सब जल बुदबुद उनहारि॥१॥
अशरण—पूरण आयु बधै छिन नाहि
दिए कोटि धन तीरथ माँहि।
इन्द्र चक्रपति भी कहा करें
आयु अन्त में तेहू मरे॥२
संसार—यों ससार असार महान
सार आप में आपा जान।
सुख से दुख दुख से सुख होय
समता चारों गति नहीं कोय॥३
एकत्त्व—अनंत काल गति गति दुख लहौ
बाकी काल अनंतौ कहौ।
सदा अकेलो चेतन एक
ते माही गुण बसत अनेक॥४
अन्यत्त्व—तू न किसी का कोई न तोय
तेरा सुख दुख तोको होय।
याते तो को तू उर धार
परद्रव्यन से मोह निवार॥५
अशुचि—हाड़ मांस तन लिपटी चाम
रुधिर मूत मल पूरित धाम।
सो भी थिर न रहे छय होय
याको तजै मिलै शिवलोय॥६
आस्रव—हित अनहित तन कुल जन माहि
खोटी बान हरो क्यों नाहि।
याते पुद्गल करमन याग
प्रणवै दायक सुख दुख रोग॥७
सवर—पाचो इन्द्रिय का तज फल
चित्त निरोधि लागि शिव गल।
तुम में तेरी तू कर शैल
रह्यो कहा ह्वै कोल्हू बैल॥८
निर्जरा—तज कषाय मन की चल चाल
ध्यावो अपना रूप रसाल।
झरै करम बन्धन दुख दान
बहुरि प्रकाशै केवल ज्ञान॥९
लोक—तेरौ जनम हुओ नहि जहां
ऐसो खेतर है नहि कहाँ।
याही जनम भूमिका रचो
चलो निकसि तो विधि से बचो॥१०
बोधिदुर्लभ—सब व्यौहार क्रिया का ज्ञान
भयो अनन्ते बार प्रधान।
निपट कठिन अपनी पहचान
ताको पावत होत कल्यान॥११
धर्म—धरम सुभाव आप सरधान
धर्म न शील न न्हौन न दान।
बुधजन गुरु की सीख विचार
गहो धर्म आतम हितकार॥१२

महाकवि अनूप (वर्द्धमान महाकाव्य से)

अनित्य—मनुष्य का जीवन मृत्यु से घिरा
युव-अवस्था परिणाम में जरा,
शरीर है आलय रोग-सर्प का
अनित्य है इन्द्रिय सौख्य-सम्पदा।१
स्वकर्म के ही परिपाक से सदा
मनुष्य के कीलित जन्म मृत्यु है,
मनुष्य ही क्या सब जीव मात्र में
अनित्यता है, क्षति है, निपात है।२
जगत्रयी की सब सौख्य संपदा
विनष्ट होती दिन चार-पाँच में,
कही अभी या कल, या परश्व ही
समस्त भू की मिटती यथार्थता।३
मनुष्य ऐसे, जिनके निमेष से
अशेष होते प्रलयोदयादि हैं,
रहे न वे भी इस जीवलोक में
पुनः कथा क्या कृमि कीट की कहे।४
समुद्र के बुद्बुद तुल्य शीघ्र ही
विनष्ट होते जब लक्ष इन्द्र भी,
हमें कहाँ जीवन दीर्घ प्राप्त हो
खड़ा महा काल समक्ष ही सदा।५
विनष्ट होती अचला धरा जहाँ
विशीर्ण होते हिमवान विन्ध्य भी,
विहीन होते जल से समुद्र हैं
पुनः कथा क्या नरदेह की कहे।६
हमें मही में जितने पिता मिले
मिले यहाँ पै जितने स्वबंधु भी,
न भूमि में हैं उतने कणांशु या
भू-चक्र में है उतने न ऋक्ष भी।७
मनुष्य अव्यक्त स्वजन्म पूर्व में
तथैव हैं वे सब व्यक्त मध्य में,
पुनश्च अव्यक्त विनाश के परे
अतः वृथा है परिदेवना सभी।८
सुपुत्र, पत्नी, धन, कीर्ति जीव को
प्रमोद देते यह बात सत्य है,
परन्तु हा ! जीवन तो मनुष्य का
प्रमत्त-नारी-दृगपांग-लोल है।९
सहस्र माता, शत कोटि पुत्र भी,
पिता असख्यात कलत्र मित्र भी,
अनंत उत्पन्न हुए, जिए, मरे,
न मैं किसी का, वह भी न मामकी।१०
यथैव भू की हरिता तृणावली
स-हर्ष खाते बलि-जीव जन्तु हैं,
तथैव भूला यम यातना, अहो !
मनुष्य भारी भ्रम भोग भोगता।११
प्रसन्न होते मति-मंद द्रव्य से
तथैव रोते बन रंक अत में,
विवेक द्वारा यदि वे विलोकले,
अतथ्य सपत्ति, विपत्ति भी वृथा।१२
समुच्च बातायन गोपुरादि से
सुसज्जिता तुग-शिखर हवेलियाँ;
विनष्ट होती क्षण एक में, तदा
कहो, कहें क्या, नरदेह की कथा।१३
सरोज-पत्रस्थित नीर बुन्द सी
मनुष्य की आयु अतीव चंचला,
अवश्य ही दंशित व्याधि व्याल से
दशा महाशोक हता त्रिलोक की।१४
मनोहरा स्त्री, अनुकूल मित्र भी,
महासुधी बांधव योग्य भृत्य भी,
गजेन्द्र बाजी सब नाशवान हैं
नरेन्द्र मंत्री सब ह्रासवान हैं।१५
इसीलिए जीव सुधी वरण्य जो
प्रवृत्त होते जिन-धर्म-मार्ग में,
न विश्व में सतत सौख्य लाभ है
अतः विचिन्त्या परमार्थ-साधना।१६
अशरण—जिस प्रकार फसा हरि दष्ट्र में
अबल बालक युक्ति विहीन हो,
उस प्रकार बंधा नर विश्व में
शरण पा सकता न अधर्म की।१७
अतः सुधी मानव को त्रिलोक में
शरण्य अर्हन्त पदाब्ज हैं सदा,

जिनेन्द्र-पूजा, तप, दान जाप ही
अजस्र रत्नत्रय प्रेय हैं उसे ।१८
जिनेन्द्र के ही उपदेश गेय हैं,
मुनीन्द्र के ही पद पद्म ध्येय हैं,
जिनेन्द्र सिद्धांत सदैव श्रेय हैं,
अतः धरो ध्यान मुनीन्द्र मार्ग का ।१९
सदैव मोक्षप्रद जैन धर्म है
तथैव रत्नत्रय-साध्य मोक्ष है,
वितान है मोक्ष अनंत सौख्य का
प्रतान है सौख्य अनादि शक्ति का ।२०
मनुष्य जो केवल ज्ञानदेव को
विहाय सेते सुर नाम मात्र के,
सदैव पाते गति दुर्दशामयी
न मुक्त होते भव-रोग-दोष से ।२१
अमोघ रत्नत्रय के प्रभाव से
अवाप्त होती वह मुक्ति जीव को,
अनंत आनंद समुद्र रूपिणी
प्रसिद्ध है जो जिन धर्म शास्त्र में ।२२
संसार—मनुज को भव दो, मृत एक है
अपर में न तु संभव शक्ति ही,
भटकता युग संसृति मध्य में
शरण-हीन अनाहत जन्तु-सा ।२३
अनादि है विश्व, अनंत लोक है
(सुना गया भव्य-अभव्य जीव से)
विमूढ को जो सुख-दुःख-पूर्ण है
नितान्त दुःखाश्रय विज्ञ मानते ।२४
विमूढ़ पाते सुख भोग में सदा
नविज्ञ होते विषयादि लुब्ध हैं,
प्रतीति सारे भव-रोग की अहो !
निकृष्ट होती नरकादि हेतु है ।२५
मनुष्य के कर्म शरीर धर्म भी
यहाँ न ऐसे जिनको यथार्थ ही,
किए नही व्यक्त गृहीत जीव ने
प्रसिद्ध ऐसा यह द्रव्य लोक है ।२६
प्रदेश ऐसा इस लोक में नहीं
न जीव उत्पन्न हुए, मरे जहाँ,
सुविज्ञ प्राणी-गण मे इसीलिये
प्रसिद्ध प्रामाणिक क्षेत्र लोक है ।२७
न काल ऐसा इह लोक में बचा
न जीव उत्पन्न हुए, मरे जहाँ।
इसीलिए विज्ञ समाज में यहाँ,
प्रसिद्ध वैज्ञानिक काल लोक है ।२८
न योनि ऐसी इस भूमि में बची
जिसे न संप्राप्त हुआ स्व जीव हो,
अतः जिसे पंडित विश्व मानते,
प्रसिद्ध भू में भवलोक है वही ।२९
सदैव प्राणी भ्रमते त्रिलोक में
स्वकर्म मिथ्यात्त्व समेत पालते,
समेटते अर्जित पाप पुंज हैं,
प्रभावशाली यह भाव लोक है ।३०
विमुक्तिदाता जिन-धर्म-श्रेष्ठ है
अतः करो पालन यत्न से इसे
अनूप रत्नत्रय रूप मोक्ष का
निधान है केवलज्ञान सर्वशः ।३१
एकत्त्व—सुहृद संग सदा रहना हमें
वितरता बल बुद्धि विवेक है,
पर असंग-प्रसंग परेश का
बिदित आत्म समुन्नत हेतु है ।३२
सदैव प्राणी इस मर्त्यलोक मे
रहा अकेला, रहता असंग है;
रहा करेगा यह संगहीन ही
प्रसंग होगा इसका न अन्य से ।३३
असग लेता नर जन्म विश्व में
असंग ही है मरता पुनः पुनः,
सदा अकेला सुख-दुःख भोगता
न अन्य साक्षी उसका त्रिलोक में ।३४
अ-संग ही सौख्यद भोग भोगता
असंग ही दुःखद रोग भोगता,
सदैव प्राणी यमराज संग में
असंग जाता, फिरता असंग है ।३५
सदा अकेला करता कुकर्म है
कुटुम्ब के पालन हेतु विश्व में,

इसीलिए पुद्गल-पाप-बंध से
अवश्य पाता नरकाधिकार है ।३६
परन्तु जो मानव मुक्त संग हो
लगे हुए सम्यक् दर्शनादि में,
व्यतीत भू में करते स्वकर्म है,
कहे गये केवलज्ञान संयमी ।३७
असंग भू में करते व्रतादि हैं
असंग सारे तप जाप साधते,
वही महा विज्ञ मनुष्य अंत में,
अतीव पाते सुख पुण्य बंध से ।३८
विभूतियाँ जो सुर-लोक-सिद्ध है
महान निःश्रेयस सपदा तथा
विशुद्ध कैवल्य-प्रदा त्रिलोक में
अवाप्त होतीं गतियाँ विदग्ध को ।३९
मनुष्य रत्न-त्रय से अवश्य ही
विनाशता कर्म-अकर्म भावना,
सदैव एकत्व प्रधान भाव ही
प्रभावशाली अपवर्ग हेतु है ।४०
अन्यत्व—मनुज है प्रकृतिस्थ अवश्य, पै
इतर है जग आत्म स्वरूप से,
जगत है जड़, चेतन जीव है
परम पुद्गल तत्त्व अतत्त्व है ।४१
मनुष्य ! तू अन्य समस्त जीव से
स्वकर्म से भी अतिरिक्त है सदा,
पदार्थ सारे महि-नाक-पाक के
सखे ! असबद्ध त्वदीय प्राण से ।४२
सदैव कर्मोदय से मनुष्य को
अवाप्त होते जग-जाति-बंधु हैं,
पिता तथा पुत्र कलत्र मित्र भी
न साथ जाते, रहते न संग में ।४३
शरीर ही, जो निज अंतरंग-सा,
न साथ देता जब है मनुष्य का,
कहें कथा क्या बहिरंग-वर्तिनी
कुरंग-नेत्रा त्रिनता कलत्र की ।४४
स्वचित्त, जो पुद्गल-कर्म जन्य है,
स्व-चित्त-संकल्प-विकल्प-युक्त जो,
तथैव वाचा युग भाँति की, सखे !
विभिन्न है निश्चय जीव तत्त्व से ।४५
मनुष्य के कर्म विभिन्न जीव से,
विभिन्न ही हैं परिणाम कर्म के,
सभी नरों के सुख-दुःख आदि भी
विभिन्न हैं आत्म स्वरूप से सभी ।४६
विभिन्न है ज्ञान स्वरूप जीव से,
स्व-कर्म की साधन मात्र इन्द्रियाँ,
विभिन्न है सम्यक् राग द्वेष भी
विकर्म सारे अथवा अ-कर्म भी ।४७
अतः करो यत्न समेत भावना
शरीर द्वारा उस आत्म तत्त्व की,
अनादि, अक्षय्य अनंत जो सदा
निरीह निर्धारित निर्विकार जो ।४८
अशुचि—अशुचिपूर्ण शरीर मनुष्य का,
विदित जो मल-मूत्र प्रवाल है,
अगरु से न तु चदन-लेप से
विमलतामय भासित हो सका ।४९
शरीर है निर्मित सप्तधातु से,
निधान है जो मल-मूत्र आदि का;
स-मोह सेवा इसकी अकार्य है
सु-बुद्धि-संबोधित ज्ञानवान से ।५०
यहाँ बुभुक्षा जलती प्रकोप से :
यहाँ पिपासा जलती प्रदाह से,
विनाशती यौवन अग्नि काम की
जरा न जाती जब आचुकी यहाँ ।५१
शरीर ही है बिल काम सर्प की,
यही कुटी निश्चित रागद्वेष की,
कुगंधिता है स्वयमेव ही नही,
वरन बनाती शुचि हीन वस्त्र भी ।५२
शरीर चाहे अति हृष्ट पुष्ट हो
तथैव हो सुन्दर शौर्यवान या
परन्तु होता परिणाम में सदा
अभूरि मुष्टिगत-भस्म तुल्य ही ।५३
शरीर का पालन रोग मूल है,
शरीर का पोषण योग दातृ है,

इसीलिए क्यों अपवित्र देह से
करो न संपन्न स्व-धर्म-साधना ।५४
अनित्य देह स्थित नित्य जीव है
करे न निश्रेयस प्राप्ति कार्य क्यों ?
अवस्थिता केवलज्ञान में सदा
नितान्त ही मुक्ति महा पवित्र है ।५५
आस्रव— सलिल आस्रव हो जिस कूप में
विगत नीर कभी बनता नहीं;
इस प्रकार सकर्म मनुष्य को
कब अवाप्त हुई गति निर्जरा ? ।५६
स-राग आत्म स्थित राग-भाव से
समागता पुद्गल राशि कर्म हो,
शरीर में आगत दुःखदायिनी
प्रसिद्ध है आस्रव नाम से सदा ।५७
स-छिद्र जैसे जलयान में जभी
प्रविष्ट होता जल डूबती तरी;
तथैव कर्मागम से मनुष्य का
अवश्य होता विनिपात अंत में ।५८
अतः सुनो आस्रव-हेतु भी जिन्हें
महान ही दुष्कर नाशना हमें;
प्रमाद-उत्पन्न अनर्थ मूल जो
प्रसिद्ध मिथ्यात्व समस्त भूमि में ।५९
कहा गया पंच प्रकार का वही,
प्रधान है आस्रव हेतु कर्म का,
प्रसिद्ध जो द्वादश भाँति की यहाँ
अनर्थिनी घोर विराग-हीनता ।६०
प्रमाद जो पंचदशी विभक्ति का
तृतीय है हेतु, चतुर्थ और भी—
सभी कषाएं सब दुष्ट योग जो
न दूर होते शतशः प्रयत्न से ।६१
उन्हें सदा सम्यक् ज्ञान-हेति से
विनाशना ही ध्रुव वीर-धर्म है,
सुदीर्घ कर्मास्रवद्वार ज्ञान से
न बंद जो है करता प्रयत्न से ।६२
न पाप से मुक्ति मिली कभी उसे
न पा सका केवल-ज्ञान-लाभ सो,
मनुष्य कर्मास्रव रोकता तभी
विमुक्ति रत्न-त्रय से समेटता ।६३
संवर — मनुज योग-तपादिक यत्न से
निगम आगम के स्थिर ज्ञान से
कर निराश्रित आस्रव कर्म का
स-मुद रत्नत्रयी फल भोगते ।६४
मुनीश योग-व्रत-गुप्ति आदि में
स-यत्न कर्मास्रव द्वार रोकते;
वही क्रिया संवर नाम धारिणी
विमुक्ति संपादन में अमोघ है ।६५
चरित्र जो तेरह भाँति का, तथा
स्वधर्म, जो एक-नव प्रकार का
प्रसिद्ध जो बारह भावना यहाँ
परीषहाघातक हेतु ख्यात जो ।६६
विशुद्ध सामायिक पाँच भाँति का
विमर्श जो उत्तम ज्ञान-ध्यान का,
यही सभी सत्तम हेतु जानिए
अमोघ कर्मास्रव के निरोध में ।६७
मुनीश, जो संवर-दत्त चित्त हैं,
प्रकाशिता है जिनकी गुणावली,
वही मही के चल धर्म वृक्ष हैं
तथा उन्ही के अवदात ध्यान है ।६८
द्विविध कर्म-विनाश-प्रवृत्ति का
सुफल है वह सपति-प्राप्ति जो,
न मिलती इस भूतल में उसे
कर न जो सकता प्रभु-भक्ति है ।६९
निर्जरा—अतीत से संचित कर्म राशि का
विनाश होना अविपाक निर्जरा;
कही गयी सिद्ध मुनीन्द्र से सदा
अवश्य ही संग्रहणीय साधना ।७०
स्वभाव से ही वह, जो मनुष्य के
स्वतंत्र कर्मोदय-काल में उठे,
सदा परित्याग करे स-यत्न सो
विकार-युक्ता सविपाक निर्जरा ।७१
यथा-यथा योग तपादि यत्न से
करे यती नित्य स्व-कर्म निर्जरा,

तथा-तथाही उसके समीप में
अवश्य आती शुभ मोक्ष इंदिरा ।७२
सभी सुखों की खनि ख्यात निर्जरा
विमुक्ति-योषा-प्रद ज्ञात निर्जरा,
विकर्म-यामा-कृत प्रात निर्जरा
सु-ध्यान-भू में अवदात निर्जरा ।७३

लोक —सलिल से, महि से, नभ से तथा
अनिल से जग पावक से बना,
भुवन सप्त अधोपरि राजते
सदन के सु-मनोहर खंड-से ।७४
यथा अधोलोक, तथैव अंध्रि है
यथैव है मध्य तथैव नाभि है,
यथैव है उर्ध्व तथैव शीर्ष है
यथैव ब्रह्माण्ड तथैव पिण्ड है ।७५
त्रिलोक हैं, या जग सप्तलोक है,
अनन्त है संसृति या कि सात है,
दिनेश राकापति भी न जानते
समस्त तारे अनभिज्ञ-भेद है ।७६
निधान है स्वर्ग अनन्त सौख्य का,
विधान है नारक कोटि दु:ख का
इसीलिए सात्त्विक धर्म ग्रंथ में
प्रशंसनीया अपवर्ग साधना ।७७
सभी नगों की गणना असार है,
नदी-नदों का कहना निरर्थ है,
अयुक्त है सागर-मंथना अत:
स-सार है केवल ज्ञानभावना ।७८

बोधिदुर्लभ—परम दुर्लभ संभव लोक में,
विदित है नर-योनि सुदुर्लभा,
अति अलभ्य शुभा गति धर्म की
बहु अलभ्य महापद बोधि का ।७९
चतुर्विधा जो गतियाँ कही गई,
सुदुर्लभा है प्रथमा दशा उन्हें;
प्रसिद्ध जो मानव योनि नाम से
अलभ्य, चिंतामणि ज्यों समुद्र में ।८०
सुदुर्लभा भी यह आर्य्य भूमि है
अलभ्य उत्पत्ति मनुष्य की यहाँ,
सुदुर्लभा उत्तम वंश प्राप्ति भी,
सुदुर्लभा दीर्घ मनुष्य आयु है ।८१
अलभ्य पंचेन्द्रिय-पूर्णता यहाँ,
सुदुर्लभा निर्मल बुद्धि प्राप्ति भी;
अलभ्य है मंदकषाय भावना
सुदुर्लभा मुक्ति-प्रदा विभावना ।८२
तथा मही-मध्य अलभ्य श्रेष्ठता
अलभ्य है धार्मिकता मनुष्य को,
अलभ्य है सम्यक दर्श आत्म को
विशुद्धि, विज्ञान चरित्र आदि भी ।८३
इसीलिए धर्म महान श्रेष्ठ है
इसीलिए कर्मप्रधान विश्व भी
लगे हुए मानव धर्म-कर्म में
विचारते केवल ज्ञान मर्म्म हैं ।८४
विमुक्ति पाना इस जन्म मृत्यु से
महान नि:श्रेयस ख्यात विश्व में,
सदैव श्रेयास स्वधर्म भावना,
तथैव प्रेयांस जिनेन्द्र वदना ।८५

धर्म— शिथिल जीव निकाल भवाब्धि से
अमित अर्हत् का पद दे; वही;
विदित है प्रभुता प्रभु धर्म की
विपुल मुक्ति प्रदायिनि लोक में ।८६
क्षमा-दया, सयम, सत्य-शौच से,
तपार्ज्जव त्याग-विराग भाव से,
कि युक्त जो मार्दव, ब्रह्मचर्य से
दशांग शोभी जिन-धर्म रूप है ।८७
स्वधर्म धर्मी यदि पालता रहे,
अ-कर्म कर्मी यदि घालता रहे,
अवश्य ही हो उसको अवाप्त तो
विमुक्ति-दात्री सुख-संपदा सदा ।८८
स्वधर्म ही श्रेय सभी प्रकार से
विधर्म ही हेय मुमुक्षु के लिए,
न इन्दिरा ही मिलती उसे, अहो !
अवाप्त होती जिनधर्म संपदा ।८९
अलभ्य जो संपति है त्रिलोक में,
न भाग्य आमंत्रित जो हुई कभी,

कवि वर्द्धमान भट्टारक

पं० परमानन्द जी शास्त्री

ये मूल संघ बलात्कार गण और भारती गच्छ के विद्वान् थे। इनकी उपाधि 'परवादि पंचानन' थी। वरांग चरित की प्रशस्ति में कवि ने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है :—

स्वस्ति श्रीमूलसंघे भुवि विदितगणे श्रीबलात्कारसंज्ञे।
श्रीभारत्याख्य गच्छे सकलगुणविधिर्वर्द्धमानाभिधानः॥
आसीद् भट्टारकोऽसौ सुचरितमकरोच्छ्रीवराङ्गस्य राज्ञो।
भव्यश्रेयांसि तन्वद् भुवि चरितमिदं वर्ततामार्कतारम्॥

—वरांगचरित १३–८७।

वर्द्धमान नाम के दो विद्वानों का उल्लेख मिलता है। उनमें एक वर्द्धमान न्यायदीपिका के कर्ता धर्मभूषण के गुरु थे और 'दशभक्त्यादि महाशास्त्र' के भी कर्ता थे और दूसरे वर्द्धमान हूमच शिलालेख के रचयिता है। इनका समय १५३० ई० के लगभग है। विजयनगर के शक सं० १३०७ (सन् १३८५ ई०) में उत्कीर्ण शिलालेख में भट्टारक धर्मभूषण के पट्टधर और सिंहनन्दी योगीन्द्र के चरणकमलों के भ्रमर वर्द्धमान मुनि थे। उनके शिष्य धर्मभूषण हुए। जैसा कि उसके निम्न पद्यों से प्रकट है :—

पट्टे तस्य मुनेरासीद्वर्द्धमानमुनीश्वरः।
श्रीसिंहनन्दि योगीन्द्रचरणाम्भोज षट्पदः॥१२
शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिकः।
भट्टारक मुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः॥१३

इनके समय में शक सं० १३०७ (सन् १३८५ ई०) की फाल्गुन कृष्णा द्वितीया को राजा हरिहर के मन्त्री चैत्र दण्डनायक के पुत्र इरुगप्प ने विजयनगर में कुन्थुनाथ का मन्दिर बनवाया था[1]।

दशभक्त्यादि शास्त्र के निम्न पद्य मे उल्लिखित विजयनगर नरेश प्रथम देवराज राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि से विभूषित थे। इनका राज्य सम्भवतः सन् १४१८ ई० तक रहा है और द्वितीय देवराज का समय सन् १४१९ से १४४६ ई० तक माना जाता है।

राजाधिराजपरमेश्वरदेवराय,
भूपालमौलिलसदंघ्रिसरोजयुग्मः।
श्रीवर्द्धमानमुनिवल्लभमौढ्यमुख्यः,
श्रीधर्मभूषण सुखी जयति क्षमाढ्यः॥

भट्टारक धर्मभूषण ने न्यायदीपिका की अन्तिम प्रशस्ति में और पुष्पिका में भट्टारक वर्द्धमान का उल्लेख किया है :—

---

१. तस्य श्री चैत्रदण्डाधिनायकस्योर्जितश्रियः।
आसीदिरुगदण्डेशो नन्दनो लोकनन्दनः॥२१
× × ×
तस्मिन्निरुगदण्डेशः पुरे चारुशिलामयम्।
श्री कुन्थुजिननाथस्य चैत्यालयमचीकरत्॥२८
—विजय नगर शि० नं० २

अवश्य होती वह स्वीय योषिता,
जिनेन्द्र के धर्म प्रभाव से सदा।९०
सदा सवित्री-सविता स्वधर्म है,
स्वधर्म भ्राता, स्व-सखा स्वधर्म है,
स्वधर्म विद्याधन भी स्वधर्म है
स्वधर्म सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ है।९१
स्वधर्म चिन्तामणि कल्पवृक्ष है
स्वधर्म संपूजित कामधेनु भी,
स्वधर्म ही भू-गत स्वर्गलोक में,
स्वधर्म ही श्रेय, विधर्म हेय है।९२
अतः करो पालन नित्य धर्म का
पदाब्ज-प्रक्षालन सत्यधर्म का,
न प्राप्त होती जिसके बिना कभी
मनुष्य को केवल-ज्ञान-कल्पना।९३

मकगुरोर्वर्द्धमानेशो वर्द्धमानदयानिधेः ।
श्री पादस्नेहसम्बन्धात् सिद्धेयं न्यायदीपिका ॥
—न्यायदीपिका प्रशस्ति

इन सब उल्लेखो से स्पष्ट है कि धर्मभूषण के गुरु वही भट्टारक वर्द्धमान है, जो वराग चरित के कर्ता है।

वर्द्धमान भट्टारक का समय धर्मभूषण के गुरु होने के कारण ईसा की चौदहवी शताब्दी का उत्तरार्ध है।

वराग चरित सस्कृत भाषा का लघुकाय ग्रन्थ है। इस काव्य मे १३ सर्ग है जिनमे बाईसवे तीर्थङ्कर नेमिनाथ के समकालीन होने वाले राजा वराग का चरित वर्णित किया गया है। यह जटिल कवि के वराग चरित का संक्षिप्त रूप है। कवि वर्धमान ने इसमे धार्मिक उपदेशो और कुछ वर्णनो को निकाल कर कथानक की रूप-रेखा ज्यों की त्यों रहने दी है, ऐसा डा० ए० एन० उपाध्याय ने लिखा है। जैसा कि ग्रन्थ के निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

यत्नेश्वरैर्या कथिता कथावरा वराङ्गराजस्य सविस्तरं पुरः
मयापि संक्षिप्य च सैव वर्ण्यते सुकाव्यबन्धेन सुबुद्धिवर्धिनी ।

कवि वर्द्धमान ने राजा वराग के कथानक मे धर्मोपदेश को कम कर दार्शनिक और धार्मिक चर्चाओं को बहुत सक्षिप्त रूप में दिया है। पर जटिल मुनि के वराग चरित का उस पर पूरा प्रभाव है। वराग का चरित इस प्रकार है :—

विनीत देश मे रम्या नदी के तट पर उत्तमपुर नामक नगर था। उसमे भोज वश का राजा धर्मसेन राज्य करता था, उसकी गुणवती नाम की सुन्दर और रूपवती पटरानी थी। समय पाकर उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम वराग रक्खा गया। जब वह युवा हो गया, तब उसका विवाह ललितपुर के राजा देवसेन की पुत्री सुनन्दा, विंध्यपुर के राजा महेन्द्रदत्त की पुत्री वपुष्मती, सिंहपुर के राजा द्विषन्तप की पुत्री यशोमती, इष्टपुरी के राजा सनत्कुमार की पुत्री वसुन्धरा, मलयदेश के अधिपति मकरध्वज की पुत्री अनन्तसेना, चक्रपुर के राजा समुद्रदत्त की पुत्री प्रियव्रता, गिरिव्रज नगर के राजा वाह्लायुध की पुत्री सुकेशी, श्री कोशलपुरी के राजा सुमित्रसिंह की पुत्री विश्वसेना, वराग देश के राजा विनयन्धर की पुत्री प्रियकारिणी और व्यापारी की पुत्री धनदत्ता के साथ होता है। वराग इनके साथ सांसारिक सुख का उपभोग करता है। एक दिन अरिष्टनेमि के प्रधान गणधर वरदत्त उत्तमपुर में आये। राजा धर्मसेन मुनि वन्दना को गया। राजा के प्रश्न करने पर उन्होंने आचारादि का उपदेश दिया। वराग के पूछने पर उन्होंने सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का विवेचन किया। उपदेश से प्रभावित हो वराग ने अणुव्रत धारण किये और उनकी भावनाओ का अभ्यास किया। तथा राज्य सचालन और अस्त्र-शस्त्र के सचालन में दक्षता प्राप्त की। राजा धर्मसेन वराग के श्रेष्ठ गुणो की प्रशंसा सुनकर प्रभावित हुआ और तीन सौ पुत्रों के रहते हुए वराग को युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया। वराँग के अभ्युदय से उसकी सौतेली माँ सुषेणा तथा सौतेले भाई सुषेण को ईर्ष्या हुई और मन्त्री सुबुद्धि से मिलकर उन्होने षड्यन्त्र किया। मन्त्री ने एक सुशिक्षित घोडा वराग को दिया। वराग के उस पर बैठते ही वह हवा से बाते करने लगा। वह नदी, सरोवर, वन और अटवी को पार करता हुआ आगे बढता है और वराग का एक कुए मे गिरा देता है। वराग किसी तरह कुए से निकलता है और भूख-प्यास से पीड़ित हो आगे बढने पर व्याघ्र मिलता है। हाथी की सहायता से प्राणों की रक्षा करता है और एक यक्षिणी अजगर से उसकी रक्षा करती है और वह उसके स्वदार सन्तोष व्रत की परीक्षा कर सन्तुष्ट हो जाती है। वन मे भटकते हुए वराग को भील बलि के लिए पकड कर ले जाते है। किन्तु सर्प द्वारा दशित भिल्लराज के पुत्र का विष दूर करने से उसे मुक्ति मिल जाती है। वृक्ष पर रात्रि व्यतीत कर प्रात सागरवृद्धि सार्थपति से मिल जाता है। सार्थपति के साथ चलने पर मार्ग मे बारह हजार डाकू मिलते है। सार्थवाह का उन डाकुओं से युद्ध होता है। सार्थवाह की सेना युद्ध से भागती है। इससे सागर बुद्धि को बहुत दुःख हुआ। सकट के समय वराग ने सार्थवाह से निवेदन किया कि आप चिन्ता न करें, मैं सब डाकुओ को परास्त करता हूं। कुमार ने डाकुओ को परास्त किया और सागरवृद्धि का प्रिय होकर सार्थवाहो का अधिपति बन ललितपुर मे निवास करने लगता है।

इधर घोड़े का पीछा करने वाले सैनिक और हाथी-घोड़े लौट आये, वराग का कही पता न चला। इससे धर्मसेन

को बड़ी चिन्ता हुई। राजा ने गुप्तचरो को कुमार का पता लगाने के लिए भेजा। वे कुए मे गिरे हुए मृत अश्व को देखकर और कुमार के वस्त्रो को लेकर वापिस लौटे। उन्हे ढूढने पर भी कुमार का कोई पता न लगा। अत अन्तःपुर में करुण विलाप का समुद्र उमड़ पड़ा।

मथुरा के राजा इन्द्रसेन का पुत्र उपेन्द्रसेन था। इस राजा ने एक दिन ललितपुर मे देवसेन के पास अपना दूत भेजा और अप्रतिमल्ल नामक हाथी की माँग की। देवसेन द्वारा हाथी के न दिये जाने पर रुष्ट हो मथुराधिपति ने उस पर आक्रमण कर दिया। इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन दोनो की सेना ने वड़ी वीरता से युद्ध किया, जिससे देवसेन की सेना छिन्न-भिन्न होने लगी। कुमार वराग ने आकर देवसेन की सहायता की और इन्द्रसेन पराजित हो गया।

ललितपुर का राजा देवसेन कुमार के बल और पराक्रम से प्रसन्न होकर उसे अपनी पुत्री सुश्री सुनन्दा और आधा राज्य प्रदान करता है। एक दिन राजा की मनोरमा नाम की पुत्री कुमार के रूप सौन्दर्य को देखकर आसक्त हो जाती है और विरह से जलने लगती है। मनोरमा कुमार के पास अपना दूत भेजती है। पर दुराचार से दूर रहने वाला कुमार इनकार कर देता है। मनोरमा विरहाग्नि से जलने लगती है।

वराग के लुप्त हो जाने पर सुषेण उत्तमपुर के राज्य कार्य को सम्हालता है।

परन्तु वह अपनी अयोग्यताओ के कारण शासन में असफल हो जाता है। उसकी दुर्बलता और धर्मसेन की वृद्धावस्था का अनुचित लाभ उठाकर वकुलाधिपति उत्तमपुर पर आक्रमण कर देता है। धर्मसेन ललितपुर के राजा से सहायता माँगता है। वराग इस अवसर पर उत्तमपुर जाता है और वकुलाधिपति को पराजित कर देता है। पिता-पुत्र का मिलन होता है, और प्रजा वराग का स्वागत करती है। वह विरोधियो को क्षमा कर राज्य शासन प्राप्त करता है और पिता की अनुमति से दिग्विजय करने जाता है और अपने नये राज्य की राजधानी सरस्वती नदी के किनारे आनर्तपुर को बसाता है।

वराग ने आनर्तपुर में सिद्धायतन नाम का चैत्यालय निर्माण कराया और विधिपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न कराई।

एक दिन ब्राह्ममुहूर्त मे राजा वराग तेल समाप्त होते हुए दीपक को देखकर देह-भोगो से विरक्त हो जाता है और दीक्षा लेने का विचार करता है। परिवार के व्यक्तियो ने उसे दीक्षा लेने से रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु वह न माना और वरदत्त केवली के निकट दिगम्बर दीक्षा धारण की। और तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना करता हुआ अन्त मे तपश्चरण से सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त किया। उसकी स्त्रियाँ ने भी दीक्षा ले ली। उन्होने भी अपनी शक्ति के अनुसार तपादि का अनुष्ठान किया और यथायोग्य गति प्राप्त की।

प्रकाशनों पर विशेष रियायत

वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज दिल्ली के प्रकाशन विभाग ने अनेक ग्रन्थ रत्नों को प्रकाशित कराया है। कुछ ग्रन्थ ऐसे है जो जैन सिद्धान्त के मूल तत्त्वों एवं उपदेशो पर संक्षेप में प्रकाश डालते हैं। ऐसी पुस्तिकाओं द्वारा जैन धर्म और उसके आत्म-कल्याणप्रद उपदेशों का प्रचार किया जा सकता है। जो सज्जन इस प्रकार की पुस्तकों को खरीद कर उन्हें प्रचारार्थ वितरण करना चाहें, उन्हें मूल्य में विशेष रियायत प्रदान की जायगी। खरीदने के इच्छुक सज्जन कार्यालय में मिलने या पत्र व्यवहार द्वारा निर्णय लेने की कृपा करें।

वीर सेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित विशेष ग्रन्थों की सूची अनेकान्त के प्रत्येक अंक में छपती है।

स्मृति-प्रखरता के प्रकार

मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी प्रथम

भारतवर्ष के श्रमण-निर्ग्रन्थो व ऋषियों ने योग-साधना पर विशेष बल दिया है। इन्द्रियो का सयम, मन का निग्रह और वाणी के निरोध को अध्यात्म का मुख्य अंग माना है। किन्तु यह अध्यात्म ऐसा नही है, जो मनुष्य को जीवन से उपरत करे। भगवान महावीर ने कहा है : "जे अज्झत्थं जाणई, से बहिया जाणई, जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है। इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि भारतीय ऋषियो का चिन्तन केवल पारलौकिक ही नही रहा है। उन्होने जीवन के उभय पक्षों को साथ रखकर ही सोचा, पाया और समाज को दिया।

अवधान विद्या उस साधना की एक विशेष उपलब्धि है, जो स्मृति के द्वार से प्रविष्ट होकर आत्मा तक पहुचती है। पाचो इन्द्रियां और मन, ज्ञान के मुख्य साधन है। किसी भी पदार्थ के देखने, सुनने, स्पर्श करने, सू घने और चखने के साथ ही मन का उसमे लगाव होता है, जिसे "ग्रहण" कहा जाता है। आत्मा का जब उसके साथ घनिष्ट सम्पर्क स्थापित हो जाता है, तब उसे 'धारणा' कहा जाता है। जब वही ज्ञान तत्काल, कुछ समय बाद या लम्बे समय बाद दुहराया जाता है, तब वह उद्‌बोधन होता है। हम प्रतिदिन सैकड़ो वस्तुओ, मनुष्यो और प्राकृतिक दृश्यों को देखते है, परिचित और अपरिचित सैकड़ो शब्द सुनते है, किन्तु स्मृति मे कुछ नही रह पाता। इसका तात्पर्य है कि 'ग्रहण' के बाद ज्ञान का धारणा मे परिणमन नही हो सका। इस प्रकार धारणा के बिना प्रतिदिन दर्शन और श्रवण होता है और वह अपार्थक ही चला जाता है। बिना एकाग्रता के धारणा सम्भव नही होती। जब कार्यरत एक इन्द्रिय को मन के साथ योजित कर किसी विशेष स्थान पर केन्द्रित कर देते है, स्वतः ही वह ग्रहण के बाद धारणा बन जाता है। किन्तु धारणा में भी स्थायित्व तब आता है, जब एकाग्रता के साथ हमारी कल्पना शक्ति और अनुस्यूत हो जाती है। अर्थात् ज्ञान के ग्रहण के साथ अपने परिचित विचारों या तत्सम अन्य उपकरणो के साथ ग्रहीत पदार्थ या शब्द का उचित संयोजन करना होगा, जो किसी भी परिस्थिति मे स्मृति से ओझल न हो सके। स्मृत प्रकरण स्वतः ही समय पर उद्‌बोधन का रूप ले लेता है।

स्मृति की विलक्षणता में मानसिक एकाग्रता, कल्पना शक्ति की प्रवणता और बुद्धि की स्थिरता अनिवार्य हो जाती है। महर्षि पतजलि ने चित्त की पाच अवस्थाएं मानी है. १—क्षिप्त, २—मूढ, ३—विक्षिप्त, ४—एकाग्र ५—निरुद्ध। क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त ये अवस्थाएं विकृत मन की है। एकाग्र मन तब होता है, जब चिन्तन के लिए एक ही अवलम्बन होता है। निरुद्ध अवस्था मे मानसिक स्थिरता के लिए किसी भी प्रकार के अवलम्बन की आवश्यकता नही होती। यह अत्युत्कृष्ट स्थिति है, जिसे योग-निरोधक मुनि ही पा सकते है। एकाग्रता की स्थिति सर्व-साधारण से लेकर विशिष्ट साधको तक से सम्बन्ध रखती है। एकाग्रता स्मृति का उपादान बनती है और कल्पना की पटुता और बुद्धि की सहज स्थिरता निमित्त। किन्तु, यह निमित्त भी उपादान के समकक्ष पहुंच जाता है।

आज के युग मे प्रत्येक व्यक्ति से यह सुना जा सकता है कि स्मरण-शक्ति बहुत कमजोर हो गई है। प्रात सोचा गया कार्य सायं विस्मृत हो जाता है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मनुष्य ने अपनी स्मृति को बढाने के लिए विशेष उपक्रम नही किया। केवल एक साधन डायरी का आरम्भ किया। जिस दिन जो कार्य किया जाना है, उसे उस दिन के कोष्ठक मे लिख दिया जाता है। किन्तु आफिस जाते हुए डायरी घर रह जाए और घर जाते हुए आफिस मे रह जाए, तो उस स्थिति में क्या बीते? भुलक्कड़ के लिए यह भी तो एक समस्या होती है कि वह जहां जाए, उससे पहले डायरी को याद रखे।

मनुष्य बहुधन्धी है। उसके पास समय बहुत थोड़ा है और काम बहुत अधिक। वह एक साथ बहुत सारे कामों को निपटाने की सोचता है। यही उलझन उसकी विस्मृति का कारण बनती है। एक कार्य को करते हुए दूसरे कार्य को मस्तिष्क मे न लाया जाये और सम्बन्धित विषय से अतिरिक्त और कुछ न सुना जाए, तो कोई कारण नही है कि स्मृति मे कमजोरी आए। एक रील पर फोकस ठीक कर चुकने पर जब एक ही फोटो खींचा जाता है, तो वह

चित्र अच्छा आता है, किन्तु जब एक ही रील पर एक चित्र खीच चुकने पर दूसरा चित्र खीचा जाएगा, तो कोई भी चित्र ठीक नही बन पाएगा। इसी प्रकार यह हमारा मस्तिष्क है। एक साथ बहुत सारे कार्य सामान्यतया ग्रहण नही किए जा सकते। मस्तिष्क की तुलना इसी प्रकार टेपरिकार्डर से की जा सकती है।

अवधान का तात्पर्य है, सावधानीपूर्वक धारण करना। यह अवस्था ग्रहण के बाद की है। धारणा मे यह स्वभावतः ही अनुस्यूत रहता है कि ग्रहीत पदार्थ को कल्पना के ताने-बाने के साथ सम्यक्तया अधिष्ठित कर स्थिरता की तिजोरी मे उसे सजा दिया जाए। धारणा के बाद स्थिरता में यदि न्यूनता होती है, तो किसी भी समय विपर्यय या उसकी समाप्ति भी हो सकती है। फिर वहाँ हाथी और नीबू में कोई अन्तर नही रह जाता। एक आदमी किसी अपरिचित देश मे गया। वहाँ उसने 'हाथी' और 'नीबू' ये दो चीजे पहली बार देखी। दोनों नामों को उसने अपनी सकेत-पुस्तिका (डायरी) में अंकित कर लिया। बहुत वर्षो के बाद उसके गाव मे हाथी आया। गांव के लोग सैकडो की सख्या मे एकत्र होकर उसे विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखने लगे। उस व्यक्ति ने कहा--यह प्राणी मेरे लिए नया नही है। मैंने पहले भी इसे देखा और इसका नाम भी मेरी सकेत-पुस्तिका मे अकित है। अज्ञात वस्तु को जानने की उत्कण्ठा सहज होती है। लोगो ने पूछा--भाई! इसका नाम हमे शीघ्र बताओ। चट से वह संकेत-पुस्तिका लाया। उसमे लिखा था--'नीबू; हाथी'। वह असमंजस मे पड गया। क्योकि उसकी बुद्धि स्थिर नही थी। वह सोचने लगा--नीबू कौन-सा था और हाथी कौन-सा? लोगो से बोला--बन्धुओ! इस पशु का नाम या तो नीबू है या हाथी।

प्रश्न यह है, मनुष्य धारणा और स्थिरता को कैसे बढाए? इन्द्रियाँ ज्ञान की साधन है और इन्द्रियाँ ही विस्मृति की साधन। अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता इसमे विशेष सहायक होती है। प्रत्येक व्यक्ति स्मृति प्रगाढ़ बनना चाहता है, किन्तु, इन्द्रियों को अन्तर्मुखता की ओर नहीं; अपितु बहिर्मुखता की ओर ही बढ़ाता है। यहीं से स्मृति नाश का आरम्भ हो जाता है। धारणा और स्थिरता की शक्ति बढाने के लिए सबसे पहली आवश्यकता इन्द्रियों की अन्तर्मुखता की है, जिसे आत्म-संयम कहा जाता है। मन की शिथिलता संयम की घातक होती है। यही धारणा और स्थिरता पर आघात करती है। ऋषियों ने इसके लिए एक व्यवस्थित पद्धति दी है। उसके अनुसार सबसे पहले अपने मस्तिष्क को विचार शून्य और चिन्ता-मुक्त करने की आवश्यकता होती है। किसी व्यक्ति के प्रति लगाव, शारीरिक तनाव, मानसिक दुराव, व्यवसाय या कार्यालय के काम को निपटाने का उतावलापन आदि धारणा और स्थिरता को पूर्ण नहीं होने देते। इस स्थिति को गीताकार ने 'न किंचिदपि चिन्तयेत्' कहा है। अस्वास्थ्य भी इसमें बाधक होता है। उन्मुक्त और एक स्थान-स्थित नेत्र तथा मुंह मे समुच्चारित होने वाली आर्ष-सूक्तियाँ मानसिक एकाग्रता की विशेष हेतु बनती है।

इस युग में संयम का अभाव विशेषतः खटकता है। विचार-स्वातन्त्र्य के नाम पर इन्द्रियों को भी इतनी स्वतन्त्रता मिल गई है कि मन की एकाग्रता समूल ही भंग हो चुकी है। स्मृति प्रखरता के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम संयम का साधक बनना होगा। आचार्य श्री तुलसी ने मन की चंचलता के नियमन के लिए अणुव्रत-आन्दोलन का एक विशेष मार्ग दिया है। आचार्य श्री तुलसी के समक्ष एक ओर जहाँ शैलेशी-अवस्था प्राप्त ऋषियों का आदर्श है, वहाँ दूसरी ओर आज के मनुष्य का विक्षिप्त मानस भी है। इसके लिए मैं यह कह सकता हूँ कि महर्षि जनक के एक हाथ पर जैसे चन्दन का विलेपन था और दूसरे हाथ पर जली हुई अग्नि, उसी तरह स्वयं समाधिस्थ रहते हुए विक्षिप्त-चेता मनुष्य के रोग का निवारण करते जा रहे है। इसीलिए उनका घोष है--'संयमः खलु जीवनम्'। सयम ही जीवन है और असंयम ही मृत्यु। संयम का यह मार्ग जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता हुआ मनुष्य को स्मृति-प्रगाढ भी बनाता है। अपेक्षा यही है, कि संयम जीवन के प्रत्येक व्यवहार का अंग बने।

सभी महानुभाव यह चाहते ही होंगे कि उनकी स्मृति विशेष प्रखर हो। वकील, पत्रकार और विशेषतः योजनाओं से सम्बद्ध व्यक्तियों की यह चाह और अधिक हो सकती है। मेरा इस अवसर पर यही विशेषतः कहना है कि संयम के द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त करें और उसके आधार पर अपनी स्मरण-शक्ति को बढ़ाएं।

कलाकार की साधना

श्री 'ठाकुर'

भारत में कई संस्कृतियाँ आईं और लुप्त हो गईं; अनेक राजवंश उभरे और नष्ट हो गये; अनेक राजसत्तात्मक प्रणालियों का उदय हुआ और वे महाकाल के शाप से तिरोहित हो गईं। किन्तु अनन्त करुणा के आगार प्रभु 'दक्षिण कुक्कुट जिन' गोम्मटेश्वर बाहुबलि दोड्डबेट्ट (इन्द्रगिरि) पर एक हजार वर्ष से अडिग भाव से खड़े हुए स्मित मुद्रा में संसार पर अपनी अनन्त करुणा की वर्षा कर रहे हैं। किन्तु कौन था वह महाभाग शिल्पी, जिसकी कुशल उंगलियों के जादू ने कठोर पाषाणों की छाती चीरकर इस सौम्य और जीवित लगने वाले भगवान् का निर्माण किया? इस कथानक में उसी अमर शिल्पी की साधना का शब्द-चित्र खींचा गया है।

(१)

जंकणाचार्य द्रविड़ और होयसल शिल्पकला के आचार्य थे। भारत ही नहीं; सुदूर द्वीपों के शिल्पी उनके चरणों में बैठकर शिल्प कला की बारीकियों को समझने का अवसर प्राप्त करने के लिए महान प्रयत्न करते रहते थे और जिन्हे यह अवसर उपलब्ध हो जाता था, वे इसे अपने पूर्वजन्म के किसी सुकृत का परिणाम मानते थे। उनकी ख्याति सुदूर देशों तक थी। बड़े-बड़े प्रतापी राजवंश आचार्य के चरणों में विपुल वैभव बखेर कर भी उनकी कृपा और अनुग्रह पाने को लालायित रहते थे। किन्तु आचार्य के कुछ अपने सिद्धान्त थे। उनकी मान्यता थी कि कला एक साधना है, वह बाजार हाटो में बिकने वाली चीज नही है। कला का मोल सोने और चांदी के बटखरों से नहीं हो सकता। उनका सारा जीवन ही कला के लिये समर्पित था। वे कला की साधना केवल स्वान्तः सुखाय करते थे, राजाओं और धनिकों के मनोरंजन के लिये नहीं। उनकी कला के गर्भ से महाकाव्यों के नव रसों की सृष्टि हुई थी। जिस पाषाण को उनकी उंगलियों ने स्पर्श कर दिया, वह पाषाण मानो बोलने लगा। उनके छैनी-हथौड़े के आगे पाषाण की कठोरता पिघलने लगती थी और तब वे कठोर पाषाण उनकी इच्छा के अनुसार रूप बदलने लगते थे। हलेबिडु, वेणूर, सौमनाथपुर के कलापूर्ण मन्दिर आज भी उनकी शिल्प-प्रतिभा का जयघोष कर रहे है।

एक बार उन्होंने एक देव-विग्रह के लिये एक पर्वत का चुनाव किया। देश देशान्तरो के शिल्पी वहाँ एकत्रित थे। जकणाचार्य ने घोषणा की थी कि यह विग्रह उनके जीवन की सम्पूर्ण साधना का एक अमृत फल होगा। वह विग्रह ऐसा होगा, जिसकी समता संसार में कोई मूर्ति न कर सकेगी। आचार्य की इस घोषणा ने शिल्पी समाज मे उत्सुकता जगा दी और उसका शिल्प-सौन्दर्य अपनी आंखो से देखने को शिल्पियों का एक विशाल परिकर वहाँ आजुटा। सभी शिल्पी आचार्य के हस्त-लाघव को देखना चाहते थे। और जब आचार्य ने उस विग्रह के लिये शिला का चुनाव किया तो वह शिल्पी-परिवार आचार्य की पसन्दगी पर मुग्ध हो गया।

आचार्य ने बड़े दम्भपूर्ण ढंग से कहा—'बन्धुओ! ललित कला का आधार निर्दोष शिला है। मैंने अगणित शिलाओं में से जिस शिला का चयन किया है, वह शिल्प-शास्त्र की दृष्टि से सभी प्रकार निर्दोष है। एक सफल शिल्पकार की दृष्टि कितनी सूक्ष्म होती है, यह आपने अनुभव किया होगा। मेरी सफलता का रहस्य यही है।'

शेष शिल्पियों ने आचार्य की बात को स्वीकार किया और प्रशसात्मक हर्ष किया। किन्तु तभी एक अज्ञात कुल-शील शिल्पी खड़ा हो गया। उसके खड़े होने का ढंग बडा विनयपूर्ण था। उसके मुख पर शालीनता विराजमान

थी। आचार्य की दृष्टि उस पर पड़ी। वे बोले—'भद्र ! कुछ कहना है ?'

युवक बोला—'अविनय क्षमा करें आचार्य ! मेरे विनम्र मत में शिला निर्दोष नही है, इसलिये इससे जो विग्रह बनेगा, वह शिल्प-विधान के अनुसार निर्दोष नही बन पायगा।'

युवक की बात सुनकर सारे उपस्थित शिल्पी-समाज में हलका सा कोलाहल होने लगा। सबके मुखों पर तिरस्कार के भाव उभर आये। आचार्य के अपमान से कुछ लोग इस दुस्साहसी युवक के प्रति रोषपूर्ण भाषा भी बोलने लगे। किन्तु आचार्य ने संकेत से सबको शान्त करते हुए पूछा—'भद्र ! इस शिला मे क्या दोष है, क्या तुम बता सकते हो ?'

'अवश्य। आचार्यपाद ने जिस शिला का चयन किया है, उसके भीतर एक जीवित मेढक है। इस प्रकार की शिला देव-विग्रह के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। यदि मेरे कथन मे कोई सन्देह है तो आचार्य इसकी परीक्षा कर सकते है' युवक ने अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया।

युवक का यह अद्भुत उत्तर सुनकर कुछ के मुख तिरस्कार से विकृत हो गये, किसी के मुख पर व्यंग्य भरा हास्य उभर आया। आचार्य के मुख पर भी एक क्षण को युवक के औद्धत्य से विकार की रेखायें खिच गई। किन्तु उन्होंने अपने आप पर संयम रक्खा और उस उद्धत युवक को उचित शिक्षा देने के लिए युवक के द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर शिला को भंग किया। किन्तु सभी स्तब्ध रह गये, जब शिला टूटते ही एक जीवित मेढक फदक कर निकला। अब तिरस्कार और रोष के स्थान पर सबके मुख पर आश्चर्य के भाव थे और उस जादूगर युवक ने क्षण भर मे सबका आदर प्राप्त कर लिया था।

आचार्य भी हैरान थे उसके शिल्प-ज्ञान की गहराई पर। उन्होने पूछा—'अद्भुत जान पड़ते हो तुम। युवक ! क्या नाम है तुम्हारा ?'

आचार्य के इस प्रश्न में ममता और आदर के भाव थे। युवक ने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया—'मुझे अरिहनेमि कहते है। गुरुपाद का अनुगत शिष्य बनने की मेरी कामना है। आर्य मुझ पर प्रसन्न हो।'

जकणाचार्य उस युवक शिल्पकार की विनय और शालीनता से बड़े प्रभावित हुए। वे बोले—भद्र ! तुमने मेरा दम्भ चूर-चूर कर दिया। शिल्प विधान एक महासागर है। मै अपने आपको इस महासागर का पारगामी तैराक समझता था। किन्तु तुम्हारा ज्ञान विशाल है। सब कोई सुनें। आज से जकण आचार्य नही है, अरिहनेमि आचार्य है। यदि कभी सुयोग मिला तो आचार्य अरिहनेमि की किसी कृति के चरणों में मैं भी कोई छोटी-मोटी रचना करूँगा, जिससे मेरी आज की घोषणा पर इतिहास की मुहर लग जाय।

सभी शिल्पकारों ने शिल्पाचार्य अरिहनेमि का जयनाद किया।

(२)

गगवाडी के गगवशीय प्रतापी नरेश राचमल्ल के सेनापति वीरवर चामुण्डराय चन्द्रगिरि पर्वत पर चिन्तामग्न बैठे थे। उनके निकट ही उनके दीक्षा गुरु आचार्य अजितसेन और गुरुवर भट्टारक नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती बैठे हुए अपने शिष्य के चिन्ताम्लान मुख को देख रहे थे। आचार्यद्वय अपने विनीत शिष्य के हृदय में चिन्ता के उठने वाले तूफान से अपरिचित नही थे। तभी आचार्य अजितसेन बड़े वात्सल्य के साथ बोले—'वत्स ! चिन्ता करने से भगवान बाहुबली के दर्शन नही हो सकेंगे। धर्म की साधना आर्तध्यान से कभी नही होती।'

चामुण्डराय ने करुण दृष्टि से गुरु की ओर देखा। उनकी दृष्टि अत्यन्त म्लान थी। वे बड़े निराशा भरे स्वर मे बोले—'गुरुदेव ! चिन्ता के अतिरिक्त शेष ही क्या बचा है। इतने दिन गोम्मटेश्वर की तलाश करते हुए बीत गये, किन्तु कुछ पता नही चल पाया। मेरी माता गोम्मटेश्वर के दर्शनो के बिना ही प्राण त्याग देंगी ! मैं उनकी इस एकमात्र इच्छा की पूर्ति न कर सका। मैंने युद्ध में प्रतापी पल्लववंशी नोलम्बनरेश को परास्त किया। उछंगी के अजेय दुर्ग को धराशायी किया। वज्जलदेव ने मेरी तलवार का लोहा माना। वागेपुर के त्रिभुवनवीर को मार कर मैंने अपने भाई की हत्या का बदला चुकाया। किन्तु आज मेरी भुजाओं की वह शक्ति और मेरे इन दुर्दम वीरों का बल भी मेरी पूज्य माता का आदेश पूरा करने में असफल रहे है।

यो कह कर वीर मार्तण्ड चामुण्डराय वेदना से कराह उठे। आचार्य ने बड़ी ममता से उनके सिर पर हाथ फेरा और आश्वासन भरे स्वर मे बोले—'पुत्र ! करुणा सिधु बाहुबली शक्ति से नही, भक्ति से प्रसन्न होते है। भक्ति हो तो वे अवश्य दर्शन देंगे।'

'ठीक कह रहे है प्रभु ! बिषाद और चिन्ता की अँधियारी मे मुझे कुछ नही सूझ रहा था। आपने मुझे राह दिखाई है। किन्तु भक्ति के साथ-साथ क्या कोई युक्ति नही, जिससे मुझे इस चिन्ता से मुक्ति मिल सके' आश्वासन पाकर बड़े उत्साह से सेनापति बोले।

निमित्त ज्ञानी आचार्य सुनकर मुस्कराये, मानो कुन्द कली पर शुभ्र चाँदनी बिखर गई। वे कहने लगे—'वत्स ! उन्ही करुणामय प्रभु का ध्यान करो। युक्ति भी वे ही बतायेंगे। वे करुणा के आगार है। उनकी करुणा का कोई अन्त नही है। लगता है, अब तुम्हारी चिन्ता का अन्त होने वाला है।

चामुण्डराय कुछ कह पाते, उससे पूर्व ही आचार्यद्वय ध्यानमग्न हो गये। किन्तु गुरुदेव के वचनो से शिष्य का हृदय आशा और भक्ति से भर गया। उनके मानस नेत्रो मे पोदनपुर के महायोगी बाहुबली का चित्र नाचने लगा। उन्होने भक्ति प्लावित हृदय से उन्हे भाव नमस्कार किया। चिन्ता का ज्वार उतर गया और उनके मन मे वह रूप उभर आया, जब चक्रवर्ती भरत महामुनि बाहुबली के चरणो का भक्ति विह्वल नेत्रो से बरसते आसुओ से प्रक्षालन कर रहे है और आत्मा के सहज आनन्द मे लीन बाहुबली स्वामी के नेत्रो से निकलने वाले आनन्दाश्रुओ की बूदें चक्रवर्ती के सिर पर गिर कर मानो उनका राज्याभिषेक कर रही है।

इस भाव धारा मे बहते हुए चामुण्डराय को बाह्य जगत का बोध ही नहीं रहा। भाव लोक मे विचरण करते हुए उन्हे लगा कि बाहुबली भगवान् के चरणो में सम्राट् भरत नही, वे स्वय लोट रहे है और भगवान् उन पर अपनी सहज करुणा का दान कर रहे है। इस भाव मूर्च्छा में उन्हे कब निद्रा आ गई, इसका उन्हे पता ही नहीं चला। किन्तु निद्रित अवस्था मे उन्हे स्वप्न में दिखाई पड़ा—कोई दिव्य पुरुष खड़ा है। उसके शरीर से स्निग्ध प्रभा विकीर्ण हो रही है। जल, थल सब उस प्रभा मे नहा रहे है। दिव्य पुरुष ने आशीर्वाद की मुद्रा में एक हाथ उठाया और बोला—'भक्तवर ! मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। तू चिन्ता त्याग और स्वर्ण धनुष पर स्वर्ण बाण चढ़ा कर सामने दोड्डबेट्ट पर्वत पर सन्धान कर। बाण जहाँ गिरेगा, वही पर महाप्रभु बाहुबली प्रगट होगे। तेरी माता का प्रण पूरा होगा और तेरी चिन्ता का अन्त होगा।'

चामुण्डराय की निद्रा भग हुई। उन्होने नेत्र पसार कर देखा किन्तु वहाँ कोई न था। दिव्य पुरुष अन्तर्धान हो गया था। उनके निकट केवल ध्यानलीन गुरु थे। भक्ति से उन्होने गुरुओ को नमस्कार किया।

(३)

चामुण्डराय ने राजदूतो को भेजकर देश और विदेश से प्रख्यात मूर्तिकारो और शिल्पियो को बुलाया। जकणाचार्य, आदिराजय्य, देवण्णा, नेमिनाथ, ऐण्टोनियो आदि कितने ही शिल्पकला मे पारगत कलाकार आये। वहाँ कलाविदो का मेला लग गया। चामुण्डराय ने उन्हे एकत्रित करके अपनी इच्छा व्यक्त की—'विज्ञजनो ! आप लोग शिल्प बिधान के निष्णात आचार्य है। आपकी कला कठोर पाषाणो मे मुखरित हुई है। आपकी कला ने जीवंत काव्यो की सृष्टि की है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस युग के प्रथम सिद्ध भगवान् बाहुबली की वह मूर्ति आपकी दिव्य कला से नि.सृत हो, जिसकी रचना प्रथम चक्रवर्ती महाभाग भरत ने कराई थी और जिसके दर्शन मुझे भाव लोक में हुए हैं। राज्य का सम्पूर्ण कोष और समूचे साधन इसके लिए प्रस्तुत है। आप लोग अपने मौडल प्रस्तुत करें। इसके लिए एक सप्ताह का समय निर्धारित किया जाता है। जिनका मौडल सर्वश्रेष्ठ होगा, उन्हें इस विग्रह के निर्माण का भार सौंपा जायगा और निर्माण होने पर राज्य की ओर से विपुल पुरस्कार और समुचित सम्मान दिया जायगा।

कलाविदो ने मौडल बनाये एक से एक सुन्दर, किन्तु चामुण्डराय के भावलोक की उस दिव्य प्रतिमा के अनुरूप एक भी मौडल नही था। कलाकारो के इस निष्फल प्रयास पर वे खिन्न हो गये। उन्होने उस युग के सर्वश्रेष्ठ शिल्पकार जकणाचार्य को बुलाकर बड़े विषादपूर्ण स्वर मे कहा

थी। आचार्य की दृष्टि उस पर पड़ी। वे बोले—'भद्र ! कुछ कहना है ?'

युवक बोला—'अविनय क्षमा करें आचार्य ! मेरे विनम्र मत में शिला निर्दोष नहीं है, इसलिये इससे जो विग्रह बनेगा, वह शिल्प-विधान के अनुसार निर्दोष नहीं बन पायगा।'

युवक की बात सुनकर सारे उपस्थित शिल्पी-समाज में हलका सा कोलाहल होने लगा। सबके मुखों पर तिरस्कार के भाव उभर आये। आचार्य के अपमान से कुछ लोग इस दुस्साहसी युवक के प्रति रोषपूर्ण भाषा भी बोलने लगे। किन्तु आचार्य ने संकेत से सबको शान्त करते हुए पूछा—'भद्र ! इस शिला मे क्या दोष है, क्या तुम बता सकते हो ?'

'अवश्य। आचार्यपाद ने जिस शिला का चयन किया है, उसके भीतर एक जीवित मेढक है। इस प्रकार की शिला देव-विग्रह के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। यदि मेरे कथन मे कोई सन्देह है तो आचार्य इसकी परीक्षा कर सकते है' युवक ने अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया।

युवक का यह अद्भुत उत्तर सुनकर कुछ के मुख तिरस्कार से विकृत हो गये, किसी के मुख पर व्यंग्य भरा हास्य उभर आया। आचार्य के मुख पर भी एक क्षण को युवक के औद्धत्य से विकार की रेखायें खिंच गई। किन्तु उन्होने अपने आप पर संयम रक्खा और उस उद्धत युवक को उचित शिक्षा देने के लिए युवक के द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर शिला को भंग किया। किन्तु सभी स्तब्ध रह गये, जब शिला टूटते ही एक जीवित मेढक फदक कर निकला। अब तिरस्कार और रोष के स्थान पर सबके मुख पर आश्चर्य के भाव थे और उस जादूगर युवक ने क्षण भर मे सबका आदर प्राप्त कर लिया था।

आचार्य भी हैरान थे उसके शिल्प-ज्ञान की गहराई पर। उन्होंने पूछा—'अद्भुत जान पड़ते हो तुम। युवक ! क्या नाम है तुम्हारा ?'

आचार्य के इस प्रश्न मे ममता और आदर के भाव थे। युवक ने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया—'मुझे अरिहनेमि कहते है। गुरुपाद का अनुगत शिष्य बनने की मेरी कामना है। आर्य मुझ पर प्रसन्न हों।'

जकणाचार्य उस युवक शिल्पकार की विनय और शालीनता से बड़े प्रभावित हुए। वे बोले—भद्र ! तुमने मेरा दम्भ चूर-चूर कर दिया। शिल्प विधान एक महासागर है। मै अपने आपको इस महासागर का पारगामी तैराक समझता था। किन्तु तुम्हारा ज्ञान विशाल है। सब कोई सुनें। आज से जकण आचार्य नहीं है, अरिहनेमि आचार्य है। यदि कभी सुयोग मिला तो आचार्य अरिहनेमि की किसी कृति के चरणो मे मै भी कोई छोटी-मोटी रचना करूँगा, जिससे मेरी आज की घोषणा पर इतिहास की मुहर लग जाय।

सभी शिल्पकारो ने शिल्पाचार्य अरिहनेमि का जयनाद किया।

(२)

गंगवाडी के गंगवंशीय प्रतापी नरेश राचमल्ल के सेनापति वीरवर चामुण्डराय चन्द्रगिरि पर्वत पर चिन्तामग्न बैठे थे। उनके निकट ही उनके दीक्षा गुरु आचार्य अजितसेन और गुरुवर भट्टारक नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती बैठे हुए अपने शिष्य के चिन्ताम्लान मुख को देख रहे थे। आचार्यद्वय अपने विनीत शिष्य के हृदय मे चिन्ता के उठने वाले तूफान से अपरिचित नही थे। तभी आचार्य अजितसेन बड़े वात्सल्य के साथ बोले—'वत्स ! चिन्ता करने से भगवान बाहुबली के दर्शन नही हो सकेंगे। धर्म की साधना आर्तध्यान से कभी नहीं होती।'

चामुण्डराय ने करुण दृष्टि से गुरु की ओर देखा। उनकी दृष्टि अत्यन्त म्लान थी। वे बड़े निराशा भरे स्वर मे बोले—'गुरुदेव ! चिन्ता के अतिरिक्त शेष ही क्या बचा है। इतने दिन गोम्मटेश्वर की तलाश करते हुए बीत गये, किन्तु कुछ पता नही चल पाया। मेरी माता गोम्मटेश्वर के दर्शनों के बिना ही प्राण त्याग देंगी ! मैं उनकी इस एकमात्र इच्छा की पूर्ति न कर सका। मैंने युद्ध में प्रतापी पल्लववंशी नोलम्बनरेश को परास्त किया। उच्छंगी के अजेय दुर्ग को धराशायी किया। वज्जलदेव ने मेरी तलवार का लोहा माना। बागेपुर के त्रिभुवनवीर को मार कर मैंने अपने भाई की हत्या का बदला चुकाया। किन्तु आज मेरी भुजाओ की वह शक्ति और मेरे इन दुर्दम वीरों का बल भी मेरी पूज्य माता का आदेश पूरा करने में असफल रहे है।

यो कह कर वीर मार्तण्ड चामुण्डराय वेदना से कराह उठे। आचार्य ने बड़ी ममता से उनके सिर पर हाथ फेरा और आश्वासन भरे स्वर मे बोले—'पुत्र! करुणा सिधु बाहुबली शक्ति से नही, भक्ति से प्रसन्न होते है। भक्ति हो तो वे अवश्य दर्शन देंगे।'

'ठीक कह रहे है प्रभु! बिषाद और चिन्ता की अँधियारी मे मुझे कुछ नही सूझ रहा था। आपने मुझे राह दिखाई है। किन्तु भक्ति के साथ-साथ क्या कोई युक्ति नही, जिससे मुझे इस चिन्ता मे मुक्ति मिल सके' आश्वासन पाकर बड़े उत्साह ने सेनापति बोले।

निमित्त ज्ञानी आचार्य सुनकर मुस्कराये, मानो कुन्द कली पर शुभ्र चाँदनी बिखर गई। वे कहने लगे—'वत्स! उन्ही करुणामय प्रभु का ध्यान करो। युक्ति भी वे ही बतायेंगे। वे करुणा के आगार है। उनकी करुणा का कोई अन्त नही है। लगता है, अब तुम्हारी चिन्ता का अन्त होने वाला है।

चामुण्डराय कुछ कह पाते, उससे पूर्व ही आचार्यद्वय ध्यानमग्न हो गये। किन्तु गुरुदेव के वचनो से शिष्य का हृदय आशा और भक्ति से भर गया। उनके मानस नेत्रो मे पोदनपुर के महायोगी बाहुबली का चित्र नाचने लगा। उन्होने भक्ति प्लावित हृदय से उन्हे भाव नमस्कार किया। चिन्ता का ज्वार उतर गया और उनके मन मे वह रूप उभर आया, जब चक्रवर्ती भरत महामुनि बाहुबली के चरणो का भक्ति विह्लल नेत्रो से बरसते आसुओ से प्रक्षालन कर रहे है और आत्मा के सहज आनन्द मे लीन बाहुबली स्वामी के नेत्रो से निकलने वाले आनन्दाश्रुओं की बूदे चक्रवर्ती के सिर पर गिर कर मानो उनका राज्याभिषेक कर रही है।

इस भाव धारा में बहते हुए चामुण्डराय को बाह्य जगत का बोध ही नही रहा। भाव लोक में विचरण करते हुए उन्हें लगा कि बाहुबली भगवान् के चरणो मे सम्राट् भरत नही, वे स्वयं लोट रहे है और भगवान् उन पर अपनी सहज करुणा का दान कर रहे है। इस भाव मूर्च्छा मे उन्हें कब निद्रा आ गई, इसका उन्हे पता ही नहीं चला। किन्तु निद्रित अवस्था मे उन्हे स्वप्न में दिखाई पड़ा—कोई दिव्य पुरुष खड़ा है। उसके शरीर से स्निग्ध प्रभा विकीर्ण हो रही है। जल, थल सब उस प्रभा मे नहा रहे हैं। दिव्य पुरुष ने आशीर्वाद की मुद्रा मे एक हाथ उठाया और बोला—'भक्तवर! मै तुझ पर प्रसन्न हूँ। तू चिन्ता त्याग और स्वर्ण धनुष पर स्वर्ण बाण चढ़ा कर सामने दोड्डबेट्ट पर्वत पर सन्धान कर। बाण जहाँ गिरेगा, वही पर महाप्रभु बाहुबली प्रगट होगे। तेरी माता का प्रण पूरा होगा और तेरी चिन्ता का अन्त होगा।'

चामुण्डराय की निद्रा भंग हुई। उन्होंने नेत्र पसार कर देखा किन्तु वहाँ कोई न था। दिव्य पुरुष अन्तर्धान हो गया था। उनके निकट केवल ध्यानलीन गुरु थे। भक्ति से उन्होने गुरुओ को नमस्कार किया।

(३)

चामुण्डराय ने राजदूतो को भेजकर देश और विदेश से प्रख्यात मूर्तिकारो और शिल्पियो को बुलाया। जकणाचार्य, आदिराजय्य, देवण्णा, नेमिनाथ, ऐण्टोनियो आदि कितने ही शिल्पकला मे पारगत कलाकार आये। वहाँ कलाविदो का मेला लग गया। चामुण्डराय ने उन्हे एकत्रित करके अपनी इच्छा व्यक्त की—'विज्ञजनो! आप लोग शिल्प बिधान के निष्णात आचार्य है। आपकी कला कठोर पाषाणो मे मुखरित हुई है। आपकी कला ने जीवत काव्यो की सृष्टि की है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस युग के प्रथम सिद्ध भगवान् बाहुबली की वह मूर्ति आपकी दिव्य कला से निःसृत हो, जिसकी रचना प्रथम चक्रवर्ती महाभाग भरत ने कराई थी और जिसके दर्शन मुझे भाव लोक मे हुए हैं। राज्य का सम्पूर्ण कोष और समूचे साधन इसके लिए प्रस्तुत है। आप लोग अपने मौडल प्रस्तुत करें। इसके लिए एक सप्ताह का समय निर्धारित किया जाता है। जिनका मौडल सर्वश्रेष्ठ होगा, उन्हें इस विग्रह के निर्माण का भार सौंपा जायगा और निर्माण होने पर राज्य की ओर से विपुल पुरस्कार और समुचित सम्मान दिया जायगा।

कलाविदो ने मौडल बनाये एक से एक सुन्दर, किन्तु चामुण्डराय के भावलोक की उस दिव्य प्रतिमा के अनुरूप एक भी मौडल नही था। कलाकारो के इस निष्फल प्रयास पर वे खिन्न हो गये। उन्होंने उस युग के सर्वश्रेष्ठ शिल्पकार जकणाचार्य को बुलाकर बड़े विषादपूर्ण स्वर में कहा

—'आचार्य ! क्या मेरी कामना की बेल यों ही मुर्झा जायगी। आप पर देश को अभिमान है। आपके हाथों की कला युग-युगों तक आपकी कीर्ति-गाथायें कहती रहेगी। किन्तु क्या आप भी मेरे भावलोक के उस प्रभु को कोई रूप नही दे सकते। क्या मेरा सपना पूर्ण नही होगा ? क्या कोई भी आशा शेष नही है ?'

जकणाचार्य सुनकर चिन्तामग्न हो गये—क्या रूप हो सकता है भावलोक की उस प्रतिमा का। किन्तु कोई स्पष्ट रूप मन मे न उभर सका। तभी उनके मन मे एक क्षीण-सा प्रकाश हुआ। मुख पर प्रकाश की रेखाये उभरी। वे विनय से बोले—'देव ! निराश न हो। आशा की ज्योति अभी क्षीण नही हुई। एक कलाविद् अभी शेष है, जो आपकी कल्पना को मूर्तिमान कर सकता है।'

चामुण्डराय के मन मे आशा का सचार हुआ। वे आतुरता से बोले—'कौन है वह महाभाग ?'

'वे है जिनपुर के आचार्य अरिहनेमि। वे अवश्य आपकी कामना को साकार कर सकेंगे।'

अविलम्ब बहुमूल्य उपहारो के साथ राजदूत दौड़ाये गये। उन्होने शिल्पकार अरिहनेमि को राजाज्ञा सुनाई और उपहार रखकर बड़े अनुनय के साथ चलने का अनुरोध किया। अरिहनेमि ने उपहार तो स्वीकार नही किये, किन्तु वह राजदूत के साथ चल अवश्य दिया।

लौटे हुए उपहार देखकर राज्य के प्रधानामात्य और सेनापति चामुण्डराय के मन मे क्षोभ की कड़ुआहट फैल गई। किन्तु सामने खड़े हुए युवक शिल्पकार की विनय और शालीनता देखकर क्षोभ दूर हो गया। उन्होंने समुचित आदर करके शिल्पकार को अपनी कामना बताई और भावलोक मे देखी हुई मूर्ति का मौडल बनाने का अनुरोध किया। युवक शिल्पी सुनकर हैरान नही हुआ। वह जाकर एकान्त मे बैठ गया। वह मन की सम्पूर्ण एकाग्रता से, भक्तिनिष्ठा से भगवान बाहुबली की उस छवि की कल्पना करने लगा, जो सम्राट् भरत की भक्ति ने सृजन की थी। दृश्य उभरा—राज्य से विरक्त बाहुबली घोर तपस्या में लीन है। अंतर्बाह्य परिग्रह से रहित, निर्विकार। अर्धोन्मीलित नयन, नासाग्र दृष्टि। दिनों की क्या गिनती, महीनों बीत गये, किंतु ध्यानलीन खड़े हैं श्रम से बेसुध। शरीर पर बामी चढ़ गई, बाम्बियों मे सर्प आ डटे। वे फन फैलाये इस महायोगी को आश्चर्य मुद्रा में निहार रहे है। मिट्टी मे माधवी लतायें निकलने लगी। वे जाँघों को लपेटती हुई महाबली की भुजाओं को भी लपेट रही है। कामदेव का मनोहर रूप है। मुख पर असीम शाति और सौम्यता है, सहज मुस्कान भी है किंतु विराग भी अंकित है।

शिल्पकार भावधारा मे बहने लगा। प्रभु के इस त्रिभुवन मोहन रूप के आगे वह लोट गया। भक्ति के अतिरेक मे उसकी आंखो से अश्रुधारा बहने लगी। वह यो कितनी देर अश्रुधारा बहाता रहा, इसकी उसे कुछ सुध नही। किन्तु जब उसकी तन्द्रा टूटी तो चकित नेत्रों से चारो ओर निहारने लगा—कहाँ हो प्रभु !

तभी उसे अपने दायित्व का स्मरण हुआ और उसने एक मौडल तैयार किया। भाव लोक मे प्रभु का जो रूप उभरा था, उसे ही उसने आकार प्रदान किया था। जिस समय चामुण्डराय ने मौडल देखा तो हर्ष से उन्मत्त होकर वे चिल्लाये—ये ही थे प्रभु, जिनके दर्शन मैंने कल्पना मे किये थे। वही रूप, वही सौन्दर्य, वही मधुर मुसकान। आचार्य ! मेरे सपनों को तुमने सही रूप दिया है। तुम्ही मेरी कामना को साकार कर सकते हो। राजकोष लुटा दूगा इसके लिए। तुम्हे रत्न-स्वर्ण से मालामाल कर दूंगा।

न जाने हर्ष मे वे क्या-क्या कहते। किन्तु युवक ने बाधा देते हुए कहा—'देव ! संयत हों। अविनय क्षमा हो। जो आपके प्रभु है, वे मेरे भी आराध्य है। उनके लिये मैं क्या मूल्य लूंगा !

चामुण्डराय संयत होकर बोले—'आचार्य ! मूल्य प्रभु का नही, कला का तो होगा ही।'

'नही देव ! कला का मूल्य रत्न-स्वर्ण नहीं होता। कला का वास्तविक मूल्य स्वान्तःसुख है। उसी के लिये मैं कला की आराधना करता हूँ। जीवन के लिये कला नही है, किन्तु कला के लिये ही मेरा जीवन है। वह मेरी साधना है और वही मेरी सिद्धि है।'

चामुण्डराय को आज एक सच्चे कलाविद् के दर्शन हुये थे। श्रद्धा से उनका मस्तक उस कला तपस्वी के आगे झुक गया।

(४)

भट्टारक नेमिचन्द्र के तत्वावधान में शुभ लग्न, शुभ मुहूर्त में भूमि-शुद्धि की गई। किन्तु जब शिला के पूजन-विधान का अवसर आया तो एक बाधा आ गई। जकणाचार्य ने सुझाव दिया कि विग्रह के लिये पहले एक विशाल शिला की खोज होनी चाहिये। उसी का पूजन होना श्रेष्ठ रहेगा। अन्य कलाकारो ने भी इस सुझाव का समर्थन किया। चामुण्डराय ने अरिहनेमि की ओर देखा—'आचार्य का इस विषय मे क्या अभिमत है ?'

अरिहनेमि गभीरता से बोले—'आर्य ! यह तो निर्णीत विषय है। आपके स्वप्न मे देव पुरुष ने वाण-सधान का आदेश दिया था। अत वाण जिस स्थान पर गिरा था, विग्रह वही स्थापित होगा और पूजन-विधान भी उसी स्थान का होना चाहिये।'

जकणाचार्य बोले—'शिल्पिवर्य ! यह सत्य है कि पूजन-विधान उस स्थान का होना चाहिये। किन्तु विग्रह के लिये शिला की खोज होना तो आवश्यक है। विग्रह तैयार होने पर उसकी स्थापना उसी स्थान पर कर दी जायगी।' अनुभवी जकणाचार्य की बात तर्कसगत थी। सभी ने उसे स्वीकार किया। किन्तु अरिहनेमि के मुख पर असहमति के भाव देखकर सब उनके मुख की ओर देखने लगे। सब शिल्पाचार्य उनके मन के भाव और उनकी योजना जानने को उत्सुक थे। क्षण भर विचार करके अरिहनेमि बोले—'आर्य ! वाण जहाँ गिरा, प्रभु दर्शन भी वही देंगे। करुणामय प्रभु इसी पर्वत को भेद कर प्रकट होंगे।'

'तब क्या आपकी योजना सारे पर्वत को तराशने की है ? यह कार्य तो बड़ा श्रमसाध्य होगा। इसमे समय भी अधिक लगेगा। क्यो न कोई पवित्र शिला ही इसके लिये तलाश की जाय ?

'आर्य श्रेष्ठ ! जिस पर्वत पर अनेक श्रमणो ने तपस्या की है, उससे अधिक पवित्र स्थान और कौन सा होगा ! फिर विग्रह या विग्रह का ढोल इतने ऊचे पर्वत के ऊपर ले जाना कितना कष्टसाध्य होगा। आप यह सोचिये। अत: इस पर्वत को तराश कर ही महाबाहु बाहुबली स्वामी की मूर्ति का निर्माण करना समुचित होगा। मेरी आखो के आगे प्रभु खडे हुए है। मेरी कामना है कि इस युग के प्रथम कामदेव उन प्रभु की मूर्ति उन जैसी त्रिभुवन मोहन हो। वे प्रभु मुझे इसी पर्वत मे से प्रकट होने का आदेश दे रहे है।'

शिल्पाचार्य की वाणी मे संकल्प की दृढता थी, भक्ति की मुखरता थी और तर्क की तीक्ष्णता थी। उनका मुख एक दिव्य आभा से प्रदीप्त था। ऐसा लगता था, मानो स्वप्न लोक का देव पुरुष ही उनके मुख से बोल रहा है।

चामुण्डराय को लगा कि स्वप्न मे उन्हे जिस देव पुरुष ने दर्शन देकर आदेश दिया था, वह अन्य कोई नही, स्वय शिल्पाचार्य अरिहनेमि ही थे। उनका निर्णय ही देव पुरुष का आदेश था। उन्होने शिल्पाचार्य की बात का समर्थन किया। आचार्य नेमिचन्द्र ने भी इसे स्वीकार किया। अपने युग मे द्रविड और होयसल कला के सर्व श्रेष्ठ शिल्पकार आचार्य जकण ने गहराई से इस पर विचार किया। अन्त मे बोले—'आचार्य अरिहनेमि ! आपका निर्णय साधु है। देव पुरुष की भी यही इच्छा है। एक बार आपने विग्रह के लिये मेरी पसन्द की हुई शिला को सदोष सिद्ध किया था और उसमे एक जीवित मेढक निकाल कर मूर्ति कला सम्बन्धी मेरे ज्ञान के मद को चूर-चूर किया था, मै तभी से आपको अपना गुरु मानने लगा हूं। इस युग मे इस कला के आप पारगामी आचार्य है। आपकी सूक्ष्म दृष्टि को कोई चुनौती दे सके, ऐसा कला-विद् मेरी दृष्टि मे नही आया। आपकी योजना निर्दोष है। मुझे आपका निर्णय स्वीकार है।'

जब स्वय जकणाचार्य ने अरिहनेमि की योजना का समर्थन कर दिया तब सभी शिल्पकारो ने उसके आगे अपना मस्तक झुका दिया। निर्णय सर्वसम्मत था। अत भट्टारक नेमिचन्द्र के आदेश से जहाँ वाण गिरा था, उसी शिला का पूजन किया गया। तभी अरिहनेमि आचार्य नेमिचन्द्र के सन्मुख हाथ जोड़कर खडे हो गये। आचार्य ने जिज्ञासा से शिल्पाचार्य की ओर देखा। शिल्पाचार्य अत्यन्त विनय से बोले—'प्रभु ! मुझे आशीर्वाद दें कि मै प्रभु वाहुबली के समान ही उनकी त्रिलोकसुन्दर मूर्ति बनाने मे सफल हो सकूँ। भगवान मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दे ।

सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य सुनकर अत्यन्त आल्हादित हुये। उन्होंने आशीर्वाद दिया—'तुमने ब्रह्मचर्य व्रत का सकल्प करके शास्त्रानुमोदित पद्धति का ही पालन किया है। मूर्ति मे अतिशय तभी प्रगट होता है, जब शिला निर्दोष हो, मूर्तिकार ब्रह्मचर्य व्रत पूर्वक और निर्लोभ वृत्ति से मूर्ति निर्माण करे, और प्रतिष्ठाकारक एव प्रतिष्ठाचार्य के मन में अहंकार और धन लिप्सा न हो। केवल बाह्य क्रियाकाण्डो से ही पाषाण भगवान नही बनते। बलात् भगवान बना भी दें तो उससे जीवो का कल्याण नही होता। भगवान के बिम्ब मे भगवान् का सा चमत्कार आता है मूर्तिकार, प्रतिष्ठाकारक और प्रतिष्ठाचार्य की तपःपूत साधना और मनःशुद्धि में। तुम जिस बिम्ब का निर्माण करना चाहते हो, वह लोक का अप्रतिम, अद्भुत और सर्वश्रेष्ठ विम्ब हो, यह मेरा आशीर्वाद है।'

वातावरण आनन्द और उत्साह से भर गया। चन्दन और नारियल के वृक्ष झूम उठे। मलयगिरि की शीतल पवन ने चारो ओर सुरभि फैला दी। सबके मन जडता और अवसाद से मुक्त होकर उल्लास से तरगित हो गये। ऐसे हर्ष तरंगित वातावरण मे चामुण्डराय भी अपने आपको रोक न सके। वे अपने गुरु के चरणों मे झुककर निवेदन करने लगे—'भगवन्! मुझे भी ब्रह्मचर्य व्रत का नियम देकर अनुगृहीत करें।' हर्ष से उनके कपोलों पर अश्रुविन्दु बहने लगे। गुरु ने मयूरपिच्छिका उठाकर उन्हे आशीर्वाद दिया और शिला का पूजन कराया।

अरिहनेमि के निर्देशन मे शताधिक शिल्पी पर्वत को तराशने मे जुट पडे। विस्तृत पर्वत की छाती छिल-छिल कर लम्वायमान ढोल बनने लगा। अरिहनेमि के छैनी-हथौडे के जादू से कठोर शिला की पपड़ियाँ उतरने लगीं और उसमें से आकार उभरने लगा। शीश पर घुघराले कुन्तल उभरे। फिर प्रभु का मुख प्रगट हुआ। कामदेव ध्यानमुद्रा मे है। नेत्र अर्धनिमीलित है। होठों पर मुसकराहट भी है और कुछ वितृष्णा मिश्रित विराग के भाव भी है, मानो प्रभु बाहुवली ससारी जनो पर मुसकरा कर अपनी अनन्त करुणा की वर्षा कर रहे है। साथ ही अनादिकाल की अपनी अतृप्त भोगाकाक्षा से वितृष्णा हो रही है और ससार, शरीर एवं भोगो से मन में अपार वैराग्य उत्पन्न हो रहा है। किन्तु इससे उनके मन मे आकुलता नही, अखण्ड शान्ति विराजमान है और वह मुख पर भी स्पष्ट अकित है।

भगवान् का मुख प्रगट होते ही चामुण्डराय की मां ने उन्हे नमस्कार किया। उनकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो चुकी थी। उनके आज्ञाकारी पुत्र ने अन्न त्याग करने वाली अपनी माता को राजकीय समारोह में भोजन कराकर अपने जीवन को कृतकृत्य माना। सारा राज्य उल्लास से विभोर हो उठा।

(५)

आचार्य अरिहनेमि मूर्ति-निर्माण मे तन्मय थे। काल का रथ द्रुतगति से उडा जा रहा था, किन्तु आचार्य को इसका कोई ज्ञान नही था। मुख के बाद त्रिआवली वेष्टित ग्रीवा उभरी, श्रीवत्स लाछन मडित विशाल वक्ष और माधवी लता मण्डित आजानु बाहु प्रगट हुई।

हथौड़े और छैनी के जादू से जघाये दिखाई पड़ी जो माधवी लताओ से सुशोभित थी।

ज्यों ज्यों विग्रह उभरने लगा, शिल्पाचार्य के नेत्रों मे दिव्य ज्योति प्रस्फुटित होने लगी। वह नित्यप्रति अपने आराध्य प्रभु के महिमान्वित रूप के आगे अपनी भक्ति के आँसुओ का अर्घ्य चढाने लगा। वह अहर्निश काम करता रहता। जब थक जाता तो प्रभु की छवि निहारने लगता। उसकी पत्नी भोजन लाती और वह भोजन या पत्नी की ओर देखे बिना बायें हाथ से भोजन करता, किन्तु तब भी उसका दाया हाथ निर्माण मे लगा रहता।

पत्नी अपनी इस चिर उपेक्षा के कारण क्षोभ मे भर उठी। एक दिन उसने चामुण्डराय की पत्नी अजिता देवी से शिकायत की—'देवी! आर्यपुत्र को मेरे प्रति कोई स्नेह नहीं रह गया है। इस मूर्ति ने उन्हें मुझसे विलग कर दिया है।'

सुनकर अजिता देवी को बड़ा विस्मय हुआ। वे बोली—'भद्रे! विश्वास नही होता मुझे। अभी आचार्य-पाद की अवस्था ही क्या है?'

'अवस्था की बात नही है देवी! बात उनकी मनोदशा की है। आजकल वे दिन में केवल एक बार भोजन करते हैं। मध्यान्ह मे मैं स्वयं भोजन लेकर उनके पास

तीर्थंकर और प्रतीक-पूजा

पं० बलभद्र जैन

जन-मानस मे तीर्थकरों के लोकोत्तर व्यक्तित्व की छाप बहुत गहरी रही है। उन्होने जन-जन के कल्याण और उपकार के लिए जो कुछ किया, उस अनुग्रह को जनता ने बड़ी श्रद्धा के साथ स्वीकार किया। जब जो तीर्थङ्कर विद्यमान थे, उनकी भक्ति, पूजा और उपदेश श्रवण करने के लिए जनता का प्रत्येक वर्ग उनके चरण-सान्निध्य मे पहुंचता था और वहाँ जाकर अपने हृदय की भक्ति का अर्घ्य उनके चरणो मे समर्पित करके अपने आपको धन्य मानता था। किन्तु जब उस तीर्थङ्कर का निर्वाण हो गया, तब जनता का मानस उनके अभाव को तीव्रता के साथ अनुभव करता और अपनी भक्ति के पुष्प समर्पित करने को आकुल हो उठता था। जनता के मानस की इसी तीव्र अनुभूति ने प्रतीक-पूजा की पद्धति को जन्म दिया।

प्रतीक दो प्रकार के रहे—अतदाकार और तदाकार। ये दोनों ही प्रतीक अविद्यमान तीर्थङ्करो की स्मृति का पुनर्नवीकरण करते थे और जन-मानस में तीर्थङ्करो के आदर्श की प्रेरणा जागृत करते थे। इन दोनो प्रकार के प्रतीको मे भी शायद अतदाकार प्रतीको की मान्यता सर्व-प्रथम प्रचलित हुई। ऐसा विश्वास करने के कुछ प्रबल कारण है। सर्वप्रथम आधार मनोवैज्ञानिक है। मानव की बुद्धि का विकास क्रमिक रूप से ही हुआ है। प्रतीकों का जो रूप वर्तमान मे है, वह सदा काल से नहीं रहा। हम आगे चलकर देखेगे कि तदाकार मूर्ति-शिल्प मे समय, वातावरण और बुद्धि-विकास का कितना योगदान रहा है। अतदाकार प्रतीक मे ही तदाकार प्रतीक की कल्पना का जन्म सम्भव हो सकता है। दूसरा प्रबल कारण है पुरातत्त्विक साक्ष्य। पुरातात्त्विक साक्ष्य के आधार पर

जाती हूँ, किन्तु कभी एकबार भी उन्होने मेरी ओर दृष्टि उठाकर नही देखा। और तो क्या, भोजन करते-करते भी वे अपने काम में लगे रहते है।'

रानी को आचार्य-पत्नी की बात पर विश्वास नही हो सका और निश्चय हुआ कि कल तुम्हारे स्थान पर मै भोजन की थाली लेकर जाऊंगी।

निश्चयानुसार दूसरे दिन रानी अजिता देवी भोजन लेकर पहुँची। वे कुछ क्षणों तक वहाँ खडी रही, फिर उन्होंने थाली आगे को सरका दी। किन्तु आचार्य ने एक बार भी दृष्टि उठाकर न रानी की ओर ही देखा और न भोजन की थाली को ही। रानी इस असह्य उपेक्षा से क्षुब्ध हो गई और मन मे तिक्तता लिये वे सीधे अपने आवास मे पहुँचीं। यह अपमान साधारण न था। रहरहकर उनके मन मे अपमान के काँटें चुभने लगते। वे किसी प्रकार भी अपने मन को सान्त्वना न दे सकीं। वे अपने प्रतापी पति से भी शिकायत करने पहुंची किन्तु पति ने उत्तर दिया—'देवी! जिन्हे अपने भोजन तक की भी सुध नही है, वे महान् साधक हे। तुम्हे उनके व्यवहार पर खिन्न या क्षुब्ध नही होना चाहिए, उस पर तो तुम्हे गर्व होना चाहिए। उनकी साधना से जो कृति निष्पन्न होगी, वह संसार मे अप्रतिम होगी। तुम्हे तो जाकर अपने क्षोभ के लिए उनसे क्षमा माँगनी चाहिए।'

अजिता देवी का क्षोभ गल गया। वे श्रद्धा लेकर आचार्य के चरणो मे पहुँची। उन्होने जाकर देखा—आचार्य गोम्मटेश्वर को अपलक निहार रहे है। पाषाण के प्रभु के समान आचार्य भी मानो पाषाण हो गये है। रानी ने निवेदन किया, क्षमा-याचना की, किन्तु आचार्य अपने प्रभु की मोहिनी मे मानो सज्ञाहीन होकर बैठे थे। करुणामय प्रभु अपने भक्त पर मधुर मुस्कान बिखेरते हुए अनन्त करुणा की वर्षा कर रहे थे। ●

माना गया है कि तदाकार प्रतीक के रूप (मन्दिर और मूर्ति के रूप मे) बहुत अधिक प्राचीन नही है और वे हमे ईसा पूर्व की सात-आठ शताब्दियो से पूर्व काल तक नही ले जाते, जबकि अतदाकार प्रतीक इससे पूर्व के भी उपलब्ध होते है। यदि हडप्पा काल की शिरहीन ध्यानमग्न मूर्ति को निर्विवाद रूप से तीर्थङ्कर प्रतिमा होने की स्वीकृति हो जाती है तो तदाकार प्रतीक का काल ईसा पूर्व तीन सहस्राब्दी स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि उस काल मे भी तदाकार प्रतीको का बाहुल्य नही था। एक शिरोहीन मूर्ति तथा कुछ मुद्राओ पर अकित ध्यानलीन योगी जिन के रूपाङ्कन के अतिरिक्त उस काल मे विशेष कुछ नही मिला। ऐसी स्थिति मे यह भी विचारणीय है कि हडप्पा संस्कृति अथवा सिन्धु सभ्यता के काल से मौर्य काल तक के लम्बे अन्तराल मे तदाकार प्रतीक विधा की कोई कलावस्तु क्यो नही मिली ? इसका एक ही बुद्धिसगत कारण हो सकता है कि तदाकार प्रतीक-विधान का विकास तब तक नही हो पाया और उसने पर्याप्त समय लिया।

जैन धर्म के अतदाकार प्रतीको मे स्तूप, त्रिरत्न, चैत्य-स्तम्भ, चैत्य वृक्ष, पूर्ण घट, शराब सम्पुट, पुष्पमाला, पुष्प पडलक, आदि मुख्य है। अष्ट मगल द्रव्य—यथा स्वस्तिक, धर्मचक्र, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, मीन-युगल, पद्म और दर्पण—तथा तीर्थङ्करो के लाछन भी अतदाकार प्रतीको में माने गये है। अष्ट प्रातिहार्य एवं आयागपट्ट भी महत्त्वपूर्ण प्रतीक माने गये है। कला के प्रारम्भिक काल मे इन अतदाकार प्रतीको का पर्याप्त प्रचलन रहा है।

किन्तु जैसे-जैसे कला-बोध विकसित हुआ, त्यों-त्यो प्रतीक की तदाकारता को अधिक महत्त्व मिलने लगा। इसी काल मे तीर्थङ्करो की तदाकार मूर्तियों का निर्माण होने लगा। प्रारम्भ मे प्रकृत भूमि से कुछ ऊंचे स्थान पर देव-मूर्ति स्थापित की जाती थी। उसके चारो ओर वेदिका (बाड़े) का निर्माण होता था। धीरे-धीरे वेदिका को ऊपर से आच्छादित किया जाने लगा। यही देवायतन, देवालय या मन्दिर कहे जाने लगे। प्रारम्भ मे देवायतन सीधे-सादे रूप मे बनाये जाते थे। पुरातत्त्वावशेषो मे कई मूर्तियों, सिक्कों, मुद्राओ आदि पर देवायतनों का अंकन मिलता है। उससे ही ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में मंदिरों का रूप अत्यन्त सादा था। कालान्तर में कलात्मक रुचि मे अभिवृद्धि के साथ-साथ देवायतनों के स्वरूप में विकास होता गया। मूर्ति-स्थापना के स्थान पर गर्भगृह को परिवेष्टित करने के अतिरिक्त उसके बाहर चारो ओर प्रदक्षिणा पथ का निर्माण हुआ। गर्भगृह के बाहर आच्छादित प्रवेश द्वार या मुख्य मण्डप का निर्माण हुआ। धीरे-धीरे गर्भगृह के ऊपर शिखर तथा बाहर मण्डप, अर्धमण्डप, महामण्डप आदि का विधान हुआ। गुप्त काल में आकर मन्दिर शिल्प और मूर्ति-शिल्प के शास्त्रों की रचना भी होने लगी, जिनके आधार पर मन्दिर और मूर्तियो की रचना सुनियोजित ढग से होने लगी।

मन्दिर-निर्माण की पृष्ठभूमि

प्रागैतिहासिक काल के पूर्व पाषाण युग मे, जिसे जैन शास्त्रो में भोगभूमि बताया है, मानव अपनी जीवन-रक्षा के लिये वृक्षो पर निर्भर था। वृक्षो के नीचे रहता था, वृक्षों से ही अपने जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। कुलकरों के काल मे मानव की बुद्धि का विकास हुआ और उस काल मे मानव को जीवन-रक्षा के लिये संघर्ष करना पड़ा। अतः जीवन-रक्षा के कुछ उपाय ढूढने को बाध्य होना पडा। छुटपुट रहने के स्थान पर कबीलो के रूप मे रहने की पद्धति अपनाई गई। किन्तु इस काल में भी वृक्षों की निर्भरता समाप्त नहीं हुई, बल्कि वृक्षों के कारण कबीलों मे पारस्परिक संघर्ष भी होने लगे। प्रकृति मे तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। वृक्ष घट रहे थे, मानव की आवश्यकतायें बढ रही थी। कुलकरों ने वृक्षों का विभाजन और सीमांकन कर दिया। किन्तु फल वाले वृक्षों की संख्या कम होते जाने से जीवन-यापन की समस्या उठ खडी हुई। वन्य पशुओं से रक्षा के लिए सुरक्षित आवास की आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी।

तब ऋषभदेव का काल आया। इसे नागरिक सभ्यता का काल कहा जा सकता है। इस काल में तीर्थंकर ऋषभदेव ने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करने की प्रेरणा दी और मानव समाज को असि, मसि, कृषि, विद्या,

वाणिज्य और शिल्प की शिक्षा दी। इन्द्र ने अयोध्या नगरी की रचना की। ऋषभदेव ने भवन-निर्माण करने की विद्या बताई, जिससे भवनो का निर्माण होने लगा। इस काल मे सघटित जीवन की परम्परा प्रारम्भ हुई, जिसने ग्रामो, पुरो, नगरो को जन्म दिया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और जीवन की प्रत्येक आवश्यकतापूर्ति के लिए ऋषभदेव ने जो विविध प्रयोग करके मानव समाज को बताये और उसे व्यवस्थित नागरिक जीवन बिताने की जो शिक्षा दी, उसके कारण तत्कालीन सम्पूर्ण मानव समाज ऋषभदेव के प्रति हृदय से कृतज्ञ था। और जब ऋषभदेव ने संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली तथा दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि के रूप मे घोर तप करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, उसके पश्चात् समवसरण में, गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर उन्होने धर्म-देशना दी। मानव-समाज के लिए वह धर्मदेशना अश्रुतपूर्व थी, समवसरण की वह रचना अदृष्टपूर्व थी। उनका उपदेश कल्याणकारक था, हितकारक था, सुखकारक था और शान्तिकारक था। इससे सम्पूर्ण मानव-समाज के मन मे तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति की अजस्र धारा बहने लगी। वे सम्पूर्ण मानव-समाज के आराध्य बन गये और उसके मन मे समवसरण की प्रतिकृति बना कर उसमे ऋषभदेव की तदाकार मूर्ति बना कर उसकी पूजा करने की ललक जागृत हुई।

इन्द्र ने अयोध्या का निर्माण करते समय नगर की चारो दिशाओं मे और नगर के मध्य मे पाँच देवालयो या जिनालयों की रचना करके जिनभवनो का निर्माण करने और उसमे मूर्ति-स्थापना करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

एक बार जब सम्राट् भरत कैलाश गिरि पर भगवान ऋषभदेव के दर्शन करके अयोध्या लौटे तो उनका मन भगवान की भक्ति से ओत-प्रोत था। उन्होंने भगवान के दर्शन की उस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिये कैलाश शिखर के आकार के घण्टे बनवाये और उन पर भगवान ऋषभदेव की मूर्ति का अंकन कराया। ये घण्टे नगर के चतुष्पथो, गोपुरो, राजप्रासाद के द्वारों और ड्योढ़ियों में लटकवाये। यह मानवकृत प्रथम अतदाकार प्रतीक स्थापना थी।

किन्तु इतने से सम्राट् भरत के मन को सन्तुष्टि नही हुई। इससे भगवान की पूजा का उनका उद्देश्य पूरा नही होता था। तब उन्होने इन्द्र द्वारा बनाये हुए जिनायतनों से प्रेरणा प्राप्त करके कैलाशगिरि पर ७२ जिनायतनो का निर्माण कराया और उनमे अनर्घ्य रत्नों की प्रतिमायें विराजमान कराई। मानव के इतिहास में तदाकार प्रतीक-स्थापना और उसकी पूजा का यह प्रथम सफल उद्योग कहलाया। अतः साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर यह स्वीकार करना असंगत न होगा कि नागरिक सभ्यता के विकास-काल की उषा--वेला मे ही मन्दिरों, मूर्तियो का निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

पौराणिक जैन साहित्य मे मन्दिर और मूर्तियों के उल्लेख विभिन्न स्थलो पर प्रचुरता मे प्राप्त होते है। सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रो ने भरत चक्रवर्ती द्वारा बनाये हुए इन मन्दिरों की रक्षा के लिए भारी उद्योग किया था और उनके चारों ओर परिखा खोदकर भागीरथी के जल से उसे पूर्ण कर दिया था। लंकाधिपति रावण इन मन्दिरो के दर्शन के लिए कई बार आया था। लंका मे एक शान्तिनाथ जिनालय था, जिसमे रावण पूजन किया करता था और लंका-विजय के पश्चात् रामचन्द्र, लक्ष्मण आदि ने भी उसके दर्शन किये थे।

साहित्य मे ई० पू० ६०० से पहले के मन्दिरो के उल्लेख मिलते है। भगवान पार्श्वनाथ के काल मे किसी कुबेरा देवी ने एक मन्दिर बनवाया था, जो बाद मे देव-निर्मित बोद्ध स्तूप कहा जाने लगा। यह सातवे तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ के काल में सोने का बना था। जब लोग इसका सोना निकाल कर ले जाने लगे, तब कुबेरा देवी ने इसे प्रस्तर खण्डो और ईंटो से ढक दिया। (विविध तीर्थकल्प-मथुरापुरीकल्प)। स्थापत्य की इस अनुपम कलाकृति का उल्लेख ककाली टीला (मथुरा) से प्राप्त भगवान मुनिसुव्रत की द्वितीय सदी की प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित मिलता है।

भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् दन्तिपुर (उडीसा) नरेश करकण्डु ने तेरापुर गुफाओ मे गुहा-मन्दिर (लयण)

बनवाये और उनमे पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर की पाषाण प्रतिमा विराजमान कराई। ये लयण और प्रतिमा अब तक विद्यमान है। 'करकण्डुचरिउ' आदि ग्रन्थों के अनुसार तो ये लयण और पार्श्वनाथ प्रतिमा करकण्डु नरेश से भी पूर्ववर्ती थे।

आवश्यक चूर्णि, निशीथचूर्णि, वसुदेव हिण्डी, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित आदि ग्रन्थो मे एक विशेष घटना का उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है—

'सिन्धु सौवीर के राजा उद्दायन के पास जीवन्त स्वामी की चन्दन की एक प्रतिमा थी। यह प्रतिमा भगवान महावीर के जीवन-काल मे ही बनी थी। इसलिए उसे जीवन्त स्वामी की मूर्ति कहते थे। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने अपनी एक प्रेमिका दासी के द्वारा यह मूर्ति चोरी से प्राप्त कर ली और उसके स्थान पर तदनुरूप काष्ठमूर्ति स्थापित करा दी थी।

किन्तु यह मूर्ति किसी देवालय मे विराजमान थी, ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नही होता।

आश्चर्य है कि पुरातत्त्व वेत्ताओ ने अभी तक इन मन्दिरों और मूर्तियो को स्वीकृति प्रदान नही की।

मूर्ति-निर्माण का इतिहास

पुरातत्त्ववेत्ताओं की धारणा है कि प्रारम्भ में मूर्तियाँ मिट्टी की बनाई जाती थी। बहुत समय तक इन मृण्मूर्तियों का प्रचलन रहा। उत्खनन द्वारा जो पुरातत्त्व सामग्री उपलब्ध हुई है उसमें इन मृण्मूर्तियों का बहुत बडा भाग है। हड़प्पा, कौशाम्बी, मथुरा आदि में बहुसंख्या में मृण्मूर्तियाँ मिली है। किन्तु मृण्मूर्तियाँ अधिक चिरस्थायी नही रहती थीं। अतः मृण्मूर्तियाँ भी स्थायित्व की दृष्टि से असफल रही; तब पाषाण की मूर्तियाँ निर्मित होने लगीं।

प्रारम्भ में पाषाण-मूर्तियाँ किसी देवता या तीर्थङ्कर की नहीं बनाई गई, बल्कि यक्षों की पाषाण-मूर्तियाँ प्रारंभ मे बनाई गईं। इस काल में पाषाण में तक्षण-कला का विकास नहीं हुआ था। अतः यक्षों की जो प्रारम्भिक पाषाण-मूर्तियाँ मिलती है, उनमे सौंदर्य-बोध का प्रायः अभाव है। एक प्रकार से ये मूर्तियाँ बेडौल हैं, मानों किन्हीं नौसिखिये हाथों ने इन्हें गढा हो। मथुरा में कंकाली टीला, परखम आदि स्थानों से इसी प्रकार की विशालकाय बेडौल यक्ष-मूर्तियाँ मिली है। यह कहा जा सकता है कि मृण्मूर्तियों मे तो कला के दर्शन होते है, किन्तु इन प्रारम्भिक यक्ष प्रतिमाओ मे कला नाम की कोई चीज नहीं मिलती। मृण्मूर्तियों में कला का विकास शनैः-शनैः हुआ। इसलिए पाषाण-मूर्तियों के प्रारम्भिक निर्माण काल में भी मृण्मूर्तियों में वैविध्य के दर्शन होते हैं। स्त्री-पुरुषों के अलंकृत केश-विन्यास, पशु-पक्षियों के रूप, पंचशर कामदेव, विभिन्न मुद्राओ मे स्त्रियो के नाना विध रूप इन मृण्मूर्तियों की विशेषता है। दूसरी ओर पाषाण-मूर्तियाँ प्रारम्भ में अविकसित रूप मे दीख पड़ती है।

पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत में लोहानीपुर (पटना का एक मुहल्ला) मे नाला खोदते समय जो तीर्थङ्कर-प्रतिमा उपलब्ध हुई है, वह भारत की मूर्तियों मे प्राचीनतम है। यह आजकल पटना म्यूजियम में सुरक्षित है। इसका सिर नही है। कुहनियों और घुटनो से भी खण्डित है। किन्तु कन्धो और बाहो की मुद्रा से यह खड्गासन सिद्ध होती है तथा इसकी चमकीली पालिश से मौर्य काल (३२०-१८५ ई० पूर्व) की माना गया है। हड़प्पा मे जो खंडित जिन प्रतिमा मिली है, उससे लोहानीपुर की इस जिन-प्रतिमा में एक अद्भुत सादृश्य परिलक्षित होता है और इसी सादृश्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय मूर्ति-कला का इतिहास वर्तमान मान्यता से कही अधिक प्राचीन है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि देव-मूर्तियो के निर्माण का प्रारम्भ जैनो ने किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम तीर्थङ्कर मूर्तियों का निर्माण करके धार्मिक जगत को एक आदर्श प्रस्तुत किया। उन्ही के अनुकरण पर शिव-मूर्तियों का निर्माण हुआ। विष्णु, बुद्ध आदि की मूर्तियों के निर्माण का इतिहास बहुत पश्चात्कालीन है।

एक अन्य मूर्ति के सम्बन्ध में उदयगिरि की हाथी गुफा में एक शिलालेख मिलता है। इस शिलालेख के अनुसार कलिंग नरेश खारवेल मगध नरेश वहसतिमित्र को परास्त करके छत्र-भृङ्गारादि के साथ 'कलिंग जिन ऋषभदेव की वह मूर्ति वापिस कलिंग में लाये थे जिसे नन्द सम्राट् कलिंग से पाटलिपुत्र ले गये थे। सम्राट् खारवेल ने इस प्राचीन मूर्ति को कुमारी पर्वत पर अर्हत्प्रासाद बनवा-

कर विराजमान किया था। इस ऐतिहासिक शिलालेख की इस सूचना को अत्यन्त प्रामाणिक माना गया है। इसके अनुसार मौर्य काल से पूर्व में भी एक मूर्ति थी, जिसे 'कलिंग-जिन' कहा जाता था। 'कलिंग-जिन' इस नाम से ही प्रगट होता है कि सम्पूर्ण कलिंगवासी इस मूर्ति को अपना आराध्य देवता मानते थे। नन्द सम्राट् इसे अपने साथ केवल एक ही उद्देश्य से ले गये थे और वह उद्देश्य था कलिंग का अपमान। लगभग तीन शताब्दियो तक कलिंगवासी इस अपमान को भूले नही और अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतीकार कलिंग सम्राट् खारवेल ने किया। वह मगध की विजय करके अपने साथ अपने इस राष्ट्र-देवता की मूर्ति को वापिस ले गया। किन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि अब तक एक भी पुरातत्त्व-वेत्ता और इतिहासकार ने इस ऐतिहासिक मूर्ति के सम्बन्ध मे कोई खोज नही की। आखिर ऐसी ऐतिहासिक मूर्ति कुमारी पर्वत से कब किस काल में किसने कहाँ स्थानान्तरित कर दी ? यदि यह मूर्ति उपलब्ध हो जाय तो इससे लोहानीपुर की मूर्ति को प्राचीनतम मानने वाले पुरातत्ववेत्ताओं के मत को न केवल असत्य स्वीकार करना पड़ेगा, वरन् मूर्ति निर्माण का इतिहास और एक-दो शताब्दी प्राचीन मानना होगा। कुछ अनुसन्धानकर्ता विद्वानों की धारणा है कि जगन्नाथपुरी की मूर्ति ही वह 'कलिंग-जिन' मूर्ति है। किन्तु इस सम्बन्ध मे अभी साधिकार कुछ कहा नही जा सकता।

इसके पश्चात् शक-कुषाण काल मे मूर्ति कला का द्रुत वेग से विकास हुआ। इस काल मे भी सर्वप्रथम तीर्थङ्कर मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। मथुरा इस काल में मूर्ति कला का केन्द्र था। तीर्थङ्कर मूर्तियो मे भी अधिकांशतः पद्मासन ही बनाई जाती थीं। इस काल की तीर्थङ्कर मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स लाछन और अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन प्रायः नही दीखता। तीर्थङ्कर मूर्तियों में अलंकरण का भी अभाव था। मूर्तियों की चरण-चौकी पर अभिलेख अंकित करने की प्रथा का जन्म हो चुका था। जिस वोद्व स्तूप की चर्चा ऊपर आ चुकी है, उसकी सूचना भी भगवान मुनिसुव्रतनाथ की चरण-चौकी के अभिलेख से ही मिलती है। इस काल की तीर्थङ्कर प्रतिमाओं का अध्ययन करने पर एक वात की ओर ध्यान आकृष्ट हुए बिना नही रहता। ईसा की इन प्रथम द्वितीय शताब्दियो में भी आदिनाथ, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थङ्करों के समान जनता मे नेमिनाथ की भी मान्यता बहुप्रचलित थी। इस काल की भगवान नेमिनाथ की तीन प्रतिमायें विभिन्न स्थानो से उपलब्ध हुई है। एक मे नेमिनाथ पद्मासन लगाये ध्यान-मुद्रा मे अवस्थित है और उनके दोनो ओर बलराम और कृष्ण खड़े है। दोनो ही द्विभुजी है। दूसरी प्रतिमा में ध्यानमग्न नेमिनाथ के एक ओर शेशनाग के अवतार के रूप मे चतुर्भुजी बलराम खडे है। उनके सिर पर शेषनाग का प्रतीक फण-मण्डप है। दूसरी ओर विष्णु के अवतार के रूप में चतुर्भुजी कृष्ण खड़े है। उनके हाथों मे चक्र, पद्म आदि सुशोभित है। तीसरी मूर्ति अर्धभग्न है। इसमे नेमिनाथ ध्यानावस्थित है। एक ओर वलराम खडे है। इनका हल-मूसल उनके कन्धे पर विराजित है। इन मूर्तियो की प्राप्ति पुरातत्व की महान उपलब्धि मानी जाती है। इससे नारायण कृष्ण की ऐतिहासिकता के समान उनके चचेरे भाई भगवान नेमिनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष मानने मे कोई सन्देह नही रह जाता।

इस काल मे तीर्थङ्कर प्रतिमाओ के अतिरिक्त आयागपट्ट, स्तूप, यक्ष-यक्षी, अजमुख हरिनैगमेशी, सरस्वती, सर्वतोभद्रिका प्रतिमा, मागलिक चिह्न, धर्मचक्र, चैत्य-वृक्ष आदि जैन कला की विविध कृतियो का भी निर्माण हुआ। इन कलाकृतियो के वैविध्य और प्राचुर्य से प्रभावित कुछ विद्वान तो यह भी मानने लगे है कि जैन मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ ही मथुरा से हुआ है। यद्यपि यह सर्वाशतः सत्य नही क्योकि जैन मूर्तियो और मूर्ति-पूजा के प्रमाण इससे पूर्व काल में भी उपलब्ध होते है। इतना अवश्य माना जा सकता है कि जैन धर्म का प्रचार करने और उसे लोकप्रिय बनाने में मथुरा की जैन कला का विशेष योगदान रहा है।

मथुरा की तीर्थङ्कर मूर्तियो के अध्ययन से एक परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है। दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भेद यद्यपि ईसा से तीन शताब्दी पूर्व हो चुका था, किन्तु उसका कोई प्रभाव मथुरा की तीर्थङ्कर

मूर्तियों पर नहीं दिखाई पड़ता। यहां तक कि श्वेताम्बरों द्वारा प्रतिष्ठित तीर्थङ्कर प्रतिमायें भी दिगम्बर ही बनाई जाती थी और यह क्रम उत्तर मध्य काल तक चलता रहा।

कुषाणकालीन तीर्थङ्कर प्रतिमाओ के साथ यक्ष-यक्षी भी प्राप्त नही होते। प्रतिमाओ के आजू-बाजू खड़े चमरधारी यक्षों का भी अभाव मिलता है। इन यक्षो के स्थान पर इस काल की प्रतिमाओ मे दाता उपासक, उनकी पत्नी, मुनि और आर्यिकाओ का अकन मिलता है। जिन प्रतिमा के सिंहासन के दोनो कोनो पर एक-एक सिह और बीच मे धर्मचक्र अकित होता है जिसके दोनों ओर मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविका अंकित रहते है।

कुषाण काल के पश्चात् गुप्त काल मे जैन मूर्ति कला का बहुत निखार हुआ। इस काल की मूर्तियों में सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दिया गया। मूर्ति के अलकरण पर बल दिया गया। अब मूर्तियो पर श्रीवत्स, लाछन और अष्ट प्रातिहार्य की योजना भी की जाने लगी। द्वि-मूर्तिकाये, त्रिमूर्तिकायें, सर्वतोभद्रिका, चतुर्विशति तीर्थङ्कर प्रतिमायें, तीन-चौबीसी, सहस्रकूट स्तम्भ आदि की संरचना होने लगी। मूर्तियो के केश-कुतल अत्यन्त कलापूर्ण बने। आदिनाथ के जटा-जूटों के नानाविध रूप उभरे। इस काल मे तीर्थङ्करो के अतिरिक्त तीर्थङ्कर-माता, तीर्थङ्करो के सेवक-सेविका के रूप मे यक्ष-यक्षियो, विद्या देवियो, पंचपरमेष्ठियो, भरत-बाहुबली की मूर्तियो का निर्माण भी प्रचुरता से हुआ। इसके अतिरिक्त अष्ट मगल द्रव्य, अष्ट प्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, नव ग्रह, नवनिधि, मकरमुख, कीर्तिमुख, कीचक, गंगा-यमुना, नाग-नागी आदि के अंकन की परम्परा भी विकसित हुई। इस काल में देवी-मूर्तियो के अलंकार और उनकी साज-सज्जा पर विशेष ध्यान दिया गया। कुछ देवियाँ द्विभुजी, चतुर्भुजी, षड्भुजी, दशभुजी, बारहभुजी, विशतिभुजी और चतुर्विशतिभुजी भी मिलती हैं। देवगढ़ की विकसित मूर्ति-कला पर गुप्त कला का प्रभाव है।

गुप्त काल के पश्चात् गुर्जर-प्रतिहार काल में तथा कलचुरि काल में श्वेताम्बर परम्परा की तीर्थङ्कर प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया। इससे पूर्व तक श्वेताम्बर प्रतिमाओ का विशेष प्रचलन नहीं मिलता। सभी जैन प्रतिमायें दिगम्बर रूप में ही बनाई जाती थी।

इस प्रकार जैन मूर्तियों के रूप, शिल्प-विधान और उनकी सरचना का एक क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। इससे उत्खनन मे प्राप्त जैन मूर्तियो के काल-निर्णय में बहुत सहायता प्राप्त हो सकती है।

जैन मन्दिरों की संरचना और उनका क्रमिक विकास

मन्दिरों का निर्माण कब प्रारम्भ हुआ, इस विषय में विद्वानो मे मतभेद है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अनुसार जैन मन्दिरो का निर्माण-काल जैन प्रतिमाओं के निर्माण-काल से प्राचीन प्रतीत नही होता। लोहानीपुर, श्रावस्ती, मथुरा, आदि मे जैन मन्दिरो के अवशेष उपलब्ध हुए है, किन्तु अब तक सम्पूर्ण मन्दिर कही पर भी नही मिला। इसलिए जैन मन्दिरो का प्राचीन रूप क्या था, यह निश्चित तौर पर नही कहा जा सकता।

किन्तु गुहा-मन्दिर और लयण ईसा पूर्व सातवी आठवी शताब्दी तक के मिलते है। तेरापुर के लयण, उदयगिरि-खण्डगिरि के गुफामन्दिर, अजन्ता-ऐलोरा और बादामी की गुफाओ में उत्कीर्ण जैन मूर्तियां इस बात का प्रमाण है कि गुफाओ को मन्दिरों का रूप प्रदान कर उनका धार्मिक उपयोग ईसा पूर्व से होने लगा था। इन गुफा मन्दिरो का विकास भी हुआ। विकास का यह रूप केवल इतना ही था कि कही कही पर गुफाओ मे भित्ति-चित्रो का अंकन किया गया। ऐसे कलापूर्ण चित्र सित्तन्न वासल आदि गुफाओं मे अब भी मिलते है।

गुहा मन्दिरो मे सामान्य मन्दिरों की अपेक्षा स्थायित्व अधिक रहा। इसलिए हम देखते है कि ईसापूर्व का कोई मन्दिर आज विद्यमान नही है, जबकि गुहा मन्दिर आज भी मिलते है। लगता है कि उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में मन्दिरों की सुरक्षा और स्थायित्व की ओर अधिक ध्यान दिया गया। इसके दो ही कारण हो सकते है। प्रथम तो यह कि दक्षिण को उत्तर की अपेक्षा मूर्ति-विध्वंसक मुसलिम आक्रान्ताओ का कोप कम सहना पड़ा। दूसरे यह कि दक्षिण में मन्दिरों की भव्यता और विशालता के साथ उसे चिरस्थायी बनाने की भावना भी

काम करती रही। दक्षिण के अधिकाश मन्दिर राजाओ, रानियो, राज्याधिकारियो और राज्यश्रेष्ठियो द्वारा निर्मित हुए, जबकि उत्तर के मन्दिरों का निर्माण सामान्य जनो ने कराया। शक कुषाणकाल के मथुरा के मूर्ति लेखो से प्रकट है कि वहाँ के आयागपट्ट, प्रतिमा और मन्दिर स्वर्णकार, वेश्या आदि ने ही बनवाये थे। ककुभग्राम का गुप्तकालीन मानस्तम्भ एक सुनार ने बनवाया था। अस्तु !

पुरातत्वज्ञो के मतानुसार महावीर काल मे जिनायतन नही थे, बल्कि यक्षायतन और यक्ष-चैत्य थे। श्वेताम्बर सूत्र-साहित्य मे किसी जिनायतन मे महावीर के ठहरने का उल्लेख नही प्राप्त होता, बल्कि यक्षायतनो मे उनके ठहरने के कई उल्लेख मिलते है। इन यक्षायतनो और चैत्यों के आदर्श पर जिनायतन या जिन मन्दिरो की रचना की गई, यक्ष-मूर्तियो के अनुकरण पर जिन मूर्तियाँ निर्मित हुई और यक्ष एव नाग पूजा पद्धति से जिन मूर्तियो की पूजा प्रभावित हुई।

किन्तु दिगम्बर साहित्यिक साक्ष्य के अनुसार कर्मभूमि के प्रारम्भिक काल मे इन्द्र ने अयोध्या मे पाच मन्दिरो का निर्माण किया, भरत चक्रवर्ती ने ७२ जिनालय बनवाये; शत्रुघ्न ने मथुरा मे अनेक जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया। जैन मान्यतानुसार तो तीन लोको की रचना मे कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों प्रकार के चैत्यालयों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नन्दीश्वर द्वीप के बावन अकृत्रिम चैत्यालयो का पूजा विधान जैन परम्परा मे अब तक सुरक्षित है। इसलिए यह माना जा सकता है कि जैन परम्परा मे जिन चैत्यालयों की कल्पना बहुत प्राचीन है।

किन्तु पुरातत्व को ज्ञात जैन मंदिरो का प्रारम्भिक रूप विधान कैसा था, इसमे अवश्य मतभेद दृष्टिगोचर होता है। लगता है, प्रारम्भ मे मंदिर सादे बनाये जाते थे। उन पर शिखर का विधान पश्चात्काल मे विकसित हुआ। शिखर सुमेरु और कैलाश के अनुकरण पर बने। अनेक प्राचीन सिक्को पर मदिरो का प्रारम्भिक रूप देखने मे आता है। मथुरा की वेदिकाओं पर मदिराकृतियाँ मिलती है, जिन्हे विद्वानो ने मदिरो का प्रारम्भिक रूप माना है। ई०पू० द्वितीय और प्रथम शताब्दी के मथुरा जिनालयो मे दो विशेषताये दिखाई देती है—प्रथम वेदिका और द्वितीय शिखर। इस सम्बन्ध मे प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी का अभिमत है कि मदिर के चारो ओर वृक्षो की वेष्टनी बनाई जाती थी, इसे ही वेदिका कहा जाता था। बाद मे यह वेष्टनी प्रस्तर निर्मित होने लगी।

विभिन्न कालो मे मन्दिरो के रूप और कला मे विभिन्न परिवर्तन होते रहे। कला एक रूप होकर कभी स्थिर नही रही। समय के प्रभाव से वह अपने आपको मुक्त भी नही कर सकी। एक समय था, जब तीर्थंकर-प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्ययुक्त बनाई जाती थी। किन्तु आज तो तीथकरो के साथ अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन ही समाप्त सा हो गया है, जबकि शास्त्रीय दृष्टि से यह आवश्यक है[1]। ●

---

१. मन्दिरो के विकास-प्रकरण मे प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी के विभिन्न लेखो और डा० भागचन्द की 'देवगढ़' पुस्तक से सहायता ली गई है। इसके लिए दोनो विद्वानों के प्रति हम आभारी है। —लेखक

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानो के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १-२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युतम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दी की महत्त्व की रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य ·१६

अध्यात्मरहस्य : प० आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बडे आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्विमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

जुलाई-अगस्त

१९७३

वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली का मुख-पत्र

* ॐ अर्हम् *

अनेकान्त

परमागमस्य बीज निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २६ किरण ३	वी.र-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४९९, वि० सं० २०३०	जुलाई, अगस्त १९७३

श्रुत देवता स्तुतिः

जयत्यशेषामरमौलिलालितं सरस्वति त्वत्पदपङ्कजद्वयम् ।
हृदि स्थितं यज्जनजाड्यनाशनं रजोविमुक्तं श्रयतीत्यपूर्वताम् ॥
अपेक्षते यन्न दिनं न यामिनीं न चान्तरं नैव बहिश्च भारति ।
न तापकृज्जाड्यकरं न तन्महः स्तुवे भवत्याः सकलप्रकाशकम् ॥ (१५-१)

—मुनि पद्मनन्दि

हे सरस्वती ! जो तेरे दोनों चरण कमल हृदि में स्थित होकर लोगों की जड़ता (अज्ञानता) को नष्ट करने वाले तथा रज (पाप रूप धूलि) से रहित होते हुए उस जड़ और धूलि युक्त कमल की अपेक्षा अपूर्वता (विशेषता) को प्राप्त होते हैं वे तेरे दोनों चरण कमल समस्त देवों के मुकुटों से स्पर्शित होते हुए जयवन्त होवें। हे सरस्वती ! तेरा जो तेज न दिन की अपेक्षा करता है और न रात्रि की भी अपेक्षा करता है, न अभ्यन्तर की अपेक्षा करता है और न बाह्य की अपेक्षा करता है तथा न सन्ताप को करता है और न जड़ता को भी करता है, उस समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाले तेरे तेज की मैं स्तुति करता हूँ।

—००—

विषय-सूची

ऐतिहासिक नई शोध

क्या चाणक्य जैन था ?

—मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम'

अतीत का आधार :

अतीत श्रुति, स्मृति तथा ग्रन्थों के आधार पर जीवित रहता है। कुछ शताब्दियों तक वह श्रुति और स्मृति का आश्रय पाकर फलता फूलता रहता है और बाद में कुछ प्रबुद्ध चेता उसे ग्रन्थों की परिधि मे डालकर धरोहर के रूप मे संजो देते है। भविष्य उसका अनुसन्धान करता है और नाना फलितार्थ निकाल कर उसे सजाने सवारने का काम करता है। इस प्रक्रिया में कभी-कभी यथार्थता परतों की तह में दबी रह जाती है और कभी-कभी वह प्रकट भी हो जाती है।

श्रुति और स्मृति के आधार पर पलने वाले अतीत के सन्दर्भ में कई बार वक्ता की कुशलता के परिणामस्वरूप भी यथार्थता पर सघन वातावरण पड़ जाता है, जिसे दूर करने में अत्यन्त श्रम अपेक्षित हो जाता है। वह अपने वाक्-चातुर्य तथा तत्कालीन परिस्थितियो के समावेश से नया ही रग दे देता है। मूल जहाँ का तहाँ रह जाता है। कुछ समय बाद वहाँ स्व की मान्यता का रूढ आग्रह तथ्यों को झुठलाता ही जाता है, जो तटस्थता का सर्वथा प्रतिरोधी होता है। ऐसा ही कुछ जैन परम्परा के इतिहास के साथ हुआ है। भगवान् महावीर से वर्तमान तक अनेक शताब्दियाँ ऐसी बीती हैं, जो जैन इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों की स्वयम्भू साक्षी है, पर उन्हें स्वीकार करने के लिये वर्तमान युग के विद्वान् प्रस्तुत नहीं हैं। ढाई हजार वर्ष की इस अवधि में जैन परम्परा में सैकड़ों-हजारों प्रभावक आचार्य, मुनि तथा श्रावक हुए हैं, जिन्होंने न केवल धार्मिक क्षेत्र में, अपितु राजनैतिक, सामाजिक एव शैक्षणिक क्षेत्र में नये कीर्तिमान स्थापित कर इतिहास को नया मोड़ दिया है, पर वह सब कुछ समय की परतों में दबता गया है। जैन विद्वान् इस ओर उदासीन रहे। इसी बीच सम्प्रदायवाद को प्रधानता देकर चलने वाले कुछ विद्वानो ने अवसर का लाभ उठाया और जैन इतिहास की स्वर्णिम घटनाओं को भाण्डागारों की परतों मे दबाने मे वे सफल हो गये।

वर्तमान युग जैन विद्वानों मे नये सृजन तथा अतीत के अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है। पर, अपने अनेकान्त दृष्टिकोण को सुरक्षित रखते हुए वे इस दिशा में अग्रसर हो। साम्प्रदायिक व्यामोह में पड़कर तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर अभिलषित मजिल को पाने का प्रयत्न उन्हे नही करना है और न उपलब्ध ठोस प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए कतराने की भी अपेक्षा है। सत्य-प्राप्ति और उसकी अनुभूति का हमारा लक्ष्य है और उसी ओर चरण-न्यास पुनीत कर्त्तव्य है।

ऐतिहासिक सत्य की समीपता :

इतिहास का विद्यार्थी रहा हूँ, अतः प्रत्येक घटना को उसी सूक्ष्म दृष्टि से देखने की वृत्ति हो गई है। जब तक सही निष्कर्ष उपलब्ध नही हो जाता, अनुसंधान की परिक्रमा चालू ही रहती है। साम्प्रदायिक मान्यताओ को अहंमन्यता न देकर यथार्थता पाने को ही सदा सजग रहा हूँ। प्रस्तुत उपक्रम में भी कुछ ऐसे तथ्यों की ओर विद्वानों की दृष्टि आकर्षित करना चाहूँगा, जो अनुसन्धान के परिवेश में अभी तक समाविष्ट नहीं हो पाये हैं। मैं केवल प्राप्त प्रमाणों को समुद्धृत करना ही चाहूँगा और विद्वानों से अपेक्षा रखूँगा कि वे पक्ष तथा विपक्ष में जो भी ठ स प्रमाण हों, प्रस्तुत करने का उपक्रम करे, जिससे हम ऐतिहासिक सत्य के समीप पहुँच सकें।

सन् ६८—६९ में मेरा चातुर्मास-प्रवास जयपुर में था।

उन्ही दिनों "राजस्थान इतिहास कांग्रेस" का तृतीय अधिवेशन वहाँ हो रहा था। मैंने भी उस समायोजन में 'राजस्थान के जैन साहित्य का एक ऐतिहासिक अवलोकन' शीर्षक से शोध-पत्र पढ़ा। प्रसंगोपरान्त उसमें एक उल्लेख था, सम्राट् चन्द्रगुप्त जैन थे। प्रश्नोत्तर काल में विद्वानों ने सबसे अधिक इसी पहलू को अपना केन्द्र बनाया। विचार चर्चा सरसता के साथ कुछ लम्बी हो रही थी, अतः यह निर्णय रहा, इस पहलू पर कभी स्वतन्त्र रूप से चर्चा की जाये। कुछ ही दिनों बाद राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग की ओर से एक संगोष्ठी का आयोजन हुआ, जिसका विषय रखा गया, "सम्राट् जैन या हिन्दू ?" एक घण्टे के मेरे भाषणोपरान्त डेढ़ घण्टे की सरस प्रश्नोत्तरी चली। विषय का पूर्ण मन्थन हुआ। विभागाध्यक्ष डॉ० जी० सी० पाण्डे ने उपसंहार भाषण में कहा—"मुनिश्री द्वारा प्रस्तुत तर्कों को खण्डित करने के लिये तीन चार वर्ष के गहरे अनुसन्धान की अपेक्षा होगी। उसके अनन्तर भी मुनिश्री के तर्कों का समाधान हम दे पाने में सफल हो पायेंगे, यह भी संदिग्ध है।"

मेरा भी अपना अध्ययन चलता रहा। पक्ष विपक्ष के प्रमाणों पर तटस्थ समीक्षा करता रहा। मन मे विश्वास था, सम्राट् चन्द्रगुप्त जैन थे, महामात्य चाणक्य जैन नही था। यह मेरे अध्ययन की धुरी थी। पर, कहना होगा, चन्द्रगुप्त के जैनत्व को प्रमाणित करने के उपक्रम में चाणक्य भी परम्परागत जैन था, ये प्रमाण भी उपलब्ध होने लगे। मै उन्हें एकत्र करने लगा। अनेक प्रमाणों की उपलब्धि ने सहज ही प्रस्तुत निष्पत्ति की ओर अग्रसर कर दिया। समीक्षणीय दृष्टि से उन्हें प्रस्तुत करते हुए विशेष हर्षानुभूति है। इसी के साथ चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, सातवाहन आदि नरपतियों के जैनत्व के बारे में भी यथासमय तथा यथाप्रसंग तर्कणा की जायेगी।

परम सन्तोषी तथा तत्वज्ञानी :

जैन साहित्य में चाणक्य के जीवन-प्रसंग प्राचीनता की दृष्टि से आवश्यक चूर्णि (पृ० ५६३ से ५६५) में प्राप्य हैं। यद्यपि विशेषावश्यक भाष्य में भी उल्लेख है, किन्तु वहाँ जीवन प्रसंगों के अभाव में धार्मिक अनुबन्ध के बारे मे प्रामाणिकता से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आवश्यक चूर्णि की कथावस्तु स्पष्ट है, अतः उसके आधार पर दृढता से कहा जा सकता है, चाणक्य परम्परागत जैन होने के साथ-साथ तत्वज्ञान सम्पन्न तथा परम सन्तोषी श्रावक था।[1] उसके पिता भी परम श्रावक थे।[2] सक्षेप मे उस कथावस्तु का सार इस प्रकार है:—गोल देश में चणक ग्राम था। चणी ब्राह्मण वहाँ का प्रवासी था। वह श्रावक था। उसके घर जैन श्रमण ठहरे। उन्ही दिनों चणी के घर एक पुत्र का जन्म हुआ। उस बालक में विचित्रता थी। जन्म से ही उसके दाँत समुद्गत थे। चणी ने बालक को श्रमणों के चरणो मे प्रस्तुत करते हुए प्रश्न किया—'सदन्त बालक का भविष्य कैसा होगा ?" श्रमण ने कहा—"यह बालक के राजा होने की सूचना है।" चणी का चिन्तन उभरा, राजा को राज्य के सरक्षण मे अनेक प्रकार के पाप-कार्य करने होते हैं। पापकारी कार्यों का परिणाम आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्गति है। मेरा पुत्र दुर्गतिगामी न हो, इस अभिप्राय से उसने दाँत घिस दिये। चणी ने श्रमण से पुनः प्रश्न किया तो श्रमण ने कहा—"अब यह बिम्बान्तरित राजा होगा।"

बालक का नाम चाणक्य रखा गया। शैशव की देहली को पार कर जब उसने किशोरावस्था में प्रवेश किया, चौदह प्रकार की विद्याओं का अध्ययन किया। तत्व-ज्ञान मे भी वह प्रवीण हुआ। वह श्रावक बना तथा परम सन्तोषी जीवन जीने लगा।

इसी सदर्भ मे चाणक्य की पत्नी के पीहर में अपमान, राजा नन्द की सभा में चाणक्य का गमन, दासी द्वारा अपमान, चाणक्य द्वारा नन्द साम्राज्य के उन्मूलन की प्रतिज्ञा, मौर्य सन्निवेश में चन्द्रगुप्त की माता के चन्द्रपान के दोहद की पूर्ति, चन्द्रगुप्त का अधिग्रहण, राजा पर्वत के साथ मैत्री, राजा नन्द के साथ युद्ध, नन्द का पतन, नन्द की राजकुमारी का चन्द्रगुप्त के साथ विवाह

१. उमुक्क बाल भावेण चोद्दस विज्जाठाणाणि आगमियाणि, सोवि सावओ संतुट्ठो — पृ० ५६३

२. चाणक्के गोल्ल विसए चणिअग्गामो, तत्थ चणिओ माहणो, सो य सावओ।—पृ० ५६३

राजा नन्द के विश्वासपात्र व्यक्तियों का क्रमशः उच्छेद, कोश की अभिवृद्धि आदि का विस्तृत वर्णन है। प्रत्येक घटना में चाणक्य की दूरदर्शिता पूर्ण कूटनीति के वहाँ स्पष्ट दर्शन होते हैं।

जैन श्रमणों का चाणक्य के पिता के घर प्रवास[1] करना इस तथ्य की पुष्टि है कि चणी जैन धर्म में परम निष्ठा रखने वाला विशिष्ट श्रावक था। जिस गृहस्थ के मकान में जैन श्रमण प्रवास करते हैं, उसे "शय्यातर" कहा जाता है। शय्यातर का सुयोग श्रावकों में से भी किसी विरल व प्रमुख को ही मिलता है। चणी को अपने ग्राम के श्रावकों में अग्रगण्यता से चाणक्य का जैन धर्म में संस्कारित होना नैसर्गिक था।

चाणक्य में जहाँ धार्मिक संस्कार पैतृक परम्परा से आये, वहाँ उसने तत्व-ज्ञान के अर्जन, सरक्षण व संवर्धन से उसमें अभिवृद्धि भी की। व्रत-धारक श्रावक का जहाँ महत्व है, वहाँ तत्वज्ञान सम्पन्नता उसकी विशिष्टता को विशेष निखार देती है। चाणक्य श्रावक होने से परम सन्तोषी तथा तत्वज्ञान में पारंगत भी था।

आवश्यक मलयगिरि वृत्ति आवश्यक चूर्णि के प्रतिपाद्य को विशेष पुष्ट करती है। वहाँ कथानक की समानता है, किन्तु चणी के श्रावकत्व को संदर्शित करने वाला एक विशेषण विशेषतः प्रयुक्त किया गया है। वहाँ कहा गया है—"चणी ब्राह्मण जीव-अजीव आदि नव-तत्वों का ज्ञाता था।"[2]

चाणक्य के बारे में वहाँ कहा गया है—"वह चौदह प्रकार की विद्याओं एव तत्वज्ञान में निष्णात परम सन्तोषी श्रावक था।"[1]

श्रावकत्व तथा निर्विण्णता :

आचार्य हरिभद्र सूरि ने "उपदेशपद" में चाणक्य के जीवन-प्रसंगों पर विस्तार से अनुचिन्तन किया है। उन्होंने वहाँ प्रत्येक घटना के हार्द को उद्घाटित किया है। वहाँ चाणक्य के पिता चणी का श्रावक[2] होना तथा उसके घर पर समस्त पुरुष-लक्षणों के विज्ञाता साधुओं का प्रवासी होना उल्लिखित है। दन्त-घर्षण की कथा के अनन्तर चाणक्य के बारे में उन्होंने अपना अभिमत व्यक्त किया है—"कैशोर्य में प्रविष्ट होते ही वह अध्ययन में निष्णात हुआ। श्रावकत्व को स्वीकार किया और निर्विण्ण हुआ। वह परम सन्तुष्ट तथा आनन्दित था। निष्ठुर सावद्य कार्यों के परित्याग में वह उत्सुक रहता था।

चाणक्य का श्रावकत्व, निर्विण्णता तथा सावद्य कार्यों से उपरति की सूचना जैन परम्परा की सबल पोषक है।

आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक चूर्णि की कथावस्तु को समग्रता प्रदान की है। आवश्यक चूर्णि में चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण तथा अव्याबाध राज्य संचालन में चाणक्य की कूटनीतिक सफल घटनाओं का ही आकलन है। चाणक्य के कैशोर्य की घटनाओं के अतिरिक्त जीवन के अन्य प्रसंगों में अधिकांशतः मौन ही साधा गया है। किन्तु आचार्य हरिभद्र सूरि ने इस अभाव को भरा है। उन्होंने समग्र जीवन पर एक अवलोकन प्रस्तुत किया है। इससे अनेक नवीन रहस्यों का उदघाटन हो जाता है।

संघ-पालक तथा संघ-हित-चिन्तक :

आचार्य सम्भूत विजय[4] के समय एक बार भयङ्कर

---

१. (क) तस्स घरे साहू ठिया। —आवश्यक चूर्णि, पृ० ५३१ अ०

(ख) नीसेस पुरिसलक्खण वियाणगा सूरिणो घरे तस्स कहवि विहारवसाओ ठिया सुओ तत्थ सुआओ।

—उपदेश पद, पृ० १०९ अ०

२. तत्थ चणितो माहणो, सो अवगय जीवाजीव उवलद्ध पुण्ण पावासव संवर निज्जराहिगरण बन्धप्पमोक्ख कुसलो।—पृ० ५३१

१. उमुक्क बालभावेण चोद्दसवि विज्जाठाणाणि आगमियाणि, सोय सावगो संतुट्ठो।—पृ० ५३१

२. नामेण चणी तत्थासि माहणो सावगो सो य।

—पृ० १०९ अ०

३. पढियाणि सावगत्तं पडिवन्नो भावओ निविन्नो।
अणुरूवा अइभद्दय माहणवंसुग्गया तेण ॥८
परिणीया एगा कन्नगा य संतुट्ठ माणसो धणियं।
चिट्ठइ निट्ठुर सावज्जकज्ज परिवज्जणुज्जुतो। ९

—पृ० १०९ अ०

४. चतुर्दशपूर्वी आचार्य यशोभद्र के उत्तरवर्ती तथा आचार्य भद्रबाहु के पूर्ववर्ती आचार्य सम्भूत विजय से ये भिन्न हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में इस प्रसंग पर आचार्य सुस्थित का उल्लेख किया है। वहाँ कहा गया है—"आचार्यः सुस्थितो नाम चन्द्रगुप्तपुरेऽवसत्।"

दुष्काल पड़ा। साधुओं को आहार-प्राप्ति दुर्लभ हो गई। आचार्य सम्भूत विजय वृद्ध थे, अतः वे सुदूरवर्ती प्रदेश की ओर प्रस्थान न कर सके। किन्तु अन्य शिष्यों को उन्होंने समुद्र के तटवर्ती प्रदेश में भेज दिया, जहाँ कि सुभिक्ष था। दो बालक साधुओं ने भी अन्यत्र विहार के लिये प्रस्थान किया, किन्तु गुरु-भक्ति से प्रेरित होकर वे वापस आ गये। आचार्य सम्भूत विजय किसी समय भावी आचार्य को मन्त्र-तन्त्र विद्या का ज्ञान प्रदान कर रहे थे। दूर बैठे हुए बालक साधुओं ने भी उन्हे सुनकर उनका गुप्त अभ्यास कर लिया। आहार की अप्राप्ति से खिन्नता होने लगी। आचार्य सम्भूत विजय जो भी आहार मिला, उससे पहले शिशु साधुओं को सन्तर्पित करते। बचा-खुचा स्वयं खाते। पर्याप्त आहार की अप्राप्ति से उनका शरीर क्षीण होने लगा। बालक साधुओं को चिन्ता हुआ। आहार-प्राप्ति का उन्होंने अन्य प्रकार खोज निकाला। मन्त्र-बल से वे राजा चन्द्रगुप्त के यहाँ पहुँच जाते और उसके लिये परोसे गये भोजन का गुप्त रीति से सहरण कर लेते। साधु तृप्त हो जाते, किन्तु राजा चन्द्रगुप्त सदैव भूखा रह जाता। भूख से उसका भी शरीर कृश होने लगा। एक दिन चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से प्रश्न किया तो उसने बताया, मेरे लिये परोसे हुए थाल से भोजन का सहरण होता है। भूख के कारण कृशता तथा दुर्बलता बढ़ती जा रही है।

चाणक्य ने सूझ-बूझ से काम लिया। उसने रासायनिक प्रयोग के माध्यम से साधुओं का छद्म जान लिया। आचार्य सम्भूत विजय को निवेदन करने के अभिप्राय से वह उपाश्रय में आया। उसने साधुओं को साधिकार उपालम्भ दिया। आचार्य सम्भूत विजय ने प्रतिवाद मे चाणक्य को कहा—'तेरे जैसे संघ-पालक के होते हुए भी यदि क्षुधा से पीडित होकर ये साधु धर्मच्युत होते हैं तो यह तेरा ही अपराध है, अन्य किसी का नही।"[१]

प्रांजलिपुट होकर चरणों में गिरते हुए चाणक्य ने अपना अपराध स्वीकार किया और निवेदन किया—"मेरे अपराध को क्षमा करे। अब से प्रवचन (संघ) की सारी चिन्ताओं का निर्वहन मैं करूँगा।"[१]

आचार्य सम्भूत विजय का चाणक्य को संघ-पालक के रूप में सम्बोधित करना तथा चाणक्य द्वारा प्रवचन (संघ) की सारी चिन्ताओं का भार अपने पर लेना, मात्र औपचारिकता का ही सूचक नही है, अपितु जैन परम्परा के साथ प्रगाढ़ता की गहरी अभिव्यक्ति है।

'इगिनी मरण' अनशन :

कथा के विस्तार में आचार्य हरिभद्र ने चाणक्य की अन्तिम जीवन झाँकी की प्रस्तुति भी बहुत रोचकता से की है। उसमे रहे हुए तथ्य चाणक्य के जैनत्व की पुष्टि में विशेष हेतुभूत हो जाते हैं। चाटुकारो तथा चुगलों ने राजमाता की हत्या के कृत्रिम अभियोग द्वारा बिन्दुसार को चाणक्य के प्रति भ्रमित तथा विमुख कर दिया। चाणक्य उस समय तक वृद्ध हो चुका था। उपेक्षित तथा अपमानित जीवन जीना उसकी प्रकृति के विरुद्ध था। उसने जीवन की आशा और मृत्यु के भय से उपराम लेने का निश्चय किया। "सभी स्वजनो से क्षमा-याचना कर तथा स्वयं को जिनेन्द्र धर्म में नियोजित कर वह अरण्यवर्ती गोकुल में में पहुँचा। वहाँ उसने 'इगिनी[२] मरण' अनशन प्रारम्भ कर दिया।"[३]

राजा बिन्दुसार को धाय-माता के द्वारा चाणक्य की यथार्थता का जब ज्ञान हुआ, उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह चाणक्य को पुनः राज्य मे लौटने के लिये तथा पूर्ववत् राज्य-धुरा का वहन करने के लिये अनुनय करने के लिये गोकुल मे पहुँचा। अपने अपराध की क्षमा माँगी तथा महामात्य का सम्मानित पद स्वीकार करने के लिये आग्रह करने लगा। चाणक्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"सब प्रकार

१—आह गुरूणा भणिओ तइ सासणपालगे सते।१२६
ए ए छुहापरद्धा निद्धम्मा होउमेरिसायारा।
जो जाया सो सव्वो तवावरा हो म प्रमत्स।१२७
—पृ० ११३ अ०

१—तग्गो पाएसु इमो खामइ अवराहमेगमेयमे।
एत्तो पभिई सव्वा चिंता मे पवयणस्साबि।१ पृ० ११३
२—चतुर्विध आहार के प्रत्याख्यान पूर्वक अनशन के समय आरक्षित क्षेत्र से बहिर्गमन न करना।
३—खामित्ता सयणजणं जिणिदधम्मे निओजिऊणं च।
रण्णो गोउलठाणे इंगिणिमरणं पवन्नो सो॥ १५१
—पृ० ११३ अ०

के सगों से विप्रमुक्त होकर मैंने आजीवन अनशन[1] स्वीकार कर लिया है। राज्य से मेरा अब क्या प्रयोजन ?"

चाटुकार और पिशुन अमात्य सुबन्धु के द्वारा अपने विरोध मे की गई सारी धूर्तता को चाणक्य जानता था, पर उसने उस सम्बन्ध में राजा बिन्दुसार से कोई उल्लेख नही किया।[2]

निराश राजा बिन्दुसार राजमहलो मे लौट आया। उसका मन खिन्न रहने लगा। अमात्य सुबन्धु ने सोचा, राजा का आकर्षण चाणक्य के प्रति बढ रहा है। कही ऐसा न हो जाये कि मेरी कलई खुल जाये। उसने भी अवसर का लाभ उठाते हुए राजा से विज्ञप्ति की, यदि आपका आदेश हो तो महामात्य चाणक्य को प्रसन्न कर मैं राजधानी ले आऊँ। राजा बिन्दुसार ने उसे आदेश प्रदान कर दिया। उसका अन्य षड्यन्त्र भी सफलता की ओर बढ़ गया। सुबन्धु ने धूप से चाणक्य का सम्मान किया और उसके चारो ओर फैले उपलो मे उसे (धूप को) डाल दिया। उपलों ने आग पकड़ ली। वे धधकने लगे और चाणक्य के शरीर को परितप्त करने लगे।

अन्तिम आत्मालोचन :

आचार्य हरिभद्र सूरि ने उस समय के चाणक्य के विशुद्ध परिणामो का बहुत ही हृदयग्राही विवेचन किया है। उस विवेचन मे जैनत्व के गहरे सस्कारों की स्पष्ट झलक है। उन्होने लिखा है:—"उस समय चाणक्य की शुद्ध लेश्या थी। धार्मिक अनुचिन्तन मे वह अनुरक्त था। वह सर्वथा अचल था। अग्नि मे सुलगते हुए भी उसका मन अनुकम्पा से ओत-प्रोत था। उस समय वह अध्यात्म मे पूर्णत: लीन हो रहा था। उसके विचार उभर रहे थे वे प्राणी धन्य हैं जिन्होने अनुत्तर मोक्ष स्थान को प्राप्त किया है। वे किसी प्राणी के लिये दु:खद नही होते। मेरे जैसे प्राणी बहुत प्रकार के आरम्भ-समारम्भ मे आसक्त रहते हुए अपना जीवन पाप मे ही व्यतीत करते है। जिनेश्वर-वाणी को जानते हुए भी मोहरूप महाशल्य से मै बीधा हुआ रहा, अत: इस जीवन और भावी जीवन के विरुद्ध मैंने अनेक प्रवृत्तियाँ की। मेरा जन्म कैसा बीता ? इस जन्म मे तथा अन्य जन्मों मे किसी भी प्राणी को उत्तप्त किया हो तो वे मुझे क्षमा प्रदान करे। मैं भी उन्हें क्षमा प्रदान करता हूँ। राज्य-संचालन के समय पापाधीन होकर मैंने जिन अधिकरणो का सग्रह किया है, त्रिकरण तथा त्रियोग पूर्वक उनका त्याग करता हूँ।

अग्नि ज्यो-ज्यो बल पकडती जा रही थी, त्यो त्यो चाणक्य का शरीर भी उसमें उत्तप्त हो रहा था। साथ ही साथ उसके क्रूर कर्म भी भस्मीभूत हो रहे थे। शुभ भावना युक्त परमेष्ठि पचक के स्मरण मे अनुरक्त, अविचल, समाधि सम्पन्न उसने मृत्यु का वरण किया। स्वर्ग मे वह महर्द्धिक देव हुआ।[1]

भत्तपइण्णा[2], सथारग पइन्ना[3] तथा मरण विधि[4] भी उपरोक्त घटना तथा तथ्य की मुक्त पुष्टि करती हैं। चाणक्य का विरत होकर गोकुल मे पहुँचना वहाँ 'इगिनी मरण' प्रायोपगमन स्वीकार करना तथा सुबन्धु (सुबुद्धि) द्वारा उसे भस्म करना आदि प्रसगो का विशद उल्लेख है।

चाणक्य की अन्तिम जीवन झाँकी वस्तुत: ही बहुत मर्मस्पर्शी है। मगध के एकछत्र महामात्य को जीवन की

१—परिवज्जाणसगो ह विमुक्कसंगो य वट्टामि। १५६

—पृ० ११४ अ०

२—न य नाऊण वि सिट्ठं सुबंधुदुव्विलसियं तया रन्नो।
चाणक्केण पेसुन्नकडुविवाग मुणंतेण॥ १६०

— पृ० ११४ अ०

१—उपदेशपद, गा० १६३ से १७१ के आधार पर, पृ० ११४ अ० तथा ब०

२—गुट्ठे पाओवगओ सुबंधुणा गोमए पलिविअम्मि।
उज्झन्तो चाणक्को पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥

—भत्त पइण्णा, गा० १६२

३—पाडलि पुत्तम्मि पुरे चाणक्को नाम विस्सुओ आसि।
सव्वारंभनिअत्तो इंगिणी मरण अह निवन्नो॥
अणुलोम पूअणाए अह सा सत्तु जओ डहइ देह।
सोवि तह डज्झमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठ।
गुट्ठे पाओवगओ सुबन्धुणा गोमए पलिवियम्मि।
डज्झन्तो चाणक्को पडिवन्नो उत्तमं अट्ठ

—सथारग पइण्णा, गा० ७३–७५

४—परिणीयताए कोई, अग्गि से सव्वत्ये पवेज्जाहि।
पादोवगए सन्ने, अह चाणक्कस्स य करीसे॥

— मरण विहि पइण्णा, गा० ५६६

सन्ध्या में इतनी कड़वी घूँट पीने के लिये विवश होना पड़ेगा, यह कल्पना से परे का प्रसङ्ग है। किन्तु उत्थान और पतन की क्रमभाविता का अपवाद चाणक्य भी न हो सका। विवशता को भी आत्म-रति मे परिणत करने की प्रक्रिया जैन साधक जानते थे। ऐसी परिस्थिति में भी जीवन से ऊबकर पलायन करने का मार्ग वे नही सोच सकते थे। 'इगिनी मरण' अनशन स्वीकार कर यही आदर्श चाणक्य ने प्रस्तुत किया था। जीवित ही जब दाह ने घेर लिया, विरोधी के प्रति सम परिणाम, विशुद्ध अध्यवसाय तथा आत्म-चिन्तन की उच्चता का जो विवेचन किया गया है, वह जैन परम्परा की एक उज्ज्वल कड़ी में गजसकुमाल, मेतार्य आदि मुनियों के विरल उदाहरणो की तरह श्रावकों मे चाणक्य का भी विशिष्ट उदाहरण बन गया है। इससे प्रतिभासित होता है, चाणक्य सामान्य श्रावक न होकर दृढधर्मा, सर्वत: धर्मानुरक्त तथा भाव श्रावक था।

दीक्षा-ग्रहण :

बृहत्कथाकोष, कथानक संख्या १४३ में आचार्य हरिषेण ने चाणक्य के जीवन-प्रसगों का विस्तार मे उल्लेख किया है। यद्यपि आचार्य हरिभद्र सूरि और आचार्य हरिषेण द्वारा सदृब्ध कथावस्तु में कुछ अन्तर आ जाता है, पर चाणक्य के जैनत्व में कोई अन्तर नही आता। आचार्य हरिषेण के अभिमतानुसार तो अपने सान्ध्यकाल में चाणक्य भागवती जैनी प्रव्रज्या[1] स्वीकार करता है तथा पाँच सौ साधुओ के साथ शुक्ल ध्यान में रमण करते हुए पदोपगमन अनशन[2] पूर्वक देहोत्सर्ग करता है। बृहत्कथा कोष के अनुसार वह घटना क्रम इस प्रकार है—"नन्द राजा को पराजित करने के अनन्तर चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने पाटलिपुत्र का राज्य अधिगृहीत किया। लम्बे समय तक राज्य सचालन के अनन्तर चाणक्य विरक्त हुआ। जैन धम का श्रवण कर उसने सब प्रकार के परिग्रह का परित्याग किया। अन्तिम समय में साधु बना। एक बार पाँच सौ साधुओ के परिवार से दक्षिणापथ में विहरण करता हुआ एक अरण्य मे पहुँचा। वहाँ गोकुल में कायोत्सर्ग पूर्वक ठहरा। गोकुल के पूर्व में क्रौंचपुर था। सुमित्र वहाँ का राजा था। अमात्य सुबन्धु राजा नन्द की मृत्यु के अनन्तर राजा सुमित्र की शरण में आ गया था। नन्द राज्य के पतन से सुबन्धु का चाणक्य के प्रति रोष का उभरना सहज था। वह चाणक्य के पराभव के लिये उसके दुर्बल स्थानो की खोज मे था। मुनिवर चाणक्य के गोकुल में आगमन के सवाद से राजा सुमित्र को प्रसन्नता हुई। वह अभिवन्दन के लिये आया। धार्मिक पर्युपासना के अनन्तर राजा नगर में आ गया। मुनि चाणक्य ने पादोपगमन अनशन आरम्भ कर दिया। सुबन्धु ने वहाँ उपलों को सगृहीत कर उनमे आग लगा दी। संयोग से सुबन्धु भी ज्वाला की चपेट मे आ गया। उसकी भी वहाँ अन्त्येष्टि हो गई। चाणक्य प्रभृति पाँच सौ मुनियों ने शुक्ल ध्यान की साधना करते हुए तथा उपसर्ग को सहन करते हुए पादोपगमन युक्त समाधिमरण का वरण किया।"

परिग्रह परित्याग के साथ दीक्षा ग्रहण एवं पादोपगमन अनशन का स्वीकरण चाणक्य के जैनत्व को प्रमाणित करने के सबल आधार है।

सघ-परूष तथा प्रवचनोपहास-भीरू :

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व, अष्टम सर्ग में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के जीवन वृत्त पर विस्तार मे विमर्षण किया है। उन्होने चाणक्य के पिता चणी[1] ब्राह्मण तथा चाणक्य का श्रावक[2] होना स्पष्टत: स्वीकार किया है। परिशिष्ट पर्व की कथावस्तु का आधार आचार्य हरिभद्र सूरि का उपदेश ही ज्ञात होता है। अन्तर इतना ही है कि उपदेशपद की भाषा प्राकृत तथा शैली सक्षिप्त है। परिशिष्ट पर्व की भाषा प्रांजल सस्कृत है तथा शैली मे विस्तृति है। आचार्य हेमचन्द्र ने चाणक्य को श्रावक

१—कृत्वा राज्यं चिरकालं अभिषिच्यात्र तं नरम्।
श्रुत्वा जिनोदित धर्म हित्वा सर्व परिग्रहम्।७२
मतिप्रधान साधवन्ते महावैराग्यसंयुतः।
दीक्षां जग्राह चाणक्यो जिनेश्वर निवेदिताम्।७३
२—चाणक्याख्यो मुनिस्तत्र शिष्यपंचशतैः सह।
पादोपगमनं कृत्वा शुक्ल ध्यानमुपेयिवान्।८३

१—बभूव जन्मप्रभृति श्रावकत्व चणश्चणी।
—अष्टम सर्ग, श्लोक १०५
२—चाणक्योपि श्रावकोभूत, सर्वविद्याब्धि पारगः।
श्रमणोपासकत्वेन स सन्तोष धनः सदा॥

सम्बोधन के साथ २ सघपुरूष[1] प्रवचनोपहास भीरू[2] निर्भरोद्यत[3] आदि शब्दों से भी अभिहित किया है। चन्द्रगुप्त के लिये परोसे हुए थाल से भोजन के सहरण को आहार संविभाग बतला कर श्रावक के बारहवें अतिथि संविभाग व्रत की ओर संकेत किया है। इस प्रसङ्ग पर चाणक्य ने आचार्य के उपवास मे यह अभिग्रह भी ग्रहण किया था कि आज से यथावश्यक आहार, पानी, उपकरण आदि श्रमण मेरे घर से ग्र ण कर मुझे लाभान्वित करे।

संघपुरूष शब्द का प्रयोग सामान्य श्रावक के लिये नही होता। उसमें धार्मिक योग्यता तथा प्रभाव-सम्पन्नता अन्तर्भावित होती है। प्रवचन के उपहास से बचना तथा निर्जरा के लिये उद्यत रहना धार्मिक सजगता का ज्वलन्त उदाहरण है। आहार-ग्रहण के लिये अभिग्रहपूर्वक निवेदन करना भी जैन श्रमण सघ के साथ एकनिष्ठता का द्योतक है।

चन्द्रगुप्त का जैनत्व :

आचार्य हेमचन्द्र के अभिमतानुसार चन्द्रगुप्त को जैन बनाने में चाणक्य का महान् योगदान था। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का केवल राजनैतिक मार्गदर्शन ही नही किया, अपितु धार्मिक मार्गदर्शन करके भी उसे पाखण्ड से बचाया था। चन्द्रगुप्त सहसा धर्म परिवर्तन करना नही चाहता था। चाणक्य ने अश्रेष्ठ तथा श्रेष्ठ धर्म के प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत किये। चन्द्रगुप्त को जब दृढ प्रत्यय हो गया, पूर्व धर्म का परिहार कर उसने जैन धर्म को स्वीकार किया।[4]

एक अवलोकन :

आवश्यक चूर्णि, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, उपदेशपद, वृहत्कथा कोष भत्तपरिण्णा, मरण विधि, संथारग पइण्णा तथा परिशिष्ट पर्व आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थो द्वारा एक स्वर से चाणक्य का जैनत्व स्वीकृत है। अनुसन्धाता विद्वानों की सूक्ष्म दृष्टि से उपर्युक्त ग्रन्थों के ये स्पष्ट तथा मुखर अवतरण अब तक कैसे बच पाये, यह महान् आश्चर्य है।

चाणक्य के बारे में अनुचिन्तन करते हुए परिव्राजकता यज्ञोपवीत, कमण्डलु, ब्राह्मणत्व आदि को तो दृष्टिगत रखा गया, किन्तु अन्य जीवन-प्रसङ्गों को नही। यही कारण हो सकता है कि अब तक का अनुसन्धान और उससे फलित निष्कर्ष एकागी ही रहे। किसी भी व्यक्ति के बारे मे चिन्तन करते समय यदि समग्र पहलुओ का विश्लेषण किया जाता है तो ऐतिहासिक सत्य के समीप सुगमता से पहुँचा जा सकता है।

ब्राह्मणत्व, यज्ञोपवीत, परिव्राजकता आदि जैन परम्परा के कभी भी विरोधी नही रहे। कहना चाहिये, ये सभी जैन परम्परा के अङ्ग बनकर रहे है। जैन विचार-धारा जातीयता में विश्वास नही करती। वह मानसिक पवित्रता को प्रधानता देती है, अतः वहाँ क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आदि जातियो का प्रश्न ही व्यर्थ है। विगत में अनेकानेक प्रभावक आचार्य तथा विद्वान् मुनि ब्राह्मण वर्ग से दीक्षित हुए हैं।

मगध में जब से नन्दों का शासन-काल प्रारम्भ होता है, प्रथम नन्द की सूझ-बूझ सम्पन्न एक महामात्य की उपेक्षा हुई। कल्पक पर उसकी दृष्टि केन्द्रित हुई। नन्द ने कल्पक से महामात्य-मुद्रा ग्रहण करने का अत्यन्त आग्रह किया, किन्तु धार्मिकता मे अग्रणी होने के कारण उस प्रस्ताव की सर्वथा अवगणना कर वह अपने निवास पर आ गया। नन्द ने फिर भी अपना प्रयत्न नही छोड़ा। एक विशेष घटना-प्रसङ्ग पर विवश होकर कल्पक को महामात्य मुद्रा स्वीकार करनी पड़ी। कल्पक के धार्मिक अनुबन्ध के बारे में चिन्तन करते आचार्य हरिभद्र[1] तथा आचार्य हेमचन्द्र ने उनका जैनत्व प्रमाणित किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने तो कल्पक का श्रावकत्व उसी तरह का माना है, जैसा कि सहोदर हो[2]। कल्पक के पिता भी जैन

१—अष्टम सर्ग, श्लोक ४११

२—अष्टम सर्ग, श्लोक ४०५

३—अष्टम सर्ग, श्लोक ४५८

४—उत्पन्न प्रत्ययः साधून गुरून् मेनेथ पार्थिवः
पापर्द्धिष्यु विरक्तोभूद्विषयेष्विव योगवित्
—अष्टम सर्ग, श्लोक ४३५

१—उपदेशपद, पृष्ठ ७३ अ० से ७७ अ० के आधार पर

२—सगर्भश्रावकत्वेन सदा सन्तोषधारकः।
न परिग्रह मुपस्तस्य ननोत्यमपि स्यथात्।
—परिशिष्ट पर्व, सप्तम सर्ग, श्लोक २६

श्रावक[1] थे।

नन्द वंश में क्रमशः सात नन्द राजा हुए। कल्पक की वंश-परंपरा में भी अनेक प्रज्ञा-संपन्न व्यक्ति हुए और उन सभी ने महामात्य-मुद्रा ग्रहण की। सप्तम नन्द राजा के समय महामात्य शकडाल हुआ। उसने महामात्य-पद की गरिमा का निर्वहन करते हुए कल्पक से चली आने वाली धार्मिकता का भी सम्यक् अनुगमन किया।[२]

मगध साम्राज्य के महामात्यों की परंपरा में ब्राह्मणत्व तथा श्रावकत्व अनुस्यूत रहा है। चाणक्य ने कल्पक वंश में जन्म न लेने पर भी श्रावकत्व को अक्षुण्ण रखते हुए राज्य व्यवस्थाओं का दूरदर्शिता पूर्ण संचालन किया, उपर्युक्त घटनाये इस तथ्य की विशेष साक्षी हैं।

पौराणिक मान्यता के अनुसार यज्ञोपवीत का प्रचलन प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के युग में प्रथम चक्रवर्ती भरत द्वारा किया गया था।[3] उस समय तथा उसके बाद विशिष्ट श्रावक ही इसका उपयोग करते थे। आज भी बहुत सारे जैन यज्ञोपवीत का प्रयोग करते हैं। यज्ञोपवीत वैदिकत्व का ही प्रतीक नहीं है।

श्रमण और वैदिक, दोनों ही परंपराओं में परिव्राजकता प्रचार तथा कार्य-सुगमता का माध्यम रही है। चाणक्य को राजा नन्द से प्रतिशोध लेना था। वह तभी संभव था, जबकि जन-सहयोग प्राप्त किया जा सके। परिव्राजकता इसमें विशेष हेतुभूत हो सकती थी। जन-सहयोग के आधार पर ही चाणक्य ने राजा पर्वत को भी मित्र बनाया तथा उसे नन्द साम्राज्य के विरुद्ध भडकाया। राजा पर्वत ने चाणक्य का साथ दिया। चाणक्य अपने उद्देश्य में सफल हुआ। राज्य-प्राप्ति के बाद भी उसके सुचारू वहन के लिये जन-भावना का अङ्कन आवश्यक था। उसके अभाव मे जन-विद्रोह की भी आशङ्का थी। चाणक्य कूटनीति के माध्यम से हर पहलू के सुदूर तक पहुँचता था। उसने एक ओर महामात्य-पद के गुरुतर दायित्व का निर्वहन किया तो दूसरी ओर जन-भावना को जानने के लिये परिव्राजकता के क्रम को भी चालू रखा।

चाणक्य महामात्य होते हुए भी परम सन्तोषी वृत्ति में था। आवश्यक चूर्णिकार आचार्य हेमचन्द्र तथा आचार्य हरिभद्र ने श्रावक के विशिष्ट लक्षणों से चाणक्य को उपलक्षित करते हुए इसी सन्तोष वृत्ति का उल्लेख किया है और यह वृत्ति जीवन-पर्यन्त तद्रूप ही रही। मुद्राराक्षस नाटक में महामात्य-पद पर आसीन चाणक्य की उसी सन्तोष वृत्ति का गौरव के साथ समुल्लेख करते हुए लिखा गया है:—

> **उपल सकल मेतद् भेदकं गोमयानां**
> **वटुभिरुपहृतानां बर्हिणां स्तोम एष**
> **शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभि राभि**
> **विनमित पटलान्तं दृश्यते जीर्णं कुड्यम्।**

"कण्डे तोड़ने के लिये एक छोटा सा पत्थर, विद्यार्थियों द्वारा उपहृत दूर्वा-समूह तथा एकत्रित ईन्धन राशि ही सब कुछ है। झुके हुए छज्जे व टूटी-फूटी दीवार की कुटिया है।"

चाणक्य के जैनत्व के विरुद्ध एक तर्क यह भी दिया जाता है कि उसने जिस अर्थशास्त्र का प्रतिपादन किया है, उसमें वर्णाश्रम व्यवस्था पर विशेष बल दिया गया है। इस सन्दर्भ में भी कुछ तथ्य विमर्षणीय हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था सामाजिक स्वस्थता को वृद्धिगत करने की सामयिक पद्धति थी। युगानुरूप उसमें परिवर्तन तथा परिवर्धन होता रहा है। चाणक्य ने अपने समय में इस व्यवस्था को उपयोगी समझा था। अन्य भी समाज व्यवस्थापकों ने समय समय पर इसका अवलम्बन लिया था। जैन परंपरानुसार इस व्यवस्था का आरंभ भगवान् ऋषभदेव के युग में हो चुका था। आवश्यकतानुसार उसमे उद्वर्तन तथा अपवर्तन होता रहा है।

एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि चाणक्य शिखाधारी था। शिखा का प्रचलन जैन समाज में नहीं है, अतः इस परंपरा से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वर्तमान मे यह किसी उपेक्षा से सङ्गत कहा जा सकता है। किन्तु, इसके लिये प्राचीन परंपराओ का अनुशीलन भी आवश्यक होगा। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव प्रव्रजित होने के लिये जब

१—वही, श्लोक १३, १४ तथा १८
२—विस्तार के लिए देखें, परिशिष्ट पर्व, अष्टम सर्ग
३—विस्तार के लिये देखें 'भरत-मुक्ति' पुस्तक में लेखक द्वारा लिखित 'भरत मुक्तिः एक अध्ययन' पृ० ६५, ६६

लुंचन कर रहे थे, इन्द्र के अनुनय पर उन्होंने शिखा का लुंचन नहीं किया। जीवन पर्यन्त उनके मस्तक पर वह शिखा ज्यों की त्यों रही। बहुत सारी प्राचीन मूर्तियाँ इस तथ्य की स्पष्ट साक्षी हैं।

चाणक्य कूटनीतिक क्षेत्र में विश्रुत है। कूटनीति के साथ छल प्रपंच, विश्वासघात आदि अनुस्यूत रहते हैं। कुछ विद्वान् इसलिये भी चाणक्य को जैन मानने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं कि अहिंसा-व्रत का धारक जैन उपासक कूटनीति का खुल कर प्रयोग कैसे कर सकता है? जो करता है, वह जैन कैसे हो सकता है? इसका दूसरा पक्ष यह भी हो सकता है कि क्या वैदिक धर्म में कूटनीतिक दाव-पेंच सम्मत है? संभवतः कोई भी ऐसा धर्म नहीं है, जो छल-छद्म को मान्यता दे। फिर भी विगत में हुए बड़े-बड़े राजा, सेनापति, महामात्य आदि जैन, बौद्ध, वैदिक आदि किसी न किसी धर्म से अवश्य सम्बद्ध रहे हैं। उन्होंने बड़े से बड़े युद्ध लड़े हैं तथा आक्रमण-प्रत्याक्रमण भी किये हैं। फिर भी उनकी धार्मिकता की ओर कोई अंगुली नहीं उठी। उस अवस्था में चाणक्य की कूटनीति उसके जैनत्व में कैसे बाधक हो सकती है? जैन उपासक समाज तथा राष्ट्र से जब सेवा लेते हैं तो वे सेवा के प्रत्यर्पण में कभी पीछे रहने वाले नहीं होते। वे उसे अपना सामाजिक तथा राष्ट्रीय कर्त्तव्य मानकर उस क्षेत्र में भी अग्रणी रहते हैं। चाणक्य भी इसी परंपरा का सबल वाहक था।

इतिहास में जैन परंपरा की जब कोई नई कड़ी जुड़ती है, कुछ विद्वान् उसे तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किये गये प्रमाणों का करार देकर आँखमिचौनी करने का अनावश्यक उपक्रम करते हैं। वे अपने चिन्तनकार को अनुद्घाटित रखना ही उपयुक्त समझते हैं। पर इतिहास तो सदैव नई करवट लेता रहता है। हर विद्वान् अपनी तटस्थ शोध के आधार पर पूर्व अधीत में कुछ नया जोड़ता है। सर्वत्र ग्रन्थों की बहुलता है। उनमें संगुप्त इतिहास की परतों को जब भेदा जाता है, नये ही तथ्य हस्तगत होते हैं। यह क्रिया जैन-अजैन किसी भी विद्वान् द्वारा की जा सकती है। फिर भी उसमें से सम्प्राप्त कुछ तथ्य तो अपनाये जायें तथा कुछ झुठलाये जाये, यह कैसे संगत हो सकता है। सांप्रदायिक अभिनिवेश का बहिष्कार सर्वत्र होना चाहिए, पर किसी भी ऐतिह्य सत्य पर सांप्रदायिकता का मुखौटा नहीं लगाना चाहिए।

जैन ग्रन्थ अब तक भाण्डागारों में दबे रहे अतः ऐतिहासिक दृष्टि से उनका अनुशीलन बहुत कम हो पाया। युग की माँग के साथ वे बाहर आ रहे हैं, अतः नये तथ्य उजागर हो रहे हैं। कहना चाहिए, ऐतिह्य तथ्य कुछ स्पष्टता तथा ठोस आधार लेकर आ रहे हैं। आवश्यकता है, विद्वान् इस वास्तविकता को समझें और अपेक्षित हो तो इतिहास को नया परिधान भी दें। चाणक्य से सम्बद्ध जैन ग्रन्थों के कुछ प्रमाण समीक्षणीय दृष्टिकोण से मैंने प्रस्तुत किये हैं। आशा है, विद्वान् इनके बलाबल को परखने में मेरे सहभागी बनेंगे।

दीवान हाफिज का पद्यानुवाद गुमानीराम भांवसा का नहीं है

—श्री अगरचन्द नाहटा

'अनेकान्त' के मई जून १९७३ के अङ्क मे डॉ० गजानन्द मिश्र का लेख—'राजस्थान के जैन कवि और उनकी रचनाएँ' नामक प्रकाशित हुआ है। इसमें सर्वप्रथम गुमानीराम भावसा का परिचय देते हुए उनका जन्म १८१८ के आस-पास बतलाया है, जो कि पं० टोडरमल जी के जन्म संवत् एव आयु सम्बन्धी पुरानी मान्यता पर आधारित लगता है। अभी डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल का शोध प्रबन्ध—'प० टोडरमल व्यक्तित्व और कृतित्व' नामक प्रकाशित हुआ है, उसके अनुसार वह ठीक नहीं लगता। नई खोज के अनुसार पं० टोडरमल जी का जन्म सं० १७७६–७७ और मृत्यु १८२३ अर्थात् ४७ वर्ष की आयु थी। अतः गुमानीराम का जन्म स० १८०० के आस-पास होना संभव है।

डॉ० गजानंद मिश्र ने गुमानीराम की रचनाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि "ये फारसी भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने महाराजा सिंह की आज्ञा से कार्तिक सु० ५ स० १८४६ में दीवान हाफिज का पद्यानुवाद किया था। इनके नाम से सत्ता स्वरूप नामक रचना तथा अनेक पद्य भी मिलते (मिलते) है।" पर वास्तव में दीवान हाफिज का अनुवाद टोडरमल के पुत्र गुमानीराम भांवसा रचित नहीं है, वह तो गुमानीराम कायस्थ का किया हुआ है, जिन्होंने आईने-अकबरी का भी अनुवाद किया था। राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार नामक ग्रन्थ सम्वत् २००१ में जयपुर से प्रकाशित हुआ था, उसके पृष्ठ १६१ में महाराजा प्रतापसिंह के आश्रित और दरबार के लेखकों का विवरण देते हुए लिखा है कि "इन्हीं काव्य-मर्मज्ञ तथा गुणग्राही नरेश के राज्यकाल में गुमानीराम कायस्थ द्वारा अबुल-फजल कृत आईने अकबरी का जयपुरी भाषा मे अनुवाद किया। दीवान हाफिज का भी ब्रज पद्यानुवाद हुआ। इनमें से आईने अकबरी की प्रति तो बीकानेर के राजकीय अनूप सस्कृत लायब्रेरी में मैंने स्वय देखी है। इस ग्रन्थालय के राजस्थानी विभाग की प्रकाशित सूची में प्रति नं० १७६ के विवरण में इस ग्रन्थ का 'कायस्थ गुमानीराम लिखित। स० १८५२ में लिखित।' होने का छपा है। सूची में रचयिता का नाम मुशीलाल हीरालाल लिख दिया है, पर वास्तव में हीरालाल के कहने पर गुमानीराम कायस्थ ने ही इसे लिखा था। दीवान हाफिज के पद्यानुवाद की भी मैंने अपने ग्रन्थालय के लिये नकल करवायी थी, पर अभी वह इधर-उधर रखी होने से मिल नहीं रही है। अतः विशेष विवरण नहीं दे सका।

डॉ० गजानंद मिश्र ने सत्ता स्वरूप भी इनकी रचना होने का उल्लेख किया है, वह भी गुमानीराम की रचना नहीं है। भागचन्द छाजेड़ के नाम से यह रचना हिन्दी में तथा इसका गुजराती अनुवाद सोनगढ में छप चुका है। राजस्थान दि० शास्त्र भण्डारों की सूची में 'सत्ता स्वरूप' की कई प्रतियों का विवरण है, पर वहाँ इसके कर्ता का नाम नहीं दिया गया है। गुमानीराम के 'पद' अवश्य मिलते है। राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की सूची भाग—५ पृष्ठ ७३० में गुमानीकृत 'दर्शन पच्चीसी' पत्र ११ का विवरण छपा है, पर उसके रचयिता गुमानीराम भांवसा ही थे या अन्य, यह निश्चित कहना बाकी है।

डॉ० मिश्र ने टेकचन्द का परिचय नहीं दिया पर उसके सम्बन्ध में तो मेरे कई लेख एवं ग्रन्थों के लेख भी प्रकाशित हो चुके हैं।

डॉ० मिश्र ने रत्नचन्द्र की रचनाओं का सग्रह रत्नचन्द्र मुक्तावली मे प्रकाशित होने का लिखा है। सो इस ग्रन्थ के मिलने का पता मुझे सूचित करने का कष्ट उठावे।

कलचुरि काल में जैन धर्म की स्थिति

—प्रो० शिवकुमार नामदेव डिंडोरी (मडला)

राजनैतिक दृष्टिकोण से प्राचीन इतिहास में कलचुरि नरेश का महत्वपूर्ण योगदान है। ६ वी शताब्दी से लेकर १५ वीं शताब्दी तक इन नरेशों ने भारत के उ० अथवा द० किसी न किसी भूभाग पर शासन किया।

कलचुरि नरेश धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु थे अतः अन्य धर्मों के साथ २ जैन धर्म भी उस काल में पल्लवित हुआ। कलचुरि काल में जैन धर्म, बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक समृद्ध था। स्व० पूज्य ब्र० शीतलप्रसाद जी ने 'कलचुरि' नाम का अन्वयार्थ उनके जैनत्व का द्योतक बताया था। उनका कथन था कि कलचुरि नरेश जैन मुनिव्रत धारण करते और कर्मों को नष्ट करके शरीर बंधनो से मुक्त होते थे। इसलिये वे कलचुरि कहलाते थे। 'कल' का अर्थ शरीर है जिसे वे चूर मूर (चूरी) कर देते थे। निःसंदेह कलचुरि वंश जैन धर्म का पोषक था। उसके आदि पुरुष सहस्त्ररश्मि कार्तवीर्य ने मुनि होकर कर्मो के नष्ट करने का उद्योग ही किया था।[1]

कलचुरि नरेश प्रारभ मे जैन धर्म के पोषक थे। ५ वी ६ वी शताब्दी के अनेक पल्लव एवं पाण्डय लेखों में वर्णित है कि 'कलभ्र' लोगों ने तामिल देश पर आक्रमण कर चोल चेर एवं पाण्डवो को परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया था। प्रो० रामस्वामी आयंगर[2] ने बेल्वि कुडी के ताम्रपत्र तथा तामिल भाषा के पेरियपुराणम् से यह सिद्ध किया है कि ये 'कलभ्र' प्रतापी राजा जैन धर्म के पक्के अनुयायी थे। इनके तामिल देश में पहुँचने से जैन धर्म की वहाँ बहुत उन्नति हुई। श्री आयगर का अनुमान है कि ये 'कलभ्र' कलचुरि वंश की ही शाखा के होंगे। मध्यप्रदेश के कलचुरि नरेश जैन धर्म के पोषक थे। इसका एक प्रमाण यह भी है कि उनका राष्ट्रकूटों से घनिष्ठ सम्बन्ध था जो जैन धर्मावलम्बी थे।

त्रिपुरी के कलचुरि नरेश एवं जैन धर्म :

त्रिपुरी के कलचुरि नरेशो के काल में जैन धर्म का भी प्रसार हुआ था। बहुरीबंद[3] (जबलपुर) से एक विशाल जैन तीर्थकर भगवान् शातिनाथ की अभिलेख युक्त मूर्ति प्राप्त हुई है। जिससे ज्ञात होता है कि साधु सर्वहार के पुत्र महाभोज ने शांतिनाथ मन्दिर का निर्माण करवाया था तथा उस पर सूत्रधार ने श्वेत छत्र का निर्माण कराया था।

इसके अतिरिक्त त्रिपुरी से प्राप्त ऋषभनाथ[4] की प्रतिमा जबलपुर के हनुमानताल जैन मदिर की ऋषभनाथ[5]

१—संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खण्ड ४ (दक्षिण भारत का मध्यकालीन अंतिम पाद का इतिहास) कामताप्रसाद जैन पृष्ठ ६।

२—स्टेडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म पृ० ५३–५६।

३—का० इ० इ० ४ १ क्रमांक ५६ फलक ४८ पृष्ठ ३१०, सी० ए० एस० आई० आर० ग्रन्थ ६ पृष्ठ ४०, पी० आर० ए० एस० आई० डब्ल्यू० आई० १६०३–१६०४ पृष्ठ ५४-५५, एच० टी० एम० पृष्ठ १०७, खण्डहरों का वैभव पृष्ठ १७३।

४—एच. टी. एम. पृष्ठ २०६।

५—वही पृष्ठ १६६।

मूर्ति, पनागर[8] एव सोहागपुर से प्राप्त अंबिका की प्रतिमाओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण जबलपुर, दमोह, सागर, रीवा आदि जिलो मे इन मूर्तियों के बाहुल्य से जैन धर्म का व्यापक प्रभाव सिद्ध होता है।

आचार्य मिराशी का अनुमान है कि सोहागपुर मे जैन मंदिर थे। सोहागपुर के ठाकुर के महल मे अनेक जैन मूर्तियां सरक्षित हैं। इनमे से एक पार्श्वनाथ एव दूसरी सुपार्श्वनाथ से सम्बन्धित है।

दक्षिण कौशल के कलचुरि नरेश एवं जैन धर्म

दक्षिण कौशल के कलचुरियो के काल के अभिलेखो मे जैन धर्म का उल्लेख प्राप्त नही होता है। परन्तु उस क्षेत्र मे अनेकों जैन प्रतिमाये, रतनपुर, धनपुर तथा मल्लार एव आरङ्ग आदि स्थलो से प्राप्त हुई है जिनके आधार पर इस क्षेत्र मे जैन धर्म के प्रसार एव अस्तित्व का बोध होता है।

कल्याण के कलचुरि नरेश एव जैन धर्म

कल्याण के कलचुरि नरेशों के काल मे भी जैन धर्म का अस्तित्व प्रमाणित होता है। इस वंश के प्रमुख नरेश बिजल एव उनके राज्य कर्मचारी जैन धर्म के पोषक थे। सन् १२०० ई० में कलचुरि राज्यमंत्री रेचम्पय ने श्रवण बेलगोला मे शातिनाथ भगवान् की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। बिजल के काल में जैन धर्म का अस्तित्व घट गया एवं लिङ्गायत सम्प्रदाय का प्राबल्य हुआ। 'बासव पुराण' एवं 'विजलवीर चरित' में जैन एवं शैव धर्मावलम्बी लोगो के मध्य हुए सघर्ष का वर्णन है।

शैवो ने धर्मप्रचार हेतु हठयोग का सहारा लिया। वे चमत्कारिक कृत्यो द्वारा जनता को मुग्ध करने लगे। उनमें एकात रामय्य प्रमुख था। उस समय अब्लूर जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। रामय्य ने जैनियों द्वारा बिजल से शिकायत की गई। विज्जल ने रामय्य को समझा कर एव उसके सोमनाथ के मन्दिर को कुछ भेट देकर बिदा किया। इस मन्दिर में जैनों पर अत्याचार के चित्र भी उत्कीर्ण हैं।[9] किन्तु जैन धर्म इन अत्याचारो को सहन कर जीवित रहा, यह उसके अहिंसा सिद्धात की विशेषता थी।

विज्जलदेव के शासन काल मे जैन धर्म उन्नत अवस्था मे रहा। सम्राट् स्वय धर्म की प्रभावना के लिये अग्रसर रहते थे। उन्होंने स्वयं कई जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था।[9] उनका अनुकरण उनके सामतों और प्रजा ने भी किया। वि० सं० १०८३ ई० में माणिक्य भट्टारक के निमित्त से कन्नडिगे मे एक जिन मन्दिर बना था। सवत् १०८४ में कीर्ति सेहने पोन्नवति वेलहुगे और वेण्णेयूर में श्री पार्श्वनाथ के मन्दिर बनवाये[10] थे। कलचुरियों के शिलालेखो में जिन भगवान् की मूर्ति यक्ष, यक्षणियो सहित अङ्कित रहती थी।[11]

लिङ्गायतो के बसवपुराण में लिखा है कि विज्जल के प्रधान बलदेव जैन धर्मानुयायी थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके भांजे बसव की प्रसिद्ध एव सद्गुणो से प्रभावित हो विज्जल ने उसे अपना सेनापति एवं कोषाध्यक्ष नियुक्त किया। बसव ने अवसर का लाभ उठाकर अपने धर्मप्रचार हेतु राजकोष का खूब धन खर्च किया। इस प्रकार विज्जल ने हल्लेइज एव मधुवेय्य नामक दो जङ्गमो की आंख निकलवा ली। यह सुन बसव कल्याणी से भाग गया परन्तु उसके द्वारा भेजे गये जगदेव नामक व्यक्ति ने विज्जल का अन्त कर दिया।

यद्यपि कलचुरियो का राज्य कल्याणी में अल्पकालीन था परन्तु धार्मिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण था। उनके काल मे ही कर्णाटक मे लिङ्गायत सप्रदाय का प्रचार हुआ। जैनियो को इनके द्वारा बहुत त्रास सहन करना पड़ा परन्तु उस धर्म पर जैन धर्म का भी अत्यधिक प्रभाव पड़े बिना न रहा।

●

६–खण्डहरों का वैभव पृष्ठ १७४।

७–एच. टी. एम. पृष्ठ १००।

८–मीडिइवल जैनिज्म–श्री भास्कर आनंद पृष्ठ २८१, जैनिज्म एंड कर्नाटक कल्चर–शर्मा १९४० पृष्ठ ३५ एवं आगे, कामताप्रसाद जैन द्वारा सक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खण्ड ४ के पृष्ठ ११५ पर उद्धृत।

९–वही पृष्ठ १६।

१०–जैन ऐन्टीक्वेरी ६ पृष्ठ ६७–६८

११–का० इ० इ. ४१– क्रमाङ्क ४२ पद्य ३३।

प्राचीन जैन श्रावक

—डॉ॰ झिनकू यादव

—***—

प्राचीन जैन परंपरा में व्रतधारी गृहस्थ को श्रावक, उपासक अथवा अणुव्रती कहा जाता था। वे श्रद्धा एवं भक्ति के साथ अपने श्रमण गुरुजनों से निर्ग्रंथ प्रवचन का श्रवण करते थे।[1] अतः उन्हें श्राद्ध या श्रावक कहा जाता था। अर्थात् श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों अथवा श्रमणों से निर्ग्रंथ प्रवचन का श्रवण करने के कारण व्रतधारी जैन गृहस्थ को श्राद्ध अथवा श्रावक कहते थे। उन्हें श्रमणोपाशक भी कहा गया है, क्योंकि वे श्रमणों की उपासना करते थे। उन्हें अणुव्रती, देश विरत, देश संयमी तथा देश संयति की भी संज्ञा दी गई है। घर-गृहस्थी का त्याग न कर घर पर ही रहने के कारण उन्हें सागार आगारी गृहस्थ तथा गृही आदि नामों से भी जाना जाता था। श्रमण श्रमणी के आचार अनुष्ठान की ही भाँति श्रावक-श्राविका के आचार अनुष्ठान की भी अनिवार्य अपेक्षा होती थी। श्रावक धर्म की भित्ति जितनी सदाचार पर प्रतिष्ठित होती है, श्रमण धर्म की नींव उतनी ही अधिक दृढ़ मानी जाती है।[3]

श्रावकाचार :

श्रावक कुल में उत्पन्न होने से जिन धर्म प्राप्ति में विश्वास किया जाता था। गृहस्थाश्रम में रहते हुए श्रावक के लिये अणु (छोटे) व्रतों के पालन का विधान था।[4] जैन परंपरा में ये अणुव्रत पाँच प्रकार के माने गये हैं, यथा—स्थूल प्राणातिपात विरमण, स्थूल मृषावाद विरमण, स्थूल अदत्ता दान विरमण, स्वदार सन्तोष तथा इच्छा परिमाण व्रत।[5] श्रावकों के आचार का प्रतिपादन सूत्र कृताङ्ग[6] और उपासक दशांग[7] आदि आगम ग्रन्थों में बारह व्रतों के आधार पर किया गया है। इन बारह व्रतों में क्रमशः पाँच अणुव्रत और शेष सात शिक्षा व्रत हैं। यहाँ तीन गुण व्रतों और चार शिक्षा व्रतों का ही सामूहिक नाम शिक्षा व्रत है।

समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि श्रावक अतिचारों से दूर रहता हुआ कुछ उत्तर गुण व्रतों को स्वीकार करता है। ये हैं—ऊर्ध्वादिगुणव्रत, अधोदिग्गुण व्रत, तिर्यक् आदि गुण व्रत, भोगोपभोग परिमाण लक्षण गुणव्रत (उपभोग और उपभोग का कारण स्वर और कर्म का त्याग), बुरे ध्यान से आचरित विरति गुण व्रत पापकर्मोपदेश लक्षण विरति गुण व्रत, अनर्थ दण्ड विरति गुण व्रत तथा सावद्ययोग का परिवर्जन और निरवद्ययोग का प्रतिसेवन रूप सामायिक शिक्षा व्रत और दिक् व्रत से ग्रहण किया हुआ दिशा के परिमाण का प्रतिदिन प्रमाणीकरण, देशावकाशिक शिक्षा व्रत, शरीर के सत्कार से रहित ब्रह्म-

---

१—समराइच्च कहा ३ पृष्ठ २२८; ५, पृष्ठ ४७३।

२—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ २३०।

३—समराइच्च कहा ७, पृष्ठ ६, १८।

४—वही ३, पृष्ठ २२८; ५, पृष्ठ ४७३, ४८०; ८, पृष्ठ ८१२ १३; ९ पृष्ठ ९५३।

५—कैलाशचन्द्र शास्त्री—जैन धर्म पृष्ठ १८४ १८५, हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृष्ठ २५५-६०; मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृष्ठ ८६—१०४

६—सूत्र कृताङ्ग, २/२३/३—"सीलव्वय गुणविरमण पच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावे माणे एव चरणा विहरन्ह"

७—उपासक दशांग, अध्याय १, सूक्त १२, ५८—"पंचाणुव्वतियं सत्त सक्खावईयं दुवालसविहं गिहिधम्मं......"।

चर्य व्रत का सेवन, व्यापार रहित पोषध शिक्षा व्रत का सेवन तथा न्यायपूवक अर्जित एवं कल्पनीय अन्न-पान आदि द्रव्यो का देश, काल, श्रद्धा, सत्कार आदि से युक्त तथा परम भक्ति से आत्म शुद्धि के लिये साधुओं को दान और अतिथि विभाग शिक्षा व्रत आदि सभी उत्तर गुण के रूप मे स्वीकार किये गये हैं।[८]

उपासक दशांग में श्रावकों को पाँच अणुव्रत और सात शिक्षा व्रतों का नाम गिनाया गया है।[९] यहाँ तीन गुण व्रतो और चार शिक्षा व्रतो को ही सामूहिक रूप से शिक्षा व्रत कहा गया है।

समराइच्च कहा मे श्रावकाचार के अन्तर्गत पाँच अणु व्रतों के साथ २ तीन गुण व्रतों का भी उल्लेख है।[१०] इन्हे गुण व्रत इसलिये कहा गया है कि इनसे अणुव्रत रूप मूल गुणो की रक्षा तथा उसका विकास होता है। धार्मिक क्रियाओं में ही दिन व्यतीत करना पौषधोपवास व्रत कहलाता है। इसे गृहस्थ को यथाशक्ति प्रत्येक पक्ष की अष्टमी एव चतुर्दशी को करना चाहिए जिससे उसे भूख, प्यास आदि पर विजय प्राप्त हो। चौथे अपने गृह पर आये हुए मुनि आदि को दान देना अतिथि संविभाग व्रत है।

श्रावक-अतिचार :

समराइच्च कहा मे गृहस्थ श्रावकों के लिये कुछ अतिचारों का नाम गिनाया गया है जिनका पालन करना उनके लिये आवश्यक था। सासारिक भ्रमण अथवा सासारिक दुखों के कारणभूत अतिचार इस प्रकार हैं—बन्ध, वध, किसी अङ्ग का काटना, जानवरों पर अधिक बोझ लादना, किसी को भोजन-पानी मे बाधा डालना, सभा मे किसी की निन्दा करना या किसी की गुप्त बात को प्रकट करना, अपनी पत्नी की बात दूसरों से कहना, किसी को झूठा उपदेश देना, जाली लेख लिखना अथवा चोरी से लायी हुई वस्तु खरीदना या चोरों से किसी का धन चुरवा लेना, राज्य के कानूनों को भङ्ग करना, नकली तराजू-बाट रखना, न्यूनाधिक तौलना या इस प्रकार के अन्य व्यवहार करना व्यभिचारिणी स्त्री से सम्पर्क स्थापित करना या अविवाहिता स्त्री से संसर्ग करना, काम क्रीड़ा, दूसरे का विवाह करना, काम की तीव्राभिलाषा क्षेत्र व वस्तु की सीमा का उल्लघन, द्विपद या चतुष्पद के प्रमाण का उल्लंघन, मणि-मुक्ता आदि के प्रमाणों का उल्लंघन या इस प्रकार के अन्य कार्य एवं पदार्थ जो ससार भ्रमण के निमित्त हैं।[११] श्रावक के पाँच अणु व्रत, तीन गुण व्रत तथा चार शिक्षा व्रत इन सभी के पाँच-पाँच अतिचार हैं[१२] जिनका विवरण निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त होता है।

स्थूल अहिंसा अथवा *स्थूल* प्राणातिपात विरमण के पाँच-पाँच प्रमुख अतिचार है—बध, बध, छविच्छेद (किसी भी प्राणी को अङ्गोपांग काटना, अतिभार तथा अन्न-पान विरोध; स्थूल मृषावाद विरमण के अन्तर्गत—सहसा अभ्याख्यान, रहस्य अभ्याख्यान, स्वदार और स्वपति मंत्र-भेद, मृषा उपदेश और कूट लेखकरण (झूठा लेख तथा लेखा-जोखा लिखना, लिखवाना आदि); स्थूल अदत्तादान के अन्तर्गत—स्तेनाहृत (चोरी का माल लेना), तस्कर प्रयोग, राज्यादि विरुद्ध कर्म, कूट तौल-माप तथा तत्प्रतिरूपक व्यवहार (वस्तुओं में मिलावट करना), स्वदार संतोष के अन्तर्गत—इत्वरिक परिगृहीता गमन (यहाँ इत्वर का अर्थ अल्प काल से लगाया गया है अर्थात् अल्प काल के लिये स्वीकार की हुई स्त्री के साथ काम-भोग का सेवन करना), अपरिगृहितागमन (अपने लिये अस्वीकृत स्त्री के साथ काम-भोग का सेवन), अनङ्ग क्रीड़ा, पर विवाह करण तथा काम भोग तीव्राभिलाषा; इच्छा परिमाण के अन्तर्गत—क्षेत्र वस्तु परिमाण अतिक्रमण, हिरण्य सुवर्ण परिमाण अतिक्रमण, धन धान्य परिमाण अतिक्रमण, द्विपद-चतुष्पद परिमाण अतिक्रमण तथा कुप्य परिमाण अतिक्रमण आदि अतिचार गिनाये गये हैं। इसी प्रकार गुण व्रतों मे दिशा परिमाण के अतिचार—ऊर्ध्व दिशा परिमाण अतिक्रमण अधोदिशा परिमाण अतिक्रमण, तिर्यक दिशा परिमाण अतिक्रमण, क्षेत्र वृद्धि, स्मृत्यन्तर्धा

८—समराइच्च कहा १ पृष्ठ ६२।

९—उपासक दशांग, अध्याय १, सूत्र १२ ५८।

१०—समराइच्च कहा, पृष्ठ ५७; देखिए—हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृष्ठ २६१-६२; मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृष्ठ १०४-५।

११—समराइच्च कहा, १, पृष्ठ ६१-६२।

१२—मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृष्ठ ८६ से १२४।

(विस्मृति के कारण खुद गया हो अथवा कोई वस्तु प्राप्त हुई हो तो उसका भी परित्याग करना); उपभोग परिभोग परिमाण के अन्तर्गत—सचित्ताहार, सचित्तप्रतिबद्धाहार अपक्वाहार, दुष्पक्वाहार तथा तुच्छौरुचि भक्षण; अनर्थ दण्ड विरमण के अन्तर्गत—कन्दर्प (विकार वर्धक वचन बोलना या सुनना), कौत्कुच्य (विकार वर्धक चेष्टा करना या देखना), मौखर्य (असम्बद्ध एव अनावश्यक वचन बोलना), सयुक्ताधिकरण (जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा की संभावना बढ़ जाती है) और उपभोगपरिभोगातिरिक्त (आवश्यकता से अधिक उपभोग एव परिभोग की सामग्री का सग्रह) आदि अतिचार गिनाये गये हैं। शिक्षा व्रत के अन्तगत गिनाये गये अतिचारों मे सामयिक शिक्षा व्रत के मनोदुष्प्रणिधान, वागदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, स्मृत्यकरण, अनवस्थित करण (समय पूरा हुए बिना ही सामयिक पूरी कर लेना), देशावकाशिक के अन्तर्गत आनयन प्रयोग (मर्यादित क्षेत्र के बाहर की वस्तु लाना या मँगवाना), प्रेषण प्रयोग (मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु भेजना तथा ले आना आदि), शब्दानुपात (किसी को निर्धारित क्षेत्र से बाहर खड़ा देखकर शब्द सकेतो से बुलाने की चेष्टा करना), रूपानुपात (सीमित क्षेत्र के बाहर के लोगो को हाथ, मुँह, सिर आदि का सकेत कर बुलाना) और पुद्गल प्रक्षेप (मर्यादित क्षेत्र से बाहर के व्यक्ति को अपना अभिप्राय जताने के लिये कागज, ककड़ आदि फेंक कर इङ्गित करना); पौषधोपवास के अन्तर्गत अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्या-सस्तारक (मकान और बिछौना का निरीक्षण ठीक ढङ्ग से न करना) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्या सस्तारक (बिना झाडे पोछे बिस्तर काम मे लाना), अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित, उच्चार प्रस्रवण भूमि (मल-मूत्र की भूमि का बिना देखे उपयोग करना) और पौषधोपवास सम्यक् अनुपालनता (आत्म पोषक तत्वो का भली भॉति सेवन न करना) अतिथिसंविभाग के अन्तर्गत—सचित्तनिक्षेप (कपट पूर्वक साधु को देने योग्य आहार आदि को सचेतन वनस्पति आदि पर रखना), सचित्तपिधान (आहार आदि को सचित्त वस्तु से ढकना), कालातिक्रम, परव्यपदेश (न देने की भावना से अपनी वस्तु को पराई कहना अथवा पराई वस्तु देकर अपनी बचा लेना आदि) और मात्सर्य (श्रद्धापूर्वक दान न देते हुए दूसरे के दान गुण की ईर्ष्या से दान देना) आदि अतिचार गिनाये गये है जिसका पालन करना श्रावको के लिये अति आवश्यक बताया गया है।

ऊपर समराइच्च कहा मे उल्लिखित अतिचारों को जैनाचार के अनुसार पाँचो अणुव्रतो के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है। बन्ध, वध, किसी अङ्ग का काटना, जानवरों पर अधिक बोझ लादना तथा किसी को भोजन पानी में बाधा पहुँचाना आदि अतिचार स्थूल अहिंसा अथवा स्थूल प्राणातिपात विरमण के अन्तर्गत गिनाये गये है। इसी प्रकार सभा मे किसी की निन्दा करना, किसी की गुप्त बात को प्रकट करना, अपनी पत्नी की बात को दूसरों से कहना किसी को झूठा उपदेश देना तथा जाली लेख लिखना आदि स्थूल मृषावाद के अन्तर्गत, चोरी से लायी हुई वस्तु को खरीदना, चोरों से किसी का धन चुरवा लेना, राज्य के कानून को भङ्ग करना, नकली तराजू-बाट रखना, न्यूनाधिक तौलना या इस प्रकार के अन्य व्यवहार को स्थूल अदत्तादान विरमण के अन्तर्गत, व्यभिचारिणी स्त्री के साथ सम्पर्क स्थापित करना, अविवाहिता स्त्री से ससर्ग काम क्रीडा, दूसरे का विवाह करना तथा काम की तीव्र अभिलाषा आदि स्वदार सतोष के अन्तर्गत; क्षेत्र और वस्तु की सीमा का उल्लघन, द्विपद या चतुष्पद के प्रमाण का उल्लघन और मणि-मुक्ता आदि के प्रमाणो का उल्लङ्घन आदि अतिचार इच्छा परिमाण व्रत के अन्तर्गत माने गये हैं। यहाँ समराइच्च कहा मे केवल पाँचो अणुव्रतो के ही अतिचारो को गिनाया गया है जबकि अन्य प्राचीन जैन ग्रन्थो के आधार पर मोहनलाल मेहता ने जैनाचार मे पाँचो अणुव्रतो के साथ तीन गुण व्रत तथा चार शिक्षाव्रत के भी पाँच-पाँच अतिचार की बात कही है। ये अतिचार जैन श्रावकों को उत्तरोत्तर श्रमणत्व की ओर अग्रसित करने का मार्ग प्रशस्त करते थे। इन्ही मार्गो पर चलकर सर्वजीवोपकारी श्रमणत्व की सिद्धि तथा मोक्ष पद प्राप्त किया जा सकता था क्योंकि श्रावक धर्म श्रमणत्व सिद्धि का प्रथम सोपान माना जाता था।

महायान बौद्धदर्शन में निर्वाण की कल्पना

—धर्मचन्द्र जैन, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र

बौद्धदर्शन मे निर्वाण की कल्पना का अत्यधिक महत्व है। बौद्ध साधक का अन्तिम लक्ष्य भी निर्वाण ही है। महायानी निर्वाण की कल्पना अपने ढङ्ग से ही स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि हीनयानियो के निर्वाण मे केवल क्लेशावरण का क्षय ही होता है किन्तु वे कहते हैं कि क्लेशावरण मिटने के बाद ज्ञेयावरण शेष रहता है। आचार्य वसुबन्धु ने 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' में दो नैरात्म्यो का उल्लेख किया है जो हैं—(१) पुद्गलनैरात्म्य (२) धर्मनैरात्म्य।[1] पुद्गलनैरात्म्य क्लेशावरण का क्षय है। सत्त्व सत्कायदृष्टि के कारण नाना अकुशल कर्मो का उपार्जन करता है। राग द्वेष एव मोह रूप बहुतेरे क्लेशों को करता है तथा दुःखों के भार को उठाता है किन्तु जब सत्त्व वीतराग, वीतद्वेष एवं वीतमोह होता है तब उसके क्लेश प्रहीण हो जाते हैं। क्लेशों का प्रहीण ही पुद्गलनैरात्म्य है।[2] इसे हीनयानी स्थापना माना गया है।

जब सत्त्व संसार के सब पदार्थों में शून्यता का ज्ञान प्राप्त करता है तब उसके सच्चे ज्ञान के ऊपर पड़ा हुआ आवरण स्वयमेव हट जाता है और वह मुक्ति को प्राप्त करता है। उस मुक्ति में उसे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह सर्वज्ञता की प्राप्ति ज्ञेयावरण के हट जाने से ही होती है और ज्ञेयावरण सब ज्ञेय पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्रवृत्ति को रोकता है। अतः जब ज्ञेयावरण दूर हो जाता है तब सब पदार्थों में अप्रतिहत ज्ञान प्राप्त होता है और इसी से ही सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।

महायान के मुख्यतः दो प्रसिद्ध मत हैं—विज्ञानवाद एवं शून्यवाद। इनको योगाचार एवं माध्यमिक मत से भी अभिहित किया जाता है। इन दोनों मतों में निर्वाण पर सविस्तार विचार किया गया है। अब हम पहले योगाचार मत मे निर्वाण की कल्पना पर संक्षेप में विचार करेंगे।

योगाचार मत में निर्वाण :

विज्ञानवाद, जो बौद्ध चिन्तन का एक उत्कर्ष माना जाता है, उसमें जिस प्रकार निर्वाण के स्वरूप, निरूपण एवं स्थापन सम्बन्धी चर्चा की गई है उसे यहाँ कहेंगे। आलय विज्ञान की कल्पना योगाचार मत की एक विशेष देन है। 'आलय विज्ञान' वह तत्त्व है जिसमें जगत् के समस्त धर्मों के बीज निहित रहते हैं, उत्पन्न होते हैं तथा पुनः विलीन हो जाते हैं। प्रकरणों में आता है कि 'आलय विज्ञान' के बिना ससार की प्रवृत्ति या निवृत्ति सम्भव नहीं है।[4] ससार की प्रवृत्ति का अर्थ है अन्यनिकायसभाग शरीर की प्रतिसन्धि का बन्ध और निवृत्ति का अर्थ है

१—दे० विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि—विंशिका कारिका १०।
२-३—दे० डॉ० महेश तिवारी—विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि—पृष्ठ २७

१—न ह्यालयविज्ञानमन्तरेण संसारः प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा युज्यते
—विज्ञप्तिमा० पृष्ठ ८४ (डॉ० महेश तिवारी)

सोपधि शेष और निरुधि शेष निर्वाणधातु।[1] यहाँ आश्रय का अर्थ है सभी धर्मों का बीज आलय विज्ञान। उसकी परावृत्ति का अर्थ है द्विविध दौष्ठुल्य वासनाओं के अभाव से उसकी निवृत्ति होने पर कर्मण्यता और धर्मकाय के ऐक्यभाव के नाम से परिवर्तन होना। वही पुनः आश्रय परावृत्ति है। वह किसके प्रहाण से प्राप्ति होती है? इसको दर्शाया गया है कि दो प्रकार के दोष्ठुल्य की हानि से। दो प्रकार से अभिप्राय है—क्लेशावरण दौष्ठुल्य और ज्ञेयावरण दौष्ठुल्य। आश्रय की अकर्मण्यता को दौष्ठुल्य कहते हैं। वही क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण का बीज है।[2]

आलय विज्ञान की व्यावृत्ति किस अवस्था में तथा कैसी होती है इसकी चर्चा करना उचित है। प्रकरण मे कहा गया है कि इसकी (आलय विज्ञान की) व्यावृत्ति अर्हत्व की अवस्था में होती है।[3] क्षयज्ञान तथा अनुत्पत्ति ज्ञान से अर्हत्व की प्राप्ति होती है। उस अवस्था में आलय विज्ञान स्थित समस्त दौष्ठुल्य का निरवशेष प्रहाण हो जाता है तथा भविष्य में उनकी उत्पत्ति की संभावना नही रह जाती है। यही अर्हत्व अर्थात् निर्वाण की अवस्था है।[4]

लङ्कावतार सूत्र में कहा गया है कि विकल्पमनोविज्ञान की व्यावृत्ति को निर्वाण कहा जाता है।[1] सर्व विज्ञान स्वभाव वासनामय मनोविज्ञान एवं दृष्टियुक्त वासनाओं की परावृत्ति ही निर्वाण कहा जाता है।[2] यह चित्त स्वभावतः प्रभास्वर है, पर आगन्तुक क्लेशों से उपक्लिष्ट होता है। जिस प्रकार मल सहित वस्त्र मल के दूर हो जाने पर शुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्णमल के क्षीण हो जाने पर शुद्ध रूप मे स्थित हो जाता है, उसी प्रकार चित्त समस्त क्लेशो के प्रहीन होने से अपने परम परिशुद्ध प्रकृत प्रभास्वर रूप मे परिणत हो जाता है।[3] यही परम परिशुद्ध विकल्परहित चित्त की अवस्था की प्राप्ति निर्वाण की प्राप्ति है।[4] तथता, शून्यता, धर्मधातु आदि इसी के पर्याय हैं।[5]

निर्वाण दो प्रकार का बतलाया गया है—सोपधिशेष निर्वाण धातु तथा निरुपधिशेष निर्वाण धातु। इनमें सोपधिशेष निर्वाण दृष्ट धर्म वेदनीय है तथा निरुपधिशेष निर्वाण मरणोत्तर प्राप्त होता है। जो क्लेशोपक्लेश चित्त ही के परिणाम शेष से यथाशक्ति वासनावृत्ति का लाभ होने से प्रवृत्त होते हैं, उनके आलयविज्ञान में स्थित जो बीज हैं, वे उनके साथ होने वाले क्लेश प्रतिपक्ष मार्ग से नष्ट हो जाते हैं। बीज के नष्ट होने पर पुनः उस आश्रय से क्लेशों की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः सोपधिशेष निर्वाण की प्राप्ति होती है।[6] इसे ही जीवन्मुक्ति कहा जा सकता है। यह आलयविज्ञान का आश्रय परावृत्तिपूर्वक विमल विज्ञान में रूपान्तरण या परिणति है।

पुनः पूर्वकर्मों द्वारा आक्षिप्त जन्म के नष्ट हो जाने से

१—तत्र संसारप्रवृत्तिः निकायसभागान्तरेषु प्रतिसन्धि बधः। निवृत्तिः सोपधिशेषो निरुपधिशेषश्च निर्वाण धातु।—वही

२—आश्रयोऽत्र सर्वबीजकमालयविज्ञानम्। तस्य परावृत्तिर्या दौष्ठुल्य द्वयवासनाभावेन निवृत्तौ सत्यां कर्मण्यता धर्मकाय द्वयज्ञानभावेन परावृत्तिः। सा पुनराश्रय परावृत्तिः कस्य प्रहाणात् प्राप्यते? अत आह—'द्विधा दौष्ठुल्य हानितः।' द्विधेति, क्लेशावरण दौष्ठुल्यं ज्ञेयावरण दौष्ठुल्यं च। दौष्ठुल्यं आश्रयस्य कर्मण्यता। तत् पुनः क्लेश ज्ञेयावरणयोः बीजम्।'—वही पृष्ठ १००

३—तस्य व्यावृत्तिरर्हत्वे तदाश्रित्य प्रवर्तते।'—त्रिंशि० का० ५

४—'किं पुनरर्हत्वं यद्योगादर्हन्नित्युच्यते? कस्य पुनर्योगादर्हन्नित्युच्यते? क्षयज्ञानानुत्पाद ज्ञान लाभात्। तस्यां ह्यवस्थायामालयविज्ञानाश्रित दौष्ठुल्य निरवशेष प्रहाणादालय विज्ञानं व्यावृत्तं भवति सैव चार्हदवस्था।—विज्ञप्तिमा. पृष्ठ ४४

१—'विकल्पस्य मनोविज्ञानस्य व्यावृत्ति निर्वाणमित्युच्यते।'—लंकाव० पृष्ठ ५१

२—सर्वविज्ञान स्वभाव वासनालय मनोविज्ञान दृष्टि वासना परावृत्ति निर्वाणमित्युच्यते।—वही पृष्ठ ४१

३—वही गाथा ७५३-५६ (अध्याय १०) पृष्ठ १५६-५७

४—विकल्पस्या प्रवृत्तिरनुत्पादो निर्वाणमिति वदामि।
—वही पृष्ठ ८१

५—तथता शून्यताकोटि निर्वाणं धर्मधातुकम्।
कायं मनोमयं चित्रं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥
—वही ३/३१, पृष्ठ ६३

६—दे० विज्ञप्तिमा० पृष्ठ ८७ (डॉ० तिवारी)

तथा उसके उपरान्त अन्य जन्म का प्रतिसन्धान न होने से निरुपधिशेष निर्वाण की प्राप्ति होती है।[1] इसके लाभ से भवचक्र की शृङ्खला सदा के लिये टूट जाती है अर्थात् यह जो कहा गया था कि "कर्म वासनायें दो ग्राहों की वासना से युक्त होकर पूर्व विपाक के क्षीण होने पर अन्य विपाक को उत्पन्न करती "—वह क्रम यहाँ आकर समाप्त हो जाता है।"

पर इस अवस्था की प्राप्ति कैसे होती है ? इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब अद्वैत लक्षण वाली विज्ञप्तिमत्रिता में योगी का चित्त स्थित हो जाता है तो सारी विकल्प वासनाये प्रहीण हो जाती हैं तथा चित्त स्वचित्त धर्मता में स्थित हो जाता है।[2] इस अवस्था में क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण नामक दो दौष्ठुल्य नष्ट हो जाते है तथा इनकी हानि से आश्रय परावृत्ति हो जाती है।[3] यह आश्रय परावृत्ति ही आलय विज्ञान की परम विशुद्ध रूप विमल विज्ञान में परिणति है। इसी को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि—

स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः॥[4]

अर्थात् वही अनास्रव धातु है जो अचिन्त्य, कुशल ध्रुव, सुख स्वरूप तथा (बोधिसत्त्व का) विमुक्तिकाय तथा महामुनि बुद्ध का धर्मकाय है। संसार के परित्याग से, क्लेशों का अभाव हो जाने से, सभी धर्मों में विभुत्व की प्राप्ति होने से धर्मकाय कहलाता है।[5] संक्षेप में यही योगाचारियों की निर्वाण या विमुक्ति की कल्पना है।

माध्यमिक मत में निर्वाण :

आचार्य नागार्जुन ने, जो माध्यमिक सम्प्रदाय के अग्रणी आचार्य हैं, अपनी प्रसिद्ध कृति 'मध्यमक शास्त्र' (माध्यमिक-कारिका) में निर्वाण की विशदतया परीक्षा की है।[1] उनके अनुसार निर्वाण न तो छोड़ा जा सकता है (अप्रहीणम्), न तो प्राप्त किया जा सकता है (असम्प्राप्तम्) निर्वाण न उच्छेद है और न शाश्वत है। उनका कहना है कि इसका न तो निरोध (अनिरुद्धम्) होता है और न ही यह उत्पन्न होता है।[2]

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने नागार्जुन की 'माध्यमिक-कारिका' पर 'प्रसन्नपदा' नाम की सुन्दर व्याख्या की है। इस सम्बन्ध में वह अपनी टीका में पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि निर्वाण में रागादि के समान (कुछ भी) प्रहाण नही होता और न ही इसमें श्रामण्यफल के समान (कुछ भी) प्राप्त होता है और न ही इसमें स्कन्ध आदि के समान कोई उच्छेद होता है और न ही इसमें अशून्यत्व के समान कोई नित्यत्व है तथा स्वभाव से वह अनिरुद्ध अनुत्पन्न, सर्वप्रपञ्चों का उपशम कहा गया है तो ऐसी निष्प्रपञ्च अवस्था में क्लेश कल्पना कैसे की जा सकती है जिनका (क्लेशों का) प्रहाण निर्वाण है अथवा वहाँ स्कन्ध कल्पना क्या हो सकती है जिसमें स्कन्धों का निरोध हो। जब तक ऐसी कल्पनायें हैं तब तक निर्वाण की प्राप्ति कैसे हो सकती है क्योंकि सब प्रकार के प्रपञ्चों के दूर होने से ही उसका अधिगम होता है अथवा यदि कोई कहे कि यद्यपि निर्वाण में क्लेश या स्कन्ध नहीं है तो भी ये निर्वाण के पहिले होते हैं इसलिये उनके विनाश से निर्वाण होता है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति इसका उत्तर देते हैं कि यह सब मिथ्याग्राह है क्योंकि यदि निर्वाण के पहले स्कन्ध आदि स्वभावतः सत्य होते तो उनका न होना (अभाव) सम्भव नहीं। इसलिए निर्वाण के अभिलाषी को इस प्रकार की कल्पना नहीं करनी चाहिए। वास्तव में निर्वाण और संसार जो दो सीमायें (कोटियाँ) हैं उन दोनों में सुसूक्ष्म

१—वही पृष्ठ ८८
२—त्रि० विज्ञि० का० २८
३—वही का० २९
४—वही का० ३०
५—संसारपरित्यागात् वानुपसंक्लेशत्वात् सर्वधर्मविभुत्वलाभतश्च धर्मकाय इत्युच्यते।—विज्ञप्तिमा० पृष्ठ १०२

१—दे० म० शा० प्रकरण २५
२—अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरुद्ध मनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते॥
—म० शा० २५/३

अन्तर भी नहीं है।[१] इसलिये निर्वाण में न तो किसी चीज का प्रहाण होता है और न ही निरोध होता है। वास्तव में निर्वाण कल्पनाओं का पूर्ण रूप से निरवशेष क्षय है। भगवान् ने 'समाधिराजसूत्र' में कहा है कि धर्मों की (द्रव्य सत् की) निवृत्ति नहीं होती और जो धर्म नहीं हैं (अद्रव्य) वे कदापि होते ही नहीं हैं। अतः जो अस्ति नास्ति की कल्पना में लगे है उनका दुःख कभी भी शान्त नहीं हो सकता।[२] समाधिराज की इस गाथा का अर्थ आचार्य चन्द्रकीर्ति बतलाते हैं कि निवृत्ति में अर्थात् निरुपधिशेष निर्वाण में धर्मक्लेश, कर्म, जन्म, लक्षणों वाले धर्मों या स्कन्धों का सर्वथा अभाव होने से धर्मों का अस्तित्व असिद्ध होता है। यह सब निकायों का मत है (एवं च सर्ववादीनामभिमतम्)[३] और वे धर्म निर्वाण में ही नहीं जैसे प्रदीप के जलने पर अन्धकार में रज्जु में प्रतिभासित सर्प का भय दूर हो जाता है। तत्वतः वे वस्तु हैं ही नहीं। उसी प्रकार क्लेश कर्म जन्म वाले धर्म किसी समय इस सांसारिक अवस्था में भी तत्वतः विद्यमान नहीं हैं। अन्धकार अवस्था में भी स्वरूपतः रज्जु में सर्प नहीं है जैसे कि वास्तविक सर्प को अन्धकार या प्रकाश में शरीर या चक्षु से ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार इसको ग्रहण नहीं किया गया है।

यदि कोई पूछे कि तो फिर संसार क्या है तो इसका उत्तर यह है कि असत्-ग्रह से ग्रसित बाल जन को असत् भावों में सत् भाव की प्रतीति ही संसार है, जैसे तैमरिक दोष वाले को असत् केश, मच्छर आदि देखने में आते हैं उसी प्रकार उसे यह संसार नजर आता है।

आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि यदि निर्वाण को भाव रूप माना जायेगा तो निर्वाण में जरा मरण का प्रसङ्ग आ जायेगा क्योंकि कोई भी भाव बिना जरामरण लक्षण के नहीं होता है। इस पर आचार्य चन्द्रकीर्ति टीका करते हुए निकायान्तरों के मत रखते हैं। कुछ एक भाववादी जो निर्वाण में भाव का अभिनिवेश करते हैं वे कहते हैं कि निर्वाण जलप्रवाह के रोकने वाले सेतु की तरह क्लेशकर्म से उत्पन्न सन्तानप्रवृत्ति का निश्चित रोध (रोकना) करने वाला निरोधात्मक पदार्थ है। कोई भी अभावात्मक (अविद्यमान स्वभाव वाला) धर्म ऐसा काय (रोध कार्य) करता हुआ दिखाई नहीं देता। अतः उन निकायों के अनुसार निर्वाण भावरूप है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि (सूत्रों में बुद्ध द्वारा) निर्वाण को नन्दीराग सहगत तृष्णा का क्षय बतलाया गया है। अब यह जो क्षयमात्र है सो 'भाव' कैसे हो सकता है तथा यह भी जो कहा गया है कि "चित्त की विमुक्ति दीपक के बुझने के समान है" (प्रद्योतस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः)[१]। उसमें दीपक का बुझना (निवृत्ति) भाव नहीं कहा जा सकता।

पूर्वपक्ष का कहना है कि यहाँ तृष्णा का क्षय' तृष्णा क्षय' नहीं है किन्तु निर्वाण में तृष्णा का क्षय होता है। प्रदीप का तो केवल दृष्टान्त मात्र दिया गया है। इसमें भी जिसके होने पर (तृष्णाक्षय होने पर) चित्त का विमोक्ष होता है, यह जानना चाहिये।

आचार्य भाववादियों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'निर्वाण' भाव हो ही नहीं सकता क्योंकि ऐसा होने पर जरामरण लक्षण का प्रसङ्ग आयेगा। जो कुछ भाव है (जो सद्वस्तु है, उत्पन्न है) उसका जरामरण अवश्यभावी है। फिर उसका निर्वाण नहीं हो सकता जैसे विज्ञान (प्रतिसन्धि = जन्म) का जरामरण अवश्यम्भावी है। भाव के साथ जरामरण लक्षण के अव्यभिचारित्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि ऐसा कोई भाव नहीं है जो जरामरण से विरहित हो और जरामरण विरहित भाव तो आकाश-कुसुम की तरह होता ही नहीं।

भाव का निरीक्षण करते हुए आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि यदि निर्वाण को आप भाव मानेंगे तो वह संस्कृत हो जावेगा क्योंकि कोई भी ऐसा भाव नहीं जो असंस्कृत है।[२]

१—निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य च
न तयोरन्तरं किंचित्सुसूक्ष्ममपि विद्यते ॥
—म. शा. २५/२० पृष्ठ २२८, २३५

२—बे० म. शा. पृष्ठ २२८

३—वही

१—बे० मा. शा. पृष्ठ २२६

२—भावश्च यदि निर्वाणं निर्वाणं संस्कृतं भवेत्
नासंस्कृतो हि विद्यते भावः क्वचन कश्चन ॥
—म. शा. २५/५, पृष्ठ २३०

इसके अतिरिक्त यदि निर्वाण भाव है तो वह अनुपादाय कैसे है[1] (किसी के ऊपर अन्+आश्रित), क्योंकि कोई भाव अनुपादाय नहीं होता है। भाववादियों को उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि निर्वाण भाव है तो वह उपादाय (द्रव्य) होगा अर्थात् वह अपने कारण सामग्री पर आश्रित होगा किन्तु उपादाय निर्वाण की बात इष्ट नही है परन्तु अनुपादाय निर्वाण की बात कही जाती है। अतः यदि निर्वाण एक भाव है तो वह अनुपादाय निर्वाण कैसे होगा, इसलिए निर्वाण भाव होने के कारण विज्ञान आदि की तरह उपादाय होगा, अनुपादाय नहीं। क्योंकि कोई भाव अनुपादाय नही होता। इसका कारण बतलाते हुए नागार्जुन कहते है कि कोई भाव अनुपादाय होता ही नही नानुपादाय कश्चिद् भावो हि विद्यते)।

पूर्वपक्षी पूछता है कि यदि उपरोक्त दोषो के कारण निर्वाण भाव नही है तो क्या निर्वाण अभाव है जिसमे क्लेश जन्म जो निवृत्तिमात्र होती है। आचार्य कहते है कि यह भी युक्त नही है क्योकि यदि निर्वाण भाव नही है तो अभाव कैसे होगा, चूकि जहाँ भाव नही है तो वहाँ अभाव भी नही है।[2]

यदि निर्वाण क्लेश-जन्म का अभाव है तो निर्वाण क्लेश जन्म की अनित्यता कहा जायगा। कारण कि अनित्यता और कुछ नही क्लेश जन्म का अभाव है अतः निर्वाण अनित्यता होगा और यह इष्ट नहीं है[3] क्योंकि फिर तो बिना यत्न के ही (अर्थात् बिना शील, समाधि, प्रज्ञा और भावना के ही) मोक्ष का प्रसङ्ग आ जावेगा। इसलिए यह युक्त नही है।

यदि कोई कहे कि निर्वाण अभाव है तो वह फिर अनुपादाय (किसी के ऊपर अन्+आश्रित) कैसे हो सकता है क्योकि कोई भी ऐसा अभाव नहीं है जो अनुपादाय हो।[1] माध्यमिक कहता है कि किसी भी अभाव या अनित्यता की प्रज्ञप्ति भाव को लेकर होती है। खरविषाण (जो है ही नहीं) उनकी अनित्यता की बात कोई नही कहता है। लक्षण को आश्रित कर लक्ष्य की प्रज्ञप्ति होती है। इसलिए अभाव की कल्पना भी उपादाय (सापेक्ष) होती है। यदि निर्वाण अभाव है तो अनुपादाय कैसे हो सकता है। वह तो उपादाय ही होगा क्योकि वह अभाव है, विनाश धर्म है। इसी से ही आचार्य ने कहा है कि कोई भी अभाव अनुपादाय नही हो सकता। पूर्वपक्ष कहता है कि यदि भाव अनुपादाय नही है (वह उपादाय है) तो क्या बन्ध्या पुत्र आदि अभाव भी किसी के उपादाय है। आचार्य इसका उत्तर देते हुए कहते है कि बन्ध्या पुत्र आदि को अभाव किसने कहा है क्योंकि भाव ही यदि नही हैं तो अभाव सिद्ध ही नहीं होता। भाव के अन्यथा भाव को ही लोग अभाव कहते हैं। अतः बन्ध्या पुत्र आदि का अभाव तो सिद्ध ही नहीं होता।

पूर्वपक्ष पूछता है कि यदि निर्वाण भाव भी नहीं हैं, अभाव भी नही है तो फिर निर्वाण है क्या? आचार्य नागार्जुन उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान् तथागत ने कहा है यह जो ससार, जन्म परम्परा (आजवञ्जवीभाव) है वह उपादाय (आश्रित) एव प्रतीत्य (सापेक्ष) है किन्तु जो निर्वाण है वह अप्रतीत्य एवं अनुपादाय है।[2] चन्द्रकीर्ति ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि यह जन्म परम्परा (सत्वों का गमनागमन भाव) है वह कभी हेतु प्रत्यय सामग्री को आश्रित होकर प्रज्ञप्त होता है यथा दीर्घ वस्तु

१—भावश्च यदि निर्वाणमनुपादाय तत्कथम्
निर्वाणं नानुपादाय कश्चिद् भावो हि विद्यते ॥
—म. शा. २५।६, पृष्ठ/२३०

२—यदि भावो न निर्वाणमभावः किं भविष्यति
निर्वाणं यत्र भावो न नाभावस्तत्र विद्यते ॥
—म. शा. २५/७ पृष्ठ २३०

३—क्लेशजन्मनोरभावो निर्वाणमिति चेत्, एवं तर्हि क्लेशजन्मनोरनित्यता निर्वाणमिति स्यात्। अनित्यतैव हि क्लेशजन्मनोरभावो नान्यद्, अतः अनित्यतैव निर्वाणं स्यात्।—म. शा. पृष्ठ २३०-३१

१—यद्यभावश्च निर्वाणमनुपादाय तत्कथम्
निर्वाणं न ह्यभावोऽस्ति योऽनुपादाय विद्यते ॥
—म. शा. २५/८ पृष्ठ २३१

२—य आजवंजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा
सोऽप्रतीत्यानुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते ॥
—म. शा. २५/९ पृष्ठ २३१

की प्रज्ञप्ति ह्रस्व वस्तु के सापेक्ष है ।[१] कभी-कभी हेतु जनित प्रज्ञप्त होता है जैसे रोशनी दीपक से, अंकुर बीज से । इस प्रकार जब कोई वस्तु प्रतीत्य एवं उपादाय सिद्ध होती है और इस जन्म-मरण परम्परा की सन्तति जब अप्रतीत्य एवं अनुपादाय या अप्रवृत्त होगी तब ही निर्वाण व्यवस्थापित होगा किन्तु भाव या अभाव की अप्रवृत्तिमात्र कल्पना नहीं की जा सकती । इसलिए निर्वाण न भाव है और न अभाव है ।

और भगवान् ने तो भव और विभव के प्रहाण की भी बात कही है । अतएव निर्वाण न तो भाव है और न अभाव है ।[२] और यदि यह कहा जाय कि निर्वाण भाव और अभाव है तो फिर भाव भी मोक्ष होगा और अभाव भी मोक्ष होगा ।[३] फिर तो संस्कारों का आत्म लाभ भी मोक्ष होगा और संस्कारो का निगम भी मोक्ष होगा । लेकिन संस्कारों का होना मोक्ष नही माना जा सकता । अतः यह अयुक्त है कि निर्वाण भाव और अभाव है ।

यदि निर्वाण दोनो भाव और अभाव है तो निर्वाण संस्कृत होगा क्योंकि वह भाव और अभाव संस्कृत माने गये हैं ।[४] भाव स्वहेतु प्रत्यय सामग्री के कारण संस्कृत है और अभाव के सापेक्ष (प्रतीत्य) होने के कारण संस्कृत है जैसे जरामरण जन्म के प्रतीत्य (शापेक्ष) होने से संस्कृत है ।

यदि यह कहा जाय कि निर्वाण न तो भाव है और न अभाव है तो जब भाव या अभाव की सिद्धि होगी तभी तो यह सिद्ध होगा कि निर्वाण न भाव है और न अभाव

१–'स चायमाजवंजवी भावः कदाचिद् हेतु प्रत्यय सामग्रीमाश्रित्य अस्तीति प्रज्ञप्यते दीर्घह्रस्ववत् ।'
—वही पृष्ठ २३१

२–प्रहाणं चाब्रवीच्छास्ता भवस्य विभवस्य च
तस्मान्न भावो नाभावो निर्वाणमिति युज्यते ॥
—म. शा. २५/१०, पृष्ठ २३२

४–के०–म. शा. २५/११, पृष्ठ २३२

४–भवेदभावो भावश्च निर्वाणमुभयं कथम् ।
असंस्कृतं च निर्वाणं भावाभावो च संस्कृतो ॥
—म. शा. २५/१३ पृष्ठ २३३

है ।[१] यदि कोई भाव नाम की वस्तु हो तभी उसके प्रतिषेध रूप में निर्वाण न भाव की कल्पना की जाय अथवा यदि कोई अभावात्मक वस्तु हो जिसके प्रतिषेध के रूप में न अभाव निर्वाण की कल्पना की जाय । जब भाव और अभाव दोनों ही नही है तो उन दोनों के प्रतिषेधात्मक तत्व 'न भाव और न अभाव' हो ही नही सकते । इसलिये निर्वाण की यह कल्पना कि वह 'न भाव' और 'न अभाव' है, नही ठहरती ।

यदि निर्वाण 'न भाव' और 'न अभाव' रूप हो तो यह न उभयरूप निर्वाण कैसे ग्रहण किया जाता है[२], क्या इसका कोई प्रतिपत्ता (जानना) है । यदि है तो ऐसा होने से निर्वाण में भी आत्मा होगी जो इष्ट नही है क्योंकि निर् +उपादान (उपादान रहित) वस्तु कोई आत्मा होती ही नही । यदि विज्ञान से ऐसा प्रकाशित होना कहे तो यह भी युक्त नही है क्योंकि विज्ञान निमित्तालम्बन होता है और निर्वाण अनिमित्त होता है । अतएव निर्वाण विज्ञान से भी नही जाना जा सकता । ज्ञान से भी यह नही जाना जा सकता क्योंकि ज्ञान शून्यतालम्बन होता है और शून्यता अनुत्पाद रूप ही होती है तब उसके अविद्यमान स्वरूप से तथा ज्ञान के सर्वप्रपञ्चासीन होने से न भाव और न अभाव रूप निर्वाण कैसे ग्रहण किया जा सकता है । अतः निर्वाण 'न भाव' 'न अभाव' रूप नही हो सकता ।

आचार्य नागार्जुन ने निर्वाण की कल्पना में इतना तक कहा है कि ससार और निर्वाण मे कोई अन्तर नही है ।[३] बुद्ध के होते हुए भी यह कल्पना नही की जा सकती कि बुद्ध है और उनके परिनिर्वृत्त होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह है या नही । अतः संसार और निर्वाण

१–नैवा भावो नैव भावो निर्वाणमिति याञ्जना ।
अभावे चैव भावे च सा सिद्धे सति सिद्ध्यति ॥
—मा. शा. २५/१५, पृष्ठ २३३

२–नैवाभावो नैव भावो निर्वाणं यदि विद्यते ।
नैवाभावो नैव भाव इति केन तदज्यते ॥
—वही २५/१६, पृष्ठ २३३

३–न संसारस्य निर्वाणात्किञ्चिदस्ति विशेषणम् ।
न निर्वाणस्य संसारात्किञ्चिदस्ति विशेषणम् ॥
—म. शा. २५/१९, पृष्ठ २३३

में विचार करने पर कोई अन्तर नही है। वास्तव में वह एक ही है और इसी को लेकर भगवान् ने कहा है कि हे भिक्षुओं! इस जाति जरामरण ससार का कोई अन्त नहीं है। अतः ससार और निर्वाण में कोई विशेष अन्तर नही है, यह सिद्ध होता है। आचार्य और भी कहते है कि निर्वाण की कोई चरम सीमा (कोटि) नही है, न ही ससार को कोई सीमा है इसलिए दोनों मे सुसूक्ष्म अन्तर भी नही है।[1] इसलिए निर्वाण के बाद क्या होता है अथवा ससार अन्तवान् है या अनन्तवान् है, शाश्वत है या अशाश्वत है इत्यादि पूर्वान्त और अपरान्त को लेकर सब (मिथ्या) दृष्टियाँ बतलाई गई है।

जब धर्म शून्य है तब उनमे अनन्तवान् और अन्तवान् धर्मों की कल्पना कैसे हो सकती है तथा उसमे कैसे 'न अनन्त' और 'न अन्त' ही धर्म हो सकता है। इसी प्रकार उसमे क्या शाश्वत, क्या अशाश्वत और अशाश्वत तथा न उभय (नाशाश्वत और न शाश्वत) हो सकते हैं। यहाँ पूर्वपक्षी पूछता है कि यदि इस प्रकार आप निर्वाण का प्रतिषेध करते हैं तो महाकरुणा से युक्त भगवान् ने यह जो सत्वों को अपनी प्रिय सन्तान के समान समझ कर निर्वाण प्राप्ति की देशना दी है वह सब व्यर्थ होगी। इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते है कि जब कोई धर्म (स्वभावत.) हो अथवा धर्म के सुनने वाले हों अथवा धर्म का कोई उपदेश देने वाला भगवान् बुद्ध हो तो यह हो सकता है किन्तु जो धर्म सब प्रवृत्तियों का उपशम है, जो सब प्रपञ्चो का उपशम है, शान्त है, ऐसी अवस्था में बुद्ध द्वारा किसी भी धर्म की कही भी, किसी को भी देशना नही की गई है।[3]

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते है कि जब भगवान् बुद्ध सर्व प्रपञ्चोशम एव शिवरूप निर्वाण में आकाश मे हसराजो की तरह स्वपुण्य ज्ञान सम्भार रूप पखमोचन से उत्पन्न वायु में अथवा वायुगगन में, गगन में कुछ न होने के कारण (गगनस्याकिञ्चनत्वात्) आधार रहित (अस्थान योगेन) स्थित है तब सब निमित्तों के अनुलब्ध होने के कारण कही बुद्धो ने कही भी मनुष्यों या देवों में या किसी भी मनुष्य या देव को न किसी सांक्लेशिक (क्लेशयुक्त) और न वैयवदानिक (विशुद्धि युक्त) धर्म की देशना दी है, ऐसा जानना चाहिए।

जैसे कि 'आर्य तथागतगुह्य सूत्र' मे कहा गया है कि हे शान्तिमति! जिस रात्रि मे तथागत ने अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि का लाभ किया और जिस रात्रि में अनुपादाय परिनिर्वाण को प्राप्त होंगे, इसके बीच तथागत के मुख से न तो एक भी अक्षर निकला है और न निकलेगा। नाना अधिमुक्ति वाले, नाना धातु आशय वाले सभी सत्व अपने-अपने अनुरूप तथागत के विविध वचनों को समझते है।[1] अतः उनकी देशना पृथक्-पृथक् होती है कि भगवान् ने हमारे लिये यह देशना की है और हम तथागत की देशना सुनते हैं। तथागत तो कल्प विकल्प नही करते है। हे शान्तिमति, तथागत तो कल्प विकल्पों के जाल वासना से रहित होते हैं।[2] और भी कहा गया है—'जो धर्मों को अवाच्य, अनक्षर, सर्वशून्य शान्तादि निर्मल रूप जानता है वही कुमार 'बुद्ध' कहा जाता है।[3]

यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि कभी किसी को किसी भी धर्म की देशना बुद्ध ने नही की है तो ये नाना (बुद्ध) प्रवचन कैसे जाने जाते हैं। आचार्य कहते हैं—नविद्या निद्रा मे लीन स्वप्न देखने वाले प्राणियो की तरह यह स्वविकल्पोत्पत्ति है कि सकलत्रिभुवन, देवों, असुरों और मनुष्यो के स्वामी भगवान् (बुद्ध) हम सबके लिये इस धर्म को देशना देते है[4], जैसे कि भगवान ने कहा है—

कुशल, अनास्रव धर्म का तथागत प्रतिबिम्ब मात्र है। न यहाँ तथता है, न तथागत है और सम्पूर्ण लोक मे बिम्ब

१—दे० म. शा. २५/२०, पृष्ठ २३५

२—परं निरोधावन्ताद्याः शाश्वताद्याश्च दृष्टयः।
निर्वाणमपरान्तं च पूर्वान्तं च समाश्रिताः॥
—म. शा. २५/२१, पृष्ठ २३५

३—सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिव।
न क्वचित्कस्यचित्कश्चिद्धर्मो बुद्धे न देशितः॥
—म. शा. २५/२४, पृष्ठ २३६

१—दे० म. शा. पृष्ठ २३६

२—वही

३—वही

४—अविद्यानिद्रानुगतानां देहिनां स्वप्नायमानानामिव स्वविकल्पाभ्युदय एषः—अयं भगवान् सकलत्रिभुवन सुरासुर नरनाथः इम धर्मभस्मभ्यं देशयतीति। —वही

मात्र ही दिखलाई पड़ते है।[1] और भी "तथागत बाम् गुह्य परिवर्त" में विस्तार से कहा गया है—"निर्वाण के लिये धर्मदेशना का ही जब अभाव है तो कहाँ से धर्मदेशना है तथा निर्वाण का अस्तित्व ही कैसे होगा। अतएव निर्वाण भी नहीं है, यही सिद्ध होता है। भगवान् ने कहा भी है—

लोकनाथ (बुद्ध) के द्वारा निर्वाण की अनिर्वाण रूप में देशना की गई है। आकाश द्वारा बनाया गया गुच्छा आकाश द्वारा ही मोचित हुआ है।[2]

१–तथागतो हि प्रतिबिम्बभूतः कुशलस्य धर्मस्य अनास्रवस्य नैवात्र तथता न तथागतोऽस्ति बिम्बं च संदृश्यति सर्वलोके।—म. शा. पृष्ठ २३६

२–अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम्
आकाशेन कृतो ग्रन्थिराकाशेनैव मोचितः॥
—म. शा. पृष्ठ २३७

जो निर्वाण को भाव रूप में खोजते हैं वे संसार को पार नहीं कर सकते क्योंकि निर्वाण वास्तव में (सर्वनिमित्त सर्वेञ्जित) धर्मों की उपरति (उपशान्ति) है। इसलिये वे सब अज्ञानी हैं जो स्व ख्यात विनय धर्म मे प्रव्रजित होकर तीर्थकों की मिथ्या दृष्टि मे पड़कर निर्वाण को भाव रूप में खोजते हैं जैसे तिलों में तेल या दूध में घी। वे अभिमानी तीर्थिक हैं जो अत्यन्त परिनिवृत्त धर्मों में निर्वाण खोजते हैं। सम्यक् प्रतिपन्न योगाचार न तो किसी धर्म का उत्पाद करता है और न ही किसी धम का निरोध करता है, न ही किसी धर्म की प्राप्ति की इच्छा करता है और न ही किसी धर्म के अभिसमय की इच्छा करता है।"[1]

१—मा. शा. पृष्ठ २३७

अनेकान्त के ग्राहकों से

आपके पास हमारी शोध-पत्रिका 'अनेकान्त' नियमित रूप से पहुँच रही है। कुछ ग्राहकों का इस वर्ष का तथा पिछले वर्ष का चन्दा हमें प्राप्त नहीं हुआ है। पत्रिका को आर्थिक सङ्कट का सामना न करना पड़े, अतः आपसे अपना चन्दा अविलम्ब भेजने की प्रार्थना है। जिन ग्राहकों का चन्दा हमें इस माह के अन्त तक प्राप्त न हो सकेगा, उनके नाम हमें पत्रिका V.P.P. से भेजने के लिये बाध्य होना पड़ेगा।

भवदीय :

महासचिव,

श्री वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,

दिल्ली–६

जैन धर्म में नीति धर्म और साधना

—रामजीसिह, एम ए०

—●●—

भारतवर्ष मे नीति धर्म और साधना का जनता के जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। यहाँ पर अंशत: श्रुति की मान्यता के कारण और अंशत: व्यक्तिगत विचारकों में मौलिक कहलाने की महत्वाकांक्षा न होने के कारण, विभिन्न वादों का या सम्प्रदायों का व्यक्तियों के नाम से प्रचार नही हुआ। इसी कारण जैन धर्म[1] भी किसी व्यक्ति विशेष के नाम पर नहीं उत्पन्न हुआ। जैन धर्म की प्रमुख विशेषता उसके व्यावहारिक उपदेश में पाई जाती है। तत्व दर्शन अथवा ज्ञान मीमांसा अथवा किसी भी प्रकार का ज्ञान वहीं तक उपयोगी है, जहाँ तक कि वह उचित आचरण का सहायक होता है। उचित आचरण का परम लक्ष्य मोक्ष होता है। मोक्ष का अर्थ आत्मा का प्रत्येक प्रकार के बन्धनों से मुक्ति पा जाना तथा अपने स्वरूप को पहचान लेना है। 'जिन' शब्द का अर्थ ही होता है—अपने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेना। अतः जैन शब्द से ही इस धर्म की व्यावहारिकता स्पष्ट हो जाती है।

प्राय: लोग नीति धर्म को अंग्रेजी में 'एथिक्स' कहते हैं और इसे सस्कृत में नीति-शास्त्र या नीति धर्म के नाम से अभिहित किया जाता है। वस्तुत: ऐसा मालूम पड़ता है कि संस्कृत का धर्म शब्द नीति नियमों का पर्याय है न कि अंग्रेजी 'रिलीजन' शब्द का अर्थ धर्म है। पाश्चात्य 'रिलीजन' शब्द के लिये हिन्दी भाषा में कोई पर्याय नहीं मालूम पड़ता है। इसलिये यहाँ पर हम नीति धर्म का अर्थ नीति नियमों के पालन से लेंगे न कि अंग्रेजी शब्द 'रिलीजन' से। नीति नियमों का तात्पर्य है—जीव को अपने पहले के स्वाभाविक अवस्था का ज्ञान कराना और जो बन्धन (कषाय) जीव को बाँधे हुए है उससे मुक्ति दिलाना। जीव जो बन्धन में पड़ा हुआ है, उसका यह बन्धन नीति धर्म से ही दूर हो सकता है। सामान्य रूप से जैन धर्म में बन्धन का अर्थ जन्म ग्रहण करना और जीव की यातनाओं को भोगना है। बन्धन का अर्थ सभी आस्तिक दार्शनिक यही समझते हैं। जैन धर्म के अनुसार जीव पूर्ण है, उसके अन्तर में अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनिवार्य है। बस, वह दु:खी इस कारण है कि जीव बाह्य कषायों में फँस गया है। जीव को बन्धन में डालने वाली वासनायें—क्रोध, मद, मान, माया और लोभ आदि जो हैं, उन्हें ही कषाय कहते हैं। जब जीव पूर्ण रूप से कषायों में फँस जाता है तो बन्धन कहते हैं।[2]

बन्धन दो प्रकार का होता है—भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध। जीव के मन के अन्दर दूषित भावनाओं का आ

१—जैन दर्शन को जैन धर्म कहना अधिक उचित मालूम पड़ता है; क्योंकि यह दार्शनिक समस्याओं की अपेक्षा जीव को कर्म-बन्धन से छुटकारा देना अधिक चाहता है और यह व्यवहारिक अधिक, परमार्थिक कम है।

२—सकषायत्वात् जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते सबन्ध:- तत्वार्थाधिगमसूत्र, ८-१।

जाना ही भाव बन्ध है। इसको मानसिक बन्ध भी कह सकते हैं; क्योंकि यह केवल मन में होता है। जीव को पुद्गल कणों से आक्रान्त हो जाने को द्रव्य बन्ध कहते हैं। इसको कर्मबन्ध भी कह सकते हैं, क्योंकि इसमें जीव अपने कर्मो से बन्धन में फँस जाता है। बन्धन की अवस्था में पुद्गल तथा जीव एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार लोहा को अग्नि में रखने पर लोहा में अग्नि आ जाती है और उसमें आग और लोहा दोनों होता है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब जीव शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है तो वह कषाय अथवा बन्धन में कैसे पड़ जाता है? भारतीय दार्शनिक इसका समाधान तीन प्रकार से करते हैं—प्रथम यह कि जो ईश्वरवादी हैं वे इसको ईश्वर की लीला कहते हैं। दूसरा यह कि जो अनीश्वरवादी है वे इसको कर्मवाद के आधार पर समाधान करते हैं। तीसरा यह कि कुछ लोग जीव को बन्धन या दुःख को स्वीकार ही नही करते। अगर दार्शनिक दृष्टि से देखा जाय तो ये सभी समाधान उचित नही मालूम पड़ते। परन्तु जैन दर्शन समन्वयवादी दर्शन है इसलिये यह सभी का समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाता है और उचित समाधान प्रस्तुत करता है। जैन धर्म में इसका समाधान यह होगा कि जीव पुद्गल से निर्मित होता है और अपने कर्मो या संस्कारो के वशीभूत होकर ही शरीर धारण करता है। पूर्वजन्म के कर्मों के कारण ही जीव में वासनाओं की उत्पत्ति होती है। वासनायें अपनी तृप्ति चाहती है और इसका परिणाम यह होता है कि ये पुद्गल को अपनी ओर खीचती हैं, जिससे विशेष प्रकार के शरीर का निर्माण होता है। बिना कर्मों का नाश किये मुक्ति सम्भव नही है। किये हुए कर्मों का नाश नीति धर्म के द्वारा ही हो सकता है। कर्म कई प्रकार के होते हैं:—

१—आयु कर्म—आयु की लम्बाई जिन कर्मों पर निर्भर होती है।

२—गोत्र कर्म—जिससे जीव, जाति व गोत्र में जन्म लेता है।

३—ज्ञानावरणीय कर्म—जो आत्मा के ज्ञानमय स्वरूप का तिरोधान करता है।

४—दर्शनावरणीय कर्म—हृदय में सत्य ज्ञान का आभास नहीं होने देता।

५—वेदनीय कर्म—आत्मा के आनन्दस्वरूप का आच्छादन कर सुख दुःख उत्पन्न करते हैं।

६—मोहनीय कर्म—जीव को सच्ची श्रद्धा और विश्वास से रोकते हैं तथा मन को अशान्त रखते हैं।

७—अन्तराय कर्म—आत्मा की उन्नति में बाधा पहुँचाते हैं।

उपर्युक्त कर्मों में नं० ३ से न० ६ तक के कर्मों को 'घातीय' कर्म कहते है और जो गोत्र कर्म कहा गया है वह धार्मिक न होकर व्यावहारिक है। उस समय की सामाजिक व्यवस्था में दलित वर्ग का शोषण और जातिवाद का दुरभिमान आदि का जो दोष आ गये थे, उनको दूर करने के लिये स्वयं भगवान् महावीर स्वामी ने वर्ण व्यवस्था के आधार की स्पष्ट व्याख्या की। उन्होंने कहा:—

"कम्मुणा बम्हणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइं कम्मुणा॥"

अर्थात् मनुष्य का वर्ण वह नहीं होता जो उसने जन्म से लिया हो, बल्कि मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्री होता है और कर्म से ही वैश्य-शूद्र होता है। यहाँ पर हम देखते हैं कि भगवान् महावीर ने वर्ण को नीति धर्म अथवा व्यवहार मूलक माना, धर्ममूलक नही; जबकि हिन्दू धर्म ने वर्ण व्यवस्था को धर्ममूलक माना कर्ममूलक नहीं।[1] जीवन का लक्ष्य कर्म से छुटकारा पाना है और यह छुटकारा पाना साधना द्वारा ही सम्भव है। जैन धर्म में दो प्रकार की साधना बताई गई है—प्रथम गृहस्थ के लिये और दूसरी सन्यासी के लिए। दूसरी को पहली से श्रेष्ठ माना गया है। स्वभावतः सन्यासी के नियम अधिक कठोर हैं और उन्हें 'महाव्रत' तथा गृहस्थ के नियमों को 'अणुव्रत' कहा गया है। जैन धर्म सन्यास पर अधिक बल देता है। जैन साधु अपने पास कुछ नही रखते। वे भिक्षा के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते हैं। यह कठोरता केवल सन्यासियों के लिए ही नहीं है, बल्कि गृहस्थ के लिए भी निर्धारित साधना अपेक्षाकृत कठोर ही है।

१—दे० गीता रहस्य—पहला प्रकरण।

भारतीय दर्शन में जितनी कठोर साधना जैन धर्म की है उतनी कठोर अन्य धर्मों की नहीं। अनेक दार्शनिकों की तरह जैन दर्शन भी न केवल ज्ञान पर जोर देता है, बल्कि आचरण और ज्ञान दोनों पर ही जोर देता है। इसके अतिरिक्त य; आस्था की आवश्यकता बतलाता है। जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को 'त्रिरत्न' अर्थात् जीवन की तीन बहुमूल्य साधना बताया गया है।[1]

सम्यक् दर्शन—जैन तीर्थङ्करों अथवा जैन शास्त्रों और उनके उपदेशों में दृढ़ विश्वास।

सम्यक् ज्ञान—जैन धर्म और दर्शन का ज्ञान।

सम्यक् चरित्र—जो सही जाना जा चुका है और माना जा चुका है, उसको अपने चारित्र में परिणत करना।

इसमें पहला स्थान सम्यक् दर्शन को दिया गया है; क्योंकि संशय, जो आध्यात्मिक विकास में बाधक होता है, वह बिना श्रद्धा के दूर नहीं हो सकता। गीता में भी कहा गया है कि साधन रहित मनुष्य के अन्तःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती और उस पुरुष के अन्तःकरण में आस्तिक भाव भी नहीं होता और बिना आस्तिक भाव वाले पुरुष को शान्ति भी नहीं मिलती। फिर शान्तिरहित पुरुष को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है।[2]

स्वयं भगवान् महावीर कहते हैं:—

'णाणं पयासमं, सोहओ तवो, सयमो यगुत्तिमरो।'[3]

अर्थात् ज्ञान प्रकाशक है, चित्त शोधन करता है और सयम रक्षा करता है। जैन धर्म में कर्म बन्ध को रोकने और उनको (पूर्व कर्म) नष्ट करने का उपाय शुद्ध आचरण सयम और तप है। जैन धर्म में आचरण पाँच प्रकार के बताये गये हैं:—

१ – अहिंसा —किसी भी प्राणी को मन, कर्म और वाणी से हानि न पहुँचाना।

२—सत्य —झूठ न बोलना अर्थात् ज्यों का त्यों कह देना।

३—ब्रह्मचर्य—वीर्य स्खलन न होना।

४—अस्तेय—चोरी न करना अर्थात् किसी की कोई वस्तु बिना पूछे न लेना।

५—अपरिग्रह—संसार का त्याग अथवा संसार की वस्तुओं में मोह न रखना।

उपरोक्त साधनाये सन्यासियों के लिये हैं, जिनका बड़ी कठोरता के साथ पालन किया जाता है। गृहस्थ के लिये भी पाँच प्रकार की साधना है:—

१ – अहिंसा—जो पहले कहा गया है।

२—सत्य— ,,

३—अस्तेय— ,,

४—संयम—धैर्य अथवा अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

५—सन्तोष – अपनी आवश्यकताओं को कठोरता के साथ सीमित रखना।

जैन धर्म मनुष्य को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता देने में हर अन्य धर्मों से बढ़कर है। जो कुछ कर्म हम करते हैं और उनके जो फल हैं, उनके बीच कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। एक बार कर लिये जाने के बाद कर्म हमारे ईश्वर बन जाते हैं और उनके फल भोगने ही पड़ेंगे। मेरा स्वातन्त्र्य जितना बड़ा है उतना ही बड़ा मेरा दायित्व भी है। मैं स्वेच्छानुसार चल सकता हूँ, परन्तु मेरा चुनाव अन्यथा नहीं हो सकता और उसके परिणामों से (कर्मफल से) मैं बच नहीं सकता। इन परिणामों से बचने का एकमात्र उपाय है—नीति धर्म और साधना। जो हम रे पूर्व कर्म हैं; उनका फल तो हमे भोगना ही पडेगा, परन्तु अब भी हम अपने पूर्व कर्मों का नाश करके कर्म बन्धन से छुटकारा पा सकते है। जीव जिस तरह अपने कर्मों द्वारा बन्धन में पड़ा है, उसी प्रकार अपने कर्मों द्वारा मुक्त भी हो सकता है। जीव किस प्रकार मुक्त हो सकता है? जीव इस प्रकार मुक्त हो सकता है:—

आश्रव—कुछ मानसिक हेतुओं से समीपवर्ती कर्म पुद्गल का जीव की ओर आना।

बन्ध—कर्म का पूर्ण रूप से जीव के अन्दर प्रवेश हो जाना।

अब—

१—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः तत्वार्थ। सूत्र–१/१

२—गीता–२/६६

३—दे० जैन दर्शन का जीवन सूत्र

संवर—सम्यक् ज्ञान और आत्म संयम से नये कर्मों का प्रवेश रोकना।

निर्जर—संचित कर्मों का नाश होना अथवा झड़ना। यह संवर के बाद स्वतः होता है, परन्तु इसमें भी जीव अपनी साधना द्वारा शीघ्रता ला सकता है।

मोक्ष—जीव और कर्म के सम्बन्ध का विच्छेद हो जाना।

यह विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए कि बन्ध की प्रक्रिया में कर्म स्वतः प्रवृत्त होता है, न कि ईश्वर की इच्छा से-जैसा कि हिन्दू धर्म मानता है। कर्म के द्वारा बँधने की यह प्रक्रिया दो प्रकार से होती है:—

(१) परम सत्य का अज्ञान

(२) मनोवेग

सर्वप्रथम सन्यासी अपनी योग-साधना के द्वारा नये कर्मों का संवर करता है, तब पूर्व कर्मों का निर्जर अपने आप होने लगता है। जब पूर्व कर्मों का पूर्ण रूप से निर्जर हो जाता है, तब जीव मोक्षावस्था को प्राप्त हो जाता है।

कभी कभी लोग जैन धर्म को नास्तिक धर्म कहते है, जो उचित नही है। जैन धर्म को नास्तिक धर्म कहना एक प्रकार से हास्यास्पद सा है। यदि नास्तिक का अर्थ—वह धर्म या दर्शन जो 'आत्मा के अस्तित्व', नैतिक चरित्र, पुनर्जन्म में विश्वास नही करता है तो केवल चार्वाक' नास्तिक है। जैन धर्म, बौद्ध धर्म से भी अधिक आध्यात्मिक तथा नैतिक है। यदि 'ईश्वर की सत्ता' अस्वीकार करना नास्तिकता है तो जैन धर्म नास्तिक है, परन्तु 'ईश्वर की सत्ता' अस्वीकार करना नास्तिकता नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सांख्य तथा मीमांसा दर्शन षष्ठ दर्शनों के अन्तरगत नही आते जो कि आस्तिक दर्शन कहे जाते है। ईश्वरवादी दर्शन प्रायः ईश्वर पर मानवत्व का आरोप कर देते है। वे ईश्वर को नीचे मनुष्य के स्तर पर ले आते हैं। इसके विपरीत जैन धर्म मनुष्य (तीर्थङ्कर) को ही तब ईश्वर के रूप मे देखता है, जब उसकी सहज शक्तियाँ उसी की साधना द्वारा पूर्ण विकास की अवस्था में होती है। यहाँ पर जीव के सर्वोत्तम स्वरूप के लिए ही एक दूसरा शब्द है। वह है तीर्थङ्कर। आदर्श ही मनुष्य ही मनुष्य का आदर्श है और उसकी सिद्धि की एकमात्र साधना यह है कि हम आदर्श मनुष्यो को उदाहरण के रूप में अपने सामने रखे तथा उसी तरह प्रयत्न करे जिस तरह अन्य जीवों ने किया था। ऐसा आदर्श हमें पूरी आशा और प्रोत्साहन देता है; क्योंकि जो एक जीव कर चुका है तो दूसरा जीव भी कर सकता है। साधना का केवल इतना ही महत्त्व नहीं है कि मन, राग-द्वेष, ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियों का नियन्त्रण अर्थात् केवल इन्द्रिय-वृत्तियों का निरोध ही नही है, वरन् उनकी कुप्रवृत्तियो का दमन कर उन्हें विवेक के मार्ग पर लगाना भी है। आधुनिक युग में जो कलह और द्वेष है उसका एकमात्र कारण यह है कि हम अपने कुप्रवृत्तियों का दमन नही कर पा रहे है। इस प्रकार जैन धर्म हमारे सामने एक नया आदर्श रखता है, जो आज के युग के लिए बहुत कल्याणकारी है।

बंगाल के जैन पुरातत्त्व की शोध में पाँच दिन

—भँवरलाल नाहटा

—***—

बीसो वर्ष से श्री ताजमल जी बोथरा के साथ बङ्गाल के सराक क्षेत्रो मे पुरातत्त्व शोध के हेतु भ्रमण करने का विचार चल रहा था, परन्तु काल-परिपाक के बिना सभव न हो सका। अभी जब समय आया तो न जेठ महीने के कड़ धूप की ओर न साधन सामग्री की ही अपेक्षा की गई और निकल पडे एक सीमित समय और क्षेत्र की परिधि में भ्रमणार्थ। हमारे साथ थे अंग्रेजी 'जैन जर्नल' व बङ्गला 'श्रवण' के सम्पादक श्री गणेश जी ललवानी। हम सर्व-प्रथम ता० २३ मई की रात्रि में रवाना होकर ता० २४ के उष काल मे विष्णुपुर पहुँचे। गाड़ियों के लेट चलने से हमे काली रात्रि नही, उषाकालीन प्रकाश अनायास ही उपलब्ध हो गया। हम लोग रिक्शों द्वारा सीधे श्री रामपद मण्डल नामक सराक भाई के यहाँ पहुँचे। शौच स्नानादि से निवृत्त होकर रिक्शो पर हम लोग द्वारकेश्वर नदी के लम्बे कछार को पार कर धरापात नामक स्थान में पहुँचे। मार्ग मे कई शिवालयादि देव मन्दिरो का समूह दृग्गोचर हुआ जो केवल एक गर्भगृह-शिखरी थे और उनके प्रवेश द्वार की चौड़ाई अत्यन्त सङ्कुरी रखने की प्रथा देखने में आई। धरापात मे हमे जो मन्दिर देखना अभीष्ट था, देव प्रतिमा से विहीन और एक ब्राह्मण ठाकुर (पुजारी) का आश्रय-स्थान सा हो रहा था। प्रस्तुत मन्दिर के तीनों ओर ताकों में विशाल प्रतिमाये विराजित थी जिनमें पृष्ठ भाग वाली में भगवान् ऋषभदेव—आदिनाथ वामपक्ष से प्रदक्षिणा करते प्रथम शान्तिनाथ भगवान् और अन्त में तीसरे आले में जैनेतर प्रतिमा लगी हुई थी। ये दोनो जिन प्रतिमाये लगभग हजार-बारह सौ वर्षों जितनी प्राचीन अवश्य ही थी। इस मन्दिर के ठीक पीछे सड़क के पार एक और मन्दिर था जिसमें भगवान् पार्श्वनाथ की एक सप्तफण मण्डित खड्गासन प्रतिमा विद्यमान थी। इन क्षेत्रो में जहाँ भी जिन प्रतिमाये हैं, उन्हें कही नेगटेश्वर शिव, कहीं भैरव और कही अन्यान्य नामों से पुकारते है। इन सभी प्रतिमाओं में मूलनायक तीर्थङ्कर में मूलनायक तीर्थ-ङ्कर के लांछन एवं परिकर में अन्य प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं। पहले की दोनों प्रतिमाओ के परिकर मे चौबीस तीर्थ ङ्कर उभयपक्ष मे अवस्थित हैं जबकि भगवान् पार्श्वनाथ के परिकर मे महाप्रातिहार्यो के अतिरिक्त विष्णु प्रतिमा निर्माणार्थ दो हाथ और खोद कर बना दिये है।

धरपात से लौटकर हम लोग विष्णुपुर आये और भोजनोपरान्त बस द्वारा औंधा होते हुए पहुँचे। वहाँ उत-रने के लिये पूछने पर नाम साम्य से भ्रान्त सह यात्रियो के कहने पर हम कई मील आगे चले गये, जहाँ से एक दूसरे गाँव 'बेलारा' जाने का मार्ग था। रेलवे क्रासिंग पर प्रतीक्षा करते दूसरी गाड़ी आने पर हम लोग वापस औंधा पहुँचे। वहाँ हमें दो रिक्शे मिले जिन्हें मुँहमाँगे चौदह रुपयों मे भाड़ा करके हम लोग 'बहुलारा' गाँव आये। वृक्षो के झुर-मुट वाले गाँव के बाहर एक बहुत ही ऊँचे शिखर वाले कलापूर्ण मन्दिर के विशाल अहाते मे हम लोग पहुँचे। यहाँ का शिल्प प्रशसनीय है और स्थापत्य शैली को देखकर

भुवनेश्वर आदि उत्कल प्रान्तीय मन्दिरो की स्मृति ताजी हो जाती है। इसके आस-पास कभी छोटे-छोटे दूसरे मन्दिर भी थे जो अब ध्वस्त हो चुके हैं। नीचे की तरफ कुछ चौरस और गोल चौकियाँ बनी हुई है जो किन्ही ध्वस्त स्तूपो के प्रतीक हो ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इस मन्दिर के चतुर्दिक् शिल्पाकृतियाँ उत्कीर्णित हैं। मन्दिर के मध्य मे शिव मूर्ति है। सामने वेदी पर तीन प्रतिमाये हैं। मध्यवर्त्ती प्रतिमा भगवान् पार्श्वनाथ की है जिसे वहाँ वालो ने 'अनन्तदेव' की प्रतिमा बतलाया। मालूम देता है कि कभी वहाँ अनन्तदेव गोत्रीय सराको की बस्ती रही होगी। यह पार्श्वनाथ प्रतिमा अष्ट महाप्रातिहार्य और धरणेन्द्र पद्मावती युक्त है। ऊपर सप्तफण और पृष्ठ भाग में भी सर्पाकृति है। परिकर में उभयपक्ष मे अष्टग्रह की प्रतिमायें स्पष्ट निर्मित हैं, बङ्गाल और बिहार की सहस्राब्दि पूर्ववर्त्ती मूर्तिकला मे सेव ग्रहो के आकार स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। राजगृह-वैभारगिरि के खण्डहर स्थित प्रतिमा के परिकर में ऐसी ही नवग्रह प्रतिमायें है जिनकी वेशभूषा हमें कुषाणकालीन समय तक ले जाकर खडा कर देती है, जबकि परिवर्त्ती काल में पश्चिम भारत मे वे केवल सूक्ष्म चिह्न मात्र पच तीर्थियों में अवशिष्ट रह गये थे। भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा के निम्न भाग में धरणेन्द्र पद्मावती हैं और मूर्ति-निर्मापक दम्पत्ति-युगल की चैत्य वन्दना करती हुई प्रतिमायें तो प्रायः सभी तीर्थकर प्रतिमाओ में उपलब्ध हैं। यह मन्दिर पुरातत्त्व विभाग के अधीन है।

बहुलारा से वापस आते औंधा होकर विष्णुपुर पहुँचते पहुँचते भगवान् अंशुमाली अस्ताचल पर आ खड़े हुए। हमने रात्रि में रामपद मण्डल के घर में विश्राम किया और प्रातःकाल विष्णुपुर के ऐतिहासिक स्थानों की शोभा देखने के लिये निकल पड़े।

विष्णुपुर इस समय बाँकुड़ा जिले में है, मध्यकाल में यह स्थान मल्लभूमि की राजधानी थी और आज भी दुकानों के साइनबोर्डों तक में अनेकशः यह नाम अभिहित देखा जाता है। हम सर्वप्रथम पुरातत्त्व विभाग के अधीन 'रासमंच' नामक स्थान में गये। कहा जाता है कि रास के विशेष अवसर पर समस्त मन्दिरों के विग्रह यहाँ लाये जाते थे, परन्तु इस 'रासमच' स्थान की निर्माण शैली ऐसी विचित्र है कि इतने विशाल पिरामिड आकृति वाले इस स्थान मे स्तभ बाहुल्य तीन जगती के अन्तराल में सर्वत्र दर्शन दुर्लभ होते हैं। इसे सन् १५८७ ई० के आस-पास वीर हमीर नामक मल्ल राजा ने निर्माण करवाया था। इस मन्दिर के सामने एक अहाते में दल मादल नामक विशालकाय अद्भुत तोप रखी हैं जो सन् १७४२ की बनी हुई है। इस कमान का वजन ३०० मन है और साढे बारह फुट लम्बी है। इसका मुहाना १ फुट का है और बनाने मे एक लाख रुपये लगे थे। सन् १७४२ मे जब मल्ल राज्य पर मराठो ने आक्रमण किया तब यही तोप उनकी रक्षा मे काम आती थी।

विष्णुपुर के अनेक मन्दिर बडे ही सुन्दर शिल्पाकृति वाले बङ्गाल की अद्भुत कला शैली से युक्त हैं। जिस प्रकार आबू के जैन मन्दिरो में प्रस्तर भास्कर्य अपनी सूक्ष्मता की पराकाष्ठा के प्रबल प्रतीक हैं उसी प्रकार यहाँ के मन्दिर अपने टालो भॉस्कर्य निर्माण के लिये बेजोड और अद्भुत हैं। राधा माधव का मन्दिर सन् १७३७ में राजा कृष्णसिंह की पत्नी रानी चूडामणि देवी ने बनवाया था। यहाँ से लाल बांध नामक विशाल जलाशय को देखने गये, इसके पास सर्वमङ्गला देवी का मन्दिर है। जब स्वामी रामकृष्ण परमहंस यहाँ दर्शन करने आये, तब उन्हें भाव समाधि हो गई थी। लाल बांध से आते समय एक टेकरी पर 'गुमगढ' नामक स्थान दृष्टिगोचर हुआ जो गवाक्ष-द्वारादि से बिहीन विचित्रता युक्त था। कहा जाता है कि मल्ल राजा लोग लूट का माल इसी स्थान में सुरक्षित प्रच्छन्न रखते थे।

श्यामराय का मन्दिर सन् १६४३ ई० में रघुनाथसिंह ने निर्माण कराया था। आश्चर्य तो यह है कि इतने विशाल मन्दिर में कही इच भर भी जगह शिल्पाकृति से रिक्त नहीं छोड़ा। जोड़ा शिव मन्दिर—कृष्ण बलराम मन्दिर रघुनाथ सिंह द्वितीय द्वारा विस्थापित है। जोड़ बङ्गला मन्दिर भी प्रशस्त कोरणी युक्त है, इसकी छत का निर्माण दो संलग्न दुचालों वाले बङ्गले की भाँति है। राधा श्याम मन्दिर सन् १०५८ मे राजा चैतन्यसिंह द्वारा प्रतिष्ठापित है। विभिन्न पौराणिक और अवतार चरित्रादि की शिल्प समृद्धि अत्यंत प्रेक्षणीय है। सन् १६५८ में लाल जी मन्दिर की प्रतिष्ठा

राजा श्री वीरसिंह ने करवाई थी।

सतरहवी शती के उत्तरार्द्ध में राजा वीरसिंह ने पत्थरों द्वारा प्रवेशद्वार का निर्माण करवाया, दुर्ग-प्रवेश के लिये पूर्वकाल मे यही एक प्रवेश द्वार था। आगे चलने पर एम प्रस्तरमय त्रिमंजिला रथ आता है। प्रस्तरमय रथ की प्रथा बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा के अतिरिक्त सुदूर मैसूर राज्य के हम्पी तक मे पाई जाती है। हम्पी का रथ बड़ा ही सुन्दर है और इसी प्रकार कोणार्क का भी। रथयात्रा की प्रथा एक ऐसी प्राचीन प्रथा है जिससे लोगों को घर बैठे भगवान् के दर्शन हो जाते थे। वसुदेव हिण्डी नामक प्राचीन महत्वपूर्ण जैन ग्रन्थ में इसे अति प्राचीन काल से चली आयी परम्परा बतलायी है।

मदनमोहन मन्दिर की प्रतिष्ठा सन् १६६४ में राजा दुर्जनसिंह ने करवाई थी। यह भी बङ्गाल की तत्कालीन टाली की कोरणी (Terracota) का सुन्दर नमूना है। मल्लेश्वर शिव मन्दिर का निर्माण भी सन् १६२२ में वीर हमीरसिंह ने करवाया था।

विष्णुपुर में शंख-शिल्पियों का काम भी खूब जोरों पर है। सैकड़ों घर इसी व्यापार-उद्योग से अपने परिवार का पालन करते है। शख को प्रस्तर शिलाओं पर घिस कर अर्द्ध चन्द्राकार क्रकच (करोत) से अगूठी सांखा चूड़ी आदि विविध प्रकार की वस्तुयें तैयार करते हैं। शंख का करोत विरहिणी के विरह की भाँति जाते आते दोनो तरफ काटता ही रहता है। विष्णुपुर के ताँती लोग वस्त्र बुनते हैं, ठठेरे कसेरे बर्तन बनाते हैं। यहाँ सराक बन्धुओं के लगभग ३० घर होंगे। सराकों के घरों में खड्डियाँ लगी हैं और वे सूत वस्त्रादि का व्यवसाय करते हैं।

विष्णुपुर से ता० २५ शुक्रवार को हम लोग बस द्वारा बाँकुड़ा आये। जिले का मुख्य नगर होने से बाँकुड़ा एक बहुत बडा नगर है। सुख सुविधापूर्ण मारवाड़ी धर्मशाला, नूतनगंज में ठहरे और बीकानेर के ही एक अनुभवी सहृदय व्यास जी के सुप्रबन्ध में दो दिन रहे। भोजनोपरांत जीप लेकर यहाँ से हम हाडमासरा गये। वहाँ गाँव के अन्त में एक पत्थर के शिखरयुक्त छोटा मन्दिर देखा जिसमें बल्मीक के ढेर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। इसके पीछे जङ्गल में एक पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा खड़ी थी, जिस पर ग्राम्य जन कभी कभार सिन्दूर आदि की टीकी लगा देते होंगे। पर आश्चर्य है कि एक दुकानदार ने हमें जैन मन्दिर बतलाते हुए इस स्थान पर पहुँचा दिया। बहुलारा वाली प्रतिमा की भाँति इस प्रतिमा के परिकर में अष्टग्रह, महाप्रातिहार्य, धरणेन्द्र पद्मावती और बिम्ब निर्माता युगल की सुरुचिपूर्ण कलाभिव्यक्ति प्रेक्षणीय थी। हाडमासरा से हम लोग जीप मे तत्काल लौट आये।

दूसरे दिन ता० २६ को प्रातःकाल हम रिक्शे द्वारा बाँकुड़ा धर्मशाला से 'इकतेश्वर' महादेव गये। वहाँ इस की बड़ी ख्याति है। मन्दिर के बाहर नारियल, प्रसाद, मिष्ठान्न की दुकाने हैं और पण्डे लोग खडे रहते हैं। मन्दिर में कुछ सीढियाँ उतरने पर जमीन पर रहे हुए एक स्वाभाविक त्रिकोण से लम्बे पाषाण खंड के तलघर में दर्शन हुए। कहा जाता है कि यहाँ भगवान् शङ्कर का यही रूप है। इस चमत्कारी स्थान पर भक्त लोग 'धरणा' देकर सो जाते हैं और अपने कार्यसिद्धि का वरदान पाकर ही लौटते हैं, ऐसा कहा जाता है।

बाँकुड़ा मे बस द्वारा हम गौरावाड़ी गये। वहाँ से कंसावती नदी के तट पर बँधे हुए बाँध के पास पारसनाथ नामक गाँव था। गाँव के स्थान पर सरकार की ओर से बाँध का काम चालू है, इसलिये गाँव वालो के कथनानुसार हमें आशा थी कि वहाँ जाने के लिये सरकारी ट्रकों द्वारा जाने आने की सुविधा मिल जायेगी पर जहाँ हम गौरावाड़ी की कालोनी में उतरे, सभी आफिस शायद शनिवार या अन्य किसी कारण से बन्द थे। हमे एक विद्यार्थी और एक महिला का अच्छा साथ मिल गया जो अपने-अपने गाँव जा रहे थे। हम पैदल ही उनके साथ चल पड़े। मध्याह्न का समय था, विद्यार्थी ने हमें तीन चार मील साथ चलकर जहाँ बाँध का सरकारी आफिस था, पहुँचा दिया और उसने अपने गाँव का मार्ग पकड़ा।

बाँध के पास पहाड़ी टीले पर सरकारी आफिस था। पारसनाथ गाँव का तो नाम शेष हो गया पर वहाँ आफिस के पृष्ठ भाग में हमने एक शिव मूर्ति, नन्दी और कुछ प्रस्तर खण्ड देखे। इसी पहाड़ी पर भगवान् पार्श्वनाथ की एक विशाल प्रतिमा जो दो टुकड़ों में विभक्त थी, वहाँ वालो ने हमें बतलाया। यह प्रतिमा परिकर में चौबीसी प्रतिमायें,

बिम्ब निर्माता-युगल और धरणेन्द्र पद्मावती युक्त थी। सिंहासन के सिंह और हंस के आकार भी परिलक्षित थे। वहाँ के आफ़िसरों के साथ उस प्रतिमा के फोटो लिये और एक मार्ग बताने वाले मजदूर को साथ लेकर हमने अम्बिका नगर का मार्ग पकड़ा। जाते समय तो हमें कड़कड़ाती धूप में चलते कहीं क्षणिक बादलों की छाया मिल जाती थी पर लौटते समय सारा आकाश मेघाच्छन्न हो गया और जोरों से तूफान चलने लगा। हम तूफान की शीतल हवा का आनन्द लेते हुए शीघ्र गति से चलते रहे पर जब वर्षा प्रारम्भ हुई तो हमें सड़क के पास ही एक ग्राम्य स्कूल का बरामदे वाला खाली कमरा मिल गया, जिसमे हमने तत्काल आश्रय ग्रहण कर लिया। पाँच दस बटोही और भी आकर बैठ गये। यह तो सयोग की ही बात थी। यदि जङ्गल में यह स्थान न मिलता तो बड़ी दुर्दशा होती, अस्तु। जब वर्षा तूफान बन्द होकर आसमान साफ हो गया तो हम लोग कसावती और कुमारी नदी के सङ्गम पर बसे अम्बिकानगर मे नदी के पार जा पहुँचे।

अम्बिका नगर, अम्बिका देवी के मन्दिर के कारण प्रसिद्ध है। मन्दिर के पुजारी महोदय को हमने बुलवा कर मन्दिर खुलवाया। इसके शिलालेख मे विदित हुआ कि इस मन्दिर का जीर्णोद्धार सन् १३२० ता० १६ फाल्गुण को राजा राइचरण धवल ने रानी लक्ष्मीप्रिया देवी की स्मृति मे कराया था। वस्त्र परिधान युक्त देवी के स्वरूप प्रतिमा लक्षणादि का हम ठीक ठीक आकलन न कर सके पर यह खड़ी हुई मूर्ति है और जैन शासनदेवी अम्बिका मूर्ति से अभिन्न कथंचित् भिन्न शैली की परिलक्षित हुई।

अम्बिका नगर मे अम्बिका मन्दिर के पृष्ठ भाग में एक जैन मन्दिर अवस्थित है, जिसमें थोड़ा अन्धेरा पड़ता था पर उसमें प्रतिष्ठित—अवस्थित भगवान् आदिनाथ, ऋषभदेव स्वामी की सपरिकर प्रतिमा अत्यन्त सुन्दर है। प्रभु के पृष्ठ भाग में तोरण, जो समवशरण के तोरण का प्रतीक है और प्रभामण्डल की कलापूर्ण है। भगवान् के मस्तक पर जटा केशविन्यास अत्यन्त सुन्दर हैं। सिंहासन के नीचे वृषभ लाछन स्पष्ट है। प्रभु प्रतिमा प्रायः करके अखण्ड और अत्यन्त मनोज्ञ है। अम्बिका मन्दिर के दाहिनी और चौकी पर कुछ शिलाकृति-गोवर्द्धन और कुछ लिपि वाला प्रस्तर भी पड़ा था, हमें जल्दी लौटना था अतः अम्बिका नगर के मिष्ठान्न भण्डार से कुछ मिष्ठान्न और जल लेकर हम नदी पार होकर बाँकुड़ा जाने वाली बस में आकर बैठ गये। यथासमय बाँकुड़ा पहुँच कर धर्मशाला में निवास किया।

बाँकुड़ा की धर्मशाला बड़ी विशाल है, रहने की सब प्रकार की सुविधा है। सोने के लिये खटिया उपलब्ध हो जाती है, जिसकी आमदनी से पारावत-कबूतर लोग दाना चुगते हुए निर्माताओं, अनुमोदकों, व्यवस्थापकों की पुण्य वृद्धि करते है। धर्मशाला की दीवारों पर सैकड़ो सुभाषित और शिक्षाप्रद दोहे श्लोक लिखे हुए हैं जो बड़ी प्रेरणादायक सुरुचिपूर्ण पद्धति है।

बाँकुड़ा से दूसरे दिन प्रातःकाल रवाना होकर हम रेल द्वारा इन्द्रबीला पहुँचे और स्टेशन से अनतिदूर स्थित 'महाल कोक' नामक गाँव में गये। यहाँ हमारे पूर्व परिचित जयहरि श्रावक का निवास स्थान है। ये सराक भाई सुसंस्कृत और जैन शिक्षा-दीक्षा से सुपरिचित होने के साथ साथ राजस्थान, बङ्गाल, बिहार, महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तरप्रदेशादि के सभी जैन तीर्थों मे घूमे हुए हैं और जैन के प्रचार कार्य व साधुजन सेवा मे ही इनकी रुचि रही रही है। कई वर्ष पूर्व जब यहाँ से निकटवर्ती तालाजुड़ी गाँव मे भगवान् आदिनाथ स्वामी की पद्मासनस्थ प्रतिमा तालाब के पाल पर प्रकट हुई थी, उस समय मैं श्री ताजमल जी साहब बोथरा के लघु भ्राता श्री हनुमानमल जी बोथरा के साथ यहाँ आया था। और इन्ही के यहाँ प्रेमपूर्ण वातावरण में ठहर कर तालाजुड़ी जाकर प्रभु दर्शन किये। अब यह प्रतिमा श्री ताजमल जी बोथरा एवं तत्रस्थ सराक बन्धु के प्रयत्न से कलकत्ता आ गई और बड़े मन्दिर में विराजमान है। महाल कोक में कुल ३० घरो की छोटी सी साफ सुथरी बस्ती है जिसमें १२ घर सराको के हैं। हमने यहाँ एवं इधर के कई गाँवों में हिन्दुओं के घरों की दीवाल पर चारो ओर एक काली सी धारी पट्टी दृष्टिगोचर होती है जो रोहण-मनसा पूजा का प्रतीक बतलाया जाता है। सराक लोग जैन धर्माचार विस्मृत होकर बङ्गाल के देवी पूजा आदि को मान्य करने लगे हैं पर शताब्दियाँ बीत गई सम्पर्क छूट गया फिर भी खान-पान में शुद्ध निरामिष

भोजी संस्कार आज भी विद्यमान हैं।

हमारा उद्देश्य था कि भाई जयहरि को साथ लेकर पाकबेडरा आदि उधर के प्राचीन जैन खण्डहरादि स्थानों में घूम कर जैन-अवशेषों का अध्ययन करें पर वे स्वयं उस तरफ गये हुए नहीं थे अतः उन्हें कष्ट न देना उचित समझ हम उनके यहाँ एक दिन एक रात्रि का आतिथ्य ग्रहण कर रेल द्वारा आद्रा आये। रेल लेट होने से पूंचा जाने वाली बस निकल चुकी थी अतः तीन घण्टों की प्रतीक्षा कर दूसरी बस से बारह बजे 'पूंचा' गाँव आये। यहाँ से दो ढाई मील दूर पाकबेडरा है। हमें तो वहाँ जाकर तत्काल लौटना था, क्योंकि ढाई बजे की बस निकल जाने से हमें फिर एक अहोरात्र वहीं रहना पडता। अतः अपना सामान वहीं सुनील ठाकुर नामक सज्जन की दुकान के पास रख कर शीघ्र गति से हम लोग पाकबेडरा पहुँचे। उस दिन वहाँ मेला होने से ग्राम्य जन सैकडों की संख्या में एकत्र थे। मदोन्मत्त स्त्री पुरुषों का समूह अपने गले में ढोल-ढक्कादि वाजित्र बजाते हुए नाच रहा था। वे लोग जिनेश्वर भगवान् की प्रतिमाओं को भैरव मानकर पूजते थे। पाकबेडरा की सभी प्रतिमायें और भग्नावशेष एक ही अहाते मे रखे हुए थे, जिसमें प्रविष्ट होने पर आसानी से दर्शन किया जा सकता था। इसमें अवस्थित सभी जिन प्रतिमायें अव्यवस्थित ढङ्ग से पडी थीं। ७ फुट ऊँची खड्गासन स्थित श्री पद्मप्रभु स्वामी की प्रतिमा—जिसका परिकर नहीं था, केवल उभय पक्ष में चामरधारी इन्द्र अव-शिष्ट थे। प्रभु लांछन भी पूजन सामग्री से ढक जाने से दृष्टिपथ लुप्त था—के दर्शन किये जो ग्राम्य जनों के पूजना केन्द्र थे।

पाकबेडरा के इस स्थान में तीन चार मन्दिर आज भी खडे है पर वे खाली पडे हैं और अखण्डित-खण्डित सभी अवशेष इसी अहाते में लाकर रख लिये गये है। यहाँ कतिपय विभिन्न शैली और विधाओं की प्रतिमायें दृष्टि-गोचर हुई। भगवान् आदिदेव, ऋषभ प्रभु की पाँच प्रति-मायें है, जिनमें दो चौबीस तीर्थंकरो की प्रतिमा परिकर युक्त है। एक पंचतीर्थी परिकर युक्त और दो खण्डित हैं, जिनमे से एक के तो दो खण्ड हुए पडे है। भगवान् महा-वीर की दो प्रतिमायें हैं जिनमें एक पंचतीर्थी परिकर, तोरण, भामण्डलादि प्रातिहार्य युक्त है। यहाँ की प्रति-माओं के तोरण उपरि भाग में न होकर प्रभु के पृष्ठ भाग सांची-तोरण की भाँति हैं। अम्बिका नगर की ऋषभदेव प्रतिमा का तोरण इसी प्रकार का है। दूसरी प्रतिमा के परिकर में अष्टग्रह प्रतिमायें विद्यमान हैं। अम्बिका देवी की एक खड़ी हुई प्रतिमा है एवं तीन प्रतिमाएँ वृक्ष युक्त हैं। जिनमें एक में उपरि भाग में जिन प्रतिमा, वृक्ष के नीचे यक्ष-यक्षिणी और निम्न भाग में सप्त ग्रह मूर्तियाँ हैं। दूसरी प्रतिमा के निम्न भाग में सिंहासन के नीचे दो कलश बने हुए हैं, जिनकी रचना शैली बङ्गाल के कलशों से अभिन्न है। तीसरी प्रतिमा भी वृक्ष तल में यक्ष यक्षिणी वाली है। एक शांतिनाथ स्वामी की खण्डित प्रतिमा है जिसमें प्रभु का लांछन हरिण स्पष्ट परिलक्षित है। एक तीर्थंकर प्रतिमा और एक चतुर्विंशति तीर्थङ्कर प्रतिमा है। एक चौमुख मन्दिर सर्वतोभद्र और एक चतुर्मुख स्तूप भी इन प्रतिमाओं के मध्य में विद्यमान है।

यहाँ मैंने जिन यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाओं का उल्लेख किया है वस्तुतः यह निर्णय नहीं कई विद्वानों ने इन्हें भगवान् के माता-पिता और कइयों ने यक्ष-यक्षिणी माना है पर मेरे विचार से यह विषय अभी विचारणीय है अतः स्त्री-पुरुष जोड़ी कह सकते हैं। माता-पिता की प्रतिमा वृक्ष के नीचे हो और वृक्ष पर अर्हन्त प्रतिमा हो, यह बात तर्क-सङ्गत नहीं लगती। भगवान् की माताओं की मूर्तियाँ "चतुर्विंशति जिन मातृ पट्टक" बीकानेर, जैसलमेर आदि अनेक स्थानों में विद्यमान हैं पर उनमें माता की गोद में बालक भगवान् को दिखाया गया है। लगभग ३१ वर्ष पूर्व क्षत्रिय कुण्ड लछुवाड़ की धर्मशाला में मैंने एक काली पाषाण की लेख सहित पन्द्रह सौ वर्ष से भी प्राचीन प्रतिमा त्रिशला माता और गोद में भगवान् महावीर की देखी थी जो कुछ दिन बाद ही वहाँ से गायब हो गई। शिल्प शास्त्र और मूर्ति विज्ञान के विद्वान् इस पर विशेष प्रकाश डालें। जबू वृक्ष शाल्मलि आदि पर शाश्वत जिन बिम्बों का उल्लेख है, जिनके भी शास्त्रों में वर्णन मिलते हैं। हमारे संग्रह में एक दो सौ वर्ष प्राचीन सुंदर चित्र में वृक्ष पर अर्हन्त प्रतिमा और सामने चतुर्विध संघ, पूजोप-करण लिये भक्तादि दिखाये हैं, पर वह भाव भी किस हेतु

का है, विचारणीय है।

वस्तुतः बङ्गाल का प्राचीन धर्म ही जैन धर्म था। बङ्गाल में यत्र तत्र सर्वत्र जैन अवशेष ही पाये जाते हैं। हमें इन स्थानों में कहीं भी बौद्ध प्रतिमायें दृष्टिगोचर नहीं हुई। इन विभिन्न शैली और कलात्मक प्रतिमाओं का अध्ययन समय सापेक्ष है। हम तो वहाँ केवल पन्द्रह मिनट ही रुके थे। जिन प्रतिमा निर्माण शैली का प्रवाह सर्वत्र व्याप्त था। ऐसी प्रतिमाये बिहार में भी देखने में आई है।

पाकबेडरा से हम दो बजे पूंचा पहुँच गये और बस में बैठकर सीधे पुरुलिया स्टेशन आ पहुँचे। यद्यपि श्री ताजमल जी साहब और भी स्थानों में चलना चाहते थे और तीर्थाधिराज श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा करने की प्रबल भावना थी पर मौसम और मार्ग प्रतिकूलता ने हमे कलकत्ता लौटने को बाध्य कर दिया।

जैन तीर्थ श्रावस्ती

—प० बलभद्र जैन

—***—

मार्ग—श्रावस्ती उत्तरप्रदेश के बलरामपुर-बहराइच रोड पर अवस्थित है। यह सड़क मार्ग से अयोध्या से १०६ कि० मी० है जो इस प्रकार है—अयोध्या से गोंडा ५० कि०मी०। गोंडा से बलरामपुर ४२ कि०मी०। बलराम-से श्रावस्ती १७ कि०मी०। यह प्राचीन नगर है किन्तु अब तो यह खण्डहरो के रूप में बिखरा पड़ा है। इस नगरी के खण्डहर गोंडा और बहराइच जिलो की सीमा पर 'सहेट-महेट' नाम से बिखरे पडे हैं। ये अर्धचन्द्राकार स्थिति में एक मील चौडे और सवा तीन मील लम्बे क्षेत्र में बिखरे हुए है। रेल मार्ग से यहाँ पहुँचने के लिये उत्तर पूर्वी रेलवे के गोंडा-गोरखपुर लाइन के बलरामपुर स्टेशन पर उतरना चाहिये। यहाँ से क्षेत्र पश्चिम में है। यह बलरामपुर से बहराइच जाने वाली सड़क के किनारे पर है। एक छोटी सड़क खण्डहरो तक जाती है। सहेट-महेट पहुँचने का सुगम साधन बलरामपुर-बहराइच के बीच चलने वाली सरकारी बस है। इसके अलावा बलरामपुर से टैक्सी, जीप आदि भी मिलती हैं। यहाँ ठहरने के लिये जैन धर्मशाला बनी हुई है।

जैन तीर्थ—श्रावस्ती प्रसिद्ध कल्याणक तीर्थ है। तीसरे तीर्थकर भगवान् सभवनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवल ज्ञान कल्याणक यही हुए थे। चारों प्रकार के देवों और उन मनुष्यों ने इन कल्याणकों की पूजा और उत्सव किया था। भगवान् संभवनाथ का प्रथम समवशरण यही लगा था और उन्होंने यही पर धर्मचक्र प्रवर्तन किया था।

आर्ष ग्रन्थ तिलोय पण्णत्ति में निम्न प्रकार का उल्लेख मिलता है:—

सावित्थीए संभवदेवो य जिदारिणा सुसेणाए।
मग्गसिर पुण्णिमाए जेट्ठारिक्खम्मि संजादो ॥५२८

अर्थात् श्रावस्ती नगरी में सभवनाथ मगसिर शुक्ला पूर्णिमा को ज्येष्ठा नक्षत्र में उत्पन्न हुए। उनके पिता का नाम जितारि और माता का नाम सुषेणा था।

इसी प्रकार पद्म पुराण, नराग चरित, हरिवश पुराण उत्तर पुराण आदि में भी उल्लेख मिलते है।

संभवकुमार ने अपना बाल्यकाल और युवावस्था यहीं बिताई। उन्होने राज्य शासन और सांसारिक भोगों का भी स्वाद लिया। लेकिन एक दिन जब उन्होंने हवा के द्वारा मेघों को गगन मे विलीन होते देखा तो उन्हे जीवन के समस्त भोगों की क्षणभगुरता का यकायक अनुभव हुआ और उन्हे संसार से वैराग्य हो गया। फलत मंगसिर शुक्ला पूर्णमासी को श्रावस्ती के सहेतुक वन में दीक्षा ले ली। तब इन्द्रों, देवो और मनुष्यों ने भगवान् का तप कल्याणक मनाया।[1] चौदह वर्ष तक भगवान् ने घोर तप किया और जब घातिया कर्म नष्ट करके कार्तिक कृष्णा ४ को केवल ज्ञान हो गया, तब भी देवो और मनुष्यों ने श्रावस्ती[2] के सहेतुक बन में बडे उल्लास के साथ ज्ञान कल्याणक का पूजन किया। इस प्रकार इस नगरी को भगवान् सभवनाथ के चार कल्याणक मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इससे यह पवित्र नगरी एक महान् तीर्थ के रूप में मान्य हो गई है।

हरिवश पुराण (सर्ग २८ श्लोक २६) के अनुसार जित शत्रु नरेश के पुत्र मृगध्वज ने श्रावस्ती के उद्यान में

१—तिलोयपण्णत्ति—४/६४३, ६४६
२ ,, —४/६८१

मुनि बनकर सिद्ध पद पाया।

करकण्डु चरित्र (पृष्ठ १८१) में वर्णन आया है कि श्रावस्ती के प्रसिद्ध सेठ नागदत्त ने स्त्री चरित्र से खिन्न हो कर मुनि दीक्षा ले ली और अन्त मे यही से मुक्ति-पद प्राप्त किया। इस प्रकार श्रावस्ती सिद्ध क्षेत्र भी है।

यहाँ पर भगवान् महावीर का समवसरण कई बार आया था और भगवान् का उपदेश सुनकर श्रावस्ती के अधिकांश नागरिक महावीर के भक्त बन गये थे।

श्रावस्ती नरेश जयसेन बौद्ध धर्म का उपासक था। एक बार आचार्य यति ऋषभ वहाँ पधारे। राजा प्रजा सभी उनके दर्शनार्थ गये। उनका उपदेश सुनकर राजा ने जैन धर्म धारण कर लिया। शिवगुप्त को इससे बड़ा क्षोभ हुआ। वह पृथ्वी नरेश सुमति के पास गया, जो शिवगुप्त का शिष्य था। उसने राजा से शिकायत की। राजा ने एक धूर्त को जयसेन की हत्या करने का कार्य सौंपा। वह धूर्त श्रावस्ती पहुँचा। उसने आचार्य यति वृषभ स मुनि-दीक्षा ले ली। एक दिन राजा जयसेन मन्दिर मे मुनि वन्दना के लिये गया। जब वह नव दीक्षित मुनि के चरणों में झुका तो उस धूर्त ने राजा की हत्या कर दी और भाग गया। आचार्य ने यह देखकर विचार किया कि लोग मेरे ऊपर हत्या का सन्देह करेगे। अतः उन्होने दीवार पर घटना लिखकर आत्महत्या कर ली।

—हरिसेण कथाकोस कथा १५६

पार्श्व परम्परा के मुनि केशी से भ० महावीर के पट्ट गणधर गौतम स्वामी की भेंट श्रावस्ती मे ही हुई थी। भगवान् महावीर के कई चातुर्मास भी यहाँ हुए थे। इस प्रकार के स्पष्ट उल्लेख श्वेतांबर आगमों में मिलते है।

प्राचीन काल में यहाँ पर जैनों के अनेकों मन्दिर और स्तूप बने हुए थे। भ० सम्भवनाथ का विशाल मन्दिर भी यहाँ निर्मित हुआ था। इस मन्दिर के सम्बन्ध में श्री जिन प्रभ सूरि ने विविध[1] तीर्थ कल्प में लिखा है—'यहाँ का भगवान् सभवनाथ का विशाल जिन भवन रत्न निर्मित था, जिसकी रक्षा मणिभद्र यक्ष किया करता था। इस यक्ष के प्रभाव से मन्दिर के किवाड़ प्रातः होते ही स्वयं खुल जाते थे और सूर्यास्त होते ही बंद हो जाया करते थे।'

१—श्रावस्ती नगरी कल्प

इस सुन्दर जिन भवन को सुलतान अलाउद्दीन ने बह-राइच की विजय के समय तोड दिया।

इतिहास—आद्य तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने ५२ जनपदो की रचना की थी। उनमे एक कोशल देश भी था। कोशल के दक्षिणी भाग की राजधानी साकेत या अयोध्या थी जो सरयू के दक्षिण तट पर अवस्थित थी। उत्तरी कोशल की राजधानी श्रावस्ती थी जो अचिरावती (राप्ती) के दक्षिण तट पर स्थित थी। लगता है कोशल देश का यह विभाजन बहुत पश्चाद्वर्ती काल मे हुआ। क्योंकि भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा लेते समय अपने सौ पुत्रो को जिन देशो का राज्य दिया था, उन देशो मे कोशल देश का ही नाम आया है। चक्रवर्ती भरत की दिग्विजय के प्रसङ्ग मे भी मध्य देश मे कोशल का नाम मिलता है। परवर्ती काल मे कोशल जनपद का नाम कुणाल या कुलाल[2] भी प्रसिद्ध हो गया।

महावीर से पहले जिन सोलह महाजनपदो की और छह महानगरियो की चर्चा प्राचीन साहित्य मे मिलती है, उनमें श्रावस्ती का भी नाम है। उस समय कोशल राज्य बड़ा शक्तिशाली था। काशी और साकेत पर भी कोशलो का अधिकार था। शाक्य सघ इन्हें अपना अधीश्वर मानता था। यह महाराज्य दक्षिण में गङ्गा और पूर्व मे गण्डक नदी को स्पर्श करता था[3]। इस काल मे श्रावस्ती में एक विश्वविद्यालय भी था।

महावीर के समय में श्रावस्ती का राजा प्रसेनजित था। यह बडा प्रतापी नरेश था। उसने अपनी बहन का विवाह मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के साथ कर दिया था और काशी की आय दहेज मे दे दी थी। प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ अथवा विदूरथ ने राजगृह से अपने राजनैतिक सम्बन्ध सुदृढ करने के लिये अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह श्रेणिक के पुत्र कुणिक अथवा अजातशत्रु के साथ कर दिया था। किन्तु काशी के ऊपर दोनों राज्यों का झगड़ा बराबर होता रहा। कोशल नरेश ने एक बार काशी को राजगृह

१—'भूगोल'—संयुक्त प्रान्ताङ्क पृष्ठ २८६
२—हरिषेण कथाकोश कथा ८१
३—आचार्य चतुरसेन शास्त्री—वैशाली की नगरवधू 'भूमि' पृष्ठ ७९२

के प्रभाव से मुक्त कर लिया था किन्तु अजातशत्रु ने काशी को जीत कर अपने राज्य मे मिला लिया।

प्रसेनजित के सम्बन्ध मे श्वेताम्बर आगमों में कुछ उल्लेख मिलता है। यहाँ प्रसेनजित के स्थान पर प्रदेशी नाम दिया गया है। उसे पार्श्वत्यि सम्प्रदाय के केशी का अनुयायी बताया गया है। बाद में वह भगवान् महावीर का अनुयायी बन गया।

बौद्ध ग्रन्थो में भी प्रसेनजित के स्थान पर पसदि नाम आया है। बौद्ध ग्रन्थ 'अशोकावदान'[१] मे प्रसेनजित के पूर्ववर्ती और पश्चाद्वर्ती वशधरो के नाम मिलते है। उसके अनुसार ब्रत (वक), रत्नञ्जय, सजय, प्रसेनजित, विदूरथ, कुमुलिक, सुरथ और सुमित्र इस वंश के राजा हुए। सुमित्र को महापद्म नन्द ने पराजित करके कोशल को पाटलिपुत्र साम्राज्य मे आत्मसात् कर लिया। अशोकवदान की इस वंशावली का समर्थन अन्य सूत्रो[२] से भी होता है।

भरहुत में जो प्रसेनजित स्तम्भ है, वही इसी प्रसेनजित का बताया जाता है।

प्रसेनजित के साथ शाक्य वंशी क्षत्रियो ने किस प्रकार मायाचार किया, उसकी कथा अत्यन्त रोचक है। प्रसेनजित ने शाक्य संघ से एक सुन्दर कन्या की याचना की। शाक्य लोग उसे अपनी कन्या नही देना चाहते थे, किन्तु उस प्रबल प्रतापी नरेश को असन्तुष्ट भी नही कर सकते थे। अत: उन्होंने एक दासी-पुत्री के साथ उसका विवाह कर दिया। इसी दासी पुत्री से विदूरथ का जन्म हुआ था।

एक बार विदूरथ युवराज अवस्था में अपनी ननसाल कपिलवस्तु गया। वहाँ उसे शाक्यो के मायाचार का पता चल गया। उसने शाक्य संघ को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की। घर पर आकर उसने अपने पिता से यह बात कही। इस प्रसङ्ग पर दोनों में मतभेद हो गया। नौबत यहाँ तक पहुँची कि विदूरथ ने पिता को राज्यच्युत कर दिया। प्रसेनजित महारानी मल्लिका को लेकर राजनैतिक शरण लेने राजगृह पहुँचे। किन्तु नगर के बाहर ही दोनो की मृत्यु हो गई।[१]

विदूरथ अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शाक्य सघ पर आक्रमण करने तीन बार गया, किन्तु बौद्ध ने तीनो बार उसे रोक दिया। चौथी बार बुद्ध का विहार अन्यत्र हो रहा था, उस समय विदूरथ ने शाक्य संघ का विनाश कर दिया। जब उसकी सेना लौट कर एक नदी के किनारे पड़ाव डाले हुए थी, तभी जोरो की ओलावृष्टि हुई। नदी मे बाढ़ आ गई और सब बह गये।

भगवान् महावीर ने जब दीक्षा ली, उससे प्राय: आठ माह पहले कुणाला (कोशल) देश में भयङ्कर बाढ आ गई। उसमे श्रावस्ती को बहुत क्षति पहुँची।[२] बौद्ध अनुश्रुति है कि अनाथ पिण्डद सेठ सुदत्त की अठारह करोड़ मुद्रा अचिरावती के किनारे गडी हुई थी। वे भी इस बाढ़ मे बह गई। श्वेताम्बर आगमो के अनुसार यह बाढ कुरुण और उत्कुरुण नामक दो मुनियो के शाप का परिणाम थी। किन्तु कुछ समय बाद यह नगरी पुन: धनधान्य से परिपूर्ण हो गई। जैन शास्त्रों के अनुसार इस नगर में ऐसे सेठ भी थे, जिनके भवनों पर स्वर्णमण्डित शिखर थे और उन पर छप्पन ध्वजाये फहराती थीं। जो इस बात की प्रतीक थी कि उस सेठ के पास इतने करोड़ स्वर्णमुद्राये हैं।

वास्तव में अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण श्रावस्ती अत्यन्त समृद्ध नगरी थी। इसका व्यापारिक सम्बन्ध सुदूर देशो से था। यहाँ से एक बड़ी सडक दक्षिण के प्रसिद्ध नगर प्रतिष्ठान (पैठण, जि० औरङ्गाबाद) तक जाती थी। इस पर साकेत, कौशाम्बी, विदिशा, गोनर्द, उज्जयिनी, माहिष्मती आदि नगर थे। एक दूसरी सड़क यहाँ से राजगृही तक जाती थी। इस मार्ग पर सेतव्य, कुशीनारा, पावा, हस्तिग्राम, भण्डग्राम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्दा पड़ते थे। तीसरा मार्ग गङ्गा के किनारे-किनारे जाता था। अचिरावती नदी से गङ्गा और यमुना में

१–*Records of the Western World Part I & II, by Rev. Beal*

२–*Chronology of India, by Mrs. M. Duff*

१–*Early History of India, by Vincent Smith*
The Hindu History of India, by A.K. Mazamdor

२–*Life in ancient India, P. 256*

नौकाओं द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जाता था। ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं कि विदेह से गान्धार, मगध से सौवीर, भरुकच्छ से समुद्र के रास्ते दक्षिण पूर्व के देशो से व्यापार होता था।

स्वातन्त्र्य सेनानी सुहृद्ध्वज—श्रावस्ती की यह समृद्धि और स्वतन्त्रता १२-१३ वीं शताब्दी तक ही सुरक्षित रह सकी और उसकी सुरक्षा का अन्तिम सफल प्रयत्न श्रावस्ती नरेश सुहृद्ध्वज या सुहृत्देव ने किया। कनिघम[1] तथा स्मिथ[2] ने भी इसका समर्थन किया है। यह राजा जैन था। उस समय महमूद गजनवी भारत के अनेक प्रांतो को रौंदता हुआ गजनी लौट गया। उसने अपने भानजे सैयद सालार मसऊदगानी को अवध-विजय के लिये मुसलमानों की विशाल सेना के साथ भेजा। सालार जितना बहादुर सिपहसालार था, उतना ही कूटनीतिज्ञ भी था। उसने अनेकों हिन्दू राजाओ को फूट डालकर अथवा युद्ध में गायों को आगे करके पराजित कर दिया। किन्तु जब वह बहराइच के समीप कौड़ियाला के मैदान में पहुँचा तो उसे दृढ सङ्कल्पी जैन नरेश सुहलदेव से मोर्चा लेना पड़ा। इस युद्ध में सन् १०३४ मे सैयद सालार और उसके सैनिक राजा सुहलदेव के हाथो मारे गये।[3] इससे श्रावस्ती भी सुरक्षित रही और लगभग दो सौ वर्ष तक अवध भी मुसलमानों के आतङ्क से मुक्त रहा।

किन्तु इस घटना के कुछ समय पश्चात् किसी दैवी विपत्ति के कारण श्रावस्ती का विनाश हो गया। उसके बाद अलाउद्दीन खिलजी ने आकर यहाँ के मन्दिरो, विहारों स्तूपो और मूर्तियो का बुरी तरह विनाश किया। उसके कारण श्रावस्ती खण्डहरो के रूप में परिवर्तित हो गई और फिर कभी अपने पूर्व गौरव को प्राप्त न कर सकी।

पुरातत्व—यह नगरी प्रारम्भ से तीर्थ क्षेत्र के रूप मान्य रही है तथा खूब समृद्ध रही है। अतः यहाँ विपुल सख्या में मन्दिरो, स्तूपो और विहारो का निर्माण हुआ। मौर्य युग मे सम्राट् अशोक ने कई स्तम्भ और समाधि स्तूप बनवाये थे। उसके पौत्र सम्राट् सम्प्रति ने भगवान् सम्भवनाथ की जन्मभूमि पर स्तूप और मन्दिरों का निर्माण कराया था। किन्तु अलाउद्दीन खिलजी (१२९६ १३१६) ने इन कलाकृतियो और धर्मायतनों का विनाश कर दिया। उसके खण्डहर सहेट-महेट ग्राम में मीलों तक बिखरे पड़े हैं। भारत सरकार की ओर से यहाँ सन् १८६३ से पुरातत्ववेत्ता जनरल कनिघम, वेनेट, होय, फागल, दयाराम साहनी, मार्शल आदि की देख-रेख में कई बार खुदाई कराई गई। इस खुदाई के फलस्वरूप जो महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई है, वह लखनऊ और कलकत्ता के म्यूजियमों में सुरक्षित है। इस सामग्री में स्तूपों, मन्दिरो और विहारो के अवशेष, मूर्तियाँ, ताम्रपत्र, अभिलिखित मुद्रे आदि है। यह सामग्री ई० पू० चौथी शताब्दी से लेकर १२ वी शताब्दी के अन्त तक की है। एक ताम्रपत्र के अनुसार, जो कन्नौज के राजा गोविन्द चन्द्र का है, ज्ञात होता है कि सहेट प्राचीन जेतवन (बौद्ध विहार) का स्थान है और महेट प्राचीन श्रावस्ती है। महेट के पश्चिमी भाग में जैन अवशेष प्रचुर मात्रा में मिले हैं। यह भाग इमलिया दरवाजे के निकट है। यही पर भगवान् सम्भवनाथ का जीर्ण शीर्ण मन्दिर है जो अब सोमनाथ मन्दिर कहलाता है। सोभनाथ संभवनाथ का ही विकृत रूप है। इस मन्दिर की रचना पर ईरानी शैली की छाप है। इसके नीचे प्राचीन जैन मन्दिर के अवशेष हैं। मन्दिर के ऊपर गुम्बद साबुत है किन्तु दो तरफ की दीवारें गिर चुकी हैं। वेदी के स्थान पर एक पाँच फुटी महरावदार अलमारी बनी हुई है। गर्भ गृह १०×१० फुट है। उत्तर, पूर्व और दक्षिण की ओर द्वार है। दीवार का आसार साढ़े तीन फुट है। गर्भगृह के बाहर एक चबूतरा है। उसके आगे नीचाई में दो आँगन हैं। ऐसा लगता है कि यह मन्दिर तीन करनियों पर बना था। इसका पूर्वी भाग कंकरीले फर्श वाला समचतुर्भुज आंगन है जो पूर्व से पश्चिम ५९ फुट और उत्तर से दक्षिण ४६ फुट चौड़ा है। इसके चारों ओर ईंटों की दीवार है

१—आर्क० सर्वे रिपोर्ट ऑफ इण्डिया भाग २ पृष्ठ ३१६-३२३

२—जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी सन् १९०० पृष्ठ १

३—अब्दुर्रहमान चिश्ती कृत 'मीराते मसऊदी'—सुहलदेव ने उन्हें उनके पड़ाव बहराइच में आ घेरा। यहीं मसऊद रज्जबुल मुरज्जब १८ वीं तारीख को ४२४ हिजरी में (सन् १०३४ ई०) अपनी सारी सेना सहित मारा गया।

जिसमें मध्यकालीन मन्दिरो की शैली की घड़ी हुई छोटी ईंटे लगी हैं। दीवार के अन्दरूनी भाग में वेदियां बनी हुई हैं। खुदाई के समय यहाँ बहुत सी जैन मूर्तियाँ मिली थीं। कहा जाता है, यहाँ चौबीस तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ थी। इस मन्दिर के उत्तर पश्चिमी कमरे में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की एक मूर्ति मिली थी। एक शिलापट पर पद्मासन मुद्रा में भगवान् विराजमान हैं। पीठासन के दोनो ओर सामने दो सिंह बैठे हुए हैं। मध्य में ऋषभदेव का लांछन वृषभ है। भगवान् के दोनों ओर दो यक्ष खडे हैं। उनके ऊपर तीन छत्र सुशोभित है। इसके अतिरिक्त शिला पट पर तेईस तीर्थंकरों की मूर्तियां उकेरी हुई हैं। यह मूर्ति बड़ी भव्य है और लगभग एक हजार वर्ष प्राचीन है।

कई मूर्तियों के आसन पर शिलालेख उत्कीर्ण हैं। इन लेखों के अनुसार प्रतिमाओ का प्रतिष्ठा काल वि० संवत् ११३३, १२३४ है। इनके अलावा यहाँ चैत्यवृक्ष, शासन देवियों की मूर्तियां आदि भी प्राप्त हुई हैं। ये सब प्रायः मध्यकालीन कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

सोभनाथ मन्दिर के बाहर पुरातत्व विभाग की ओर से जो परिचय-पट लगा हुआ है, उस पर इसका परिचय इस प्रकार लिखा है:—

"यह एक जैन मन्दिर है। सोभनाथ भगवान् संभवनाथ का अपभ्रंश ज्ञात होता है। संभवनाथ तीसरे जैन तीर्थङ्कर थे और उनकी जन्मभूमि श्रावस्ती थी। यहाँ से कितने ही जैन आचार्यों (तीर्थङ्करों) की प्रतिमाये प्राप्त हुई हैं। इस मन्दिर के किसी विशेष भाग की कोई निश्चित तिथि तय नहीं की जा सकती है। इसके ऊपर का गुम्बद, तो उत्तरकालीन भारतीय-अफगान शैली का है, प्राचीन जैन मन्दिर के शिखर पर बनाया गया है।

पुरातत्ववेत्ताओं (मि० कनिंघम आदि) की मान्यता है कि इस मन्दिर के आस-पास १८ जैन मन्दिर और थे। जिनके अवशेषो पर पेड़ और झाड़ियाँ उग आई है। चारों ओर का जङ्गल अवशेषों पर ही है। कुछ लोगों का विश्वास है कि चन्द्रप्रभु भगवान् का जन्म स्थान यहीं था और इन ध्वस्त मन्दिरो में से कोई था।

सोभनाथ मन्दिर के निकट ही दो टीले है एक का नाम है पक्की कुटी और दूसरे का नाम है कच्ची कुटी। दोनों टीलो पर धनुषाकार दीवार बनी हुई है। दोनों ही टीलों का सूक्ष्म अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि यहाँ पर अवश्य ही स्तूप रहे होंगे।

बौद्ध तीर्थ—सहेट भाग बौद्ध तीर्थ रहा है। म० बुद्ध के निवास के लिये सेठ सुदत्त ने राजा प्रसेनजित के पुत्र राजकुमार जेत से उसका उद्यान 'जेत बन' अठारह करोड़ मुद्रा में खरीद कर एक बिहार का निर्माण कराया था। सेठानी विशाखा ने भी 'पूर्वाराम' नाम का एक सङ्घाराम बनवाया था। सम्राट् अशोक ने एक स्तूप का निर्माण कराया था। म० बुद्ध ने यहाँ कई चातुर्मास किये थे। इन सब कारणों से बौद्ध लोग भी इसे अपना तीर्थ मानते हैं। देश-विदेश के बौद्ध यहाँ यात्रा करने आते हैं। यहाँ बौद्धों के तीन नवीन मन्दिर भी बन चुके है। वैशाखी पूर्णिमा को उनका मेला भी भरता है।

वर्तमान जैन मन्दिर—बलरामपुर से बहराइच जाने वाली सड़क के किनारे एक जैन मन्दिर बना हुआ है। मन्दिर शिखरबद्ध मन्दिर के बाहर तीन ओर बरामदे बने हुए हैं। एक हाल मे एक वेदी बनी हुई है। भगवान् सम्भवनाथ की श्वेत वर्ण पद्मासन पौने चार फुट अवगाहना वाली भव्य प्रतिमा विराजमान है। इसकी प्रतिष्ठा सन् १९६६ में की गई थी। मूलनायक के अतिरिक्त २ सम्भवनाथ की, १ महावीर स्वामी की तथा १ सिद्ध भगवान् की धातु प्रतिमायें भी विराजमान हैं। भगवान् के चरण-युगल भी अङ्कित हैं।

मन्दिर उद्यान के दांये बाजू में है। सामने यही जैन धर्मशाला भी है।

लेखक की 'भारत के जैन तीर्थ' पुस्तक के प्रथम भाग से साभार

कवि धनपाल

कवि धनपाल 'धर्कटवंश' नामक वैश्य कुल मे उत्पन्न हुआ था। इसके पिता का नाम माएसर और माता का नाम धनसिरि (धन श्री) देवी[1] था। प्रस्तुत धर्कट या धक्कड़ वश प्राचीन है। यह वश १० वी शताब्दी से १३ वी शताब्दी तक बहुत प्रसिद्ध रहा है और इस वश मे अनेक प्रतिष्ठित श्री सम्पन्न पुरुष और अनेक कवि हुए हैं। भविष्य दत्त कथा का कर्ता प्रस्तुत धनपालो पावन वश में उत्पन्न हुआ था। जिसका समय १० वीं शताब्दी है। धम परीक्षा (सं० १०४४) के कर्ता हरिषेण इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। जम्बूस्वामि चरित्र के कर्ता वीर कवि (स० १०७६) के समय मालव देश मे धक्कड़ वंश के मधुसूदन के पुत्र तक्खडु श्रेष्ठी का उल्लेख मिलता है। जिनकी प्रेरणा से जम्बूस्वामि चरित्र रचा गया है।[2] स० १२८७ के देलवाड़ा के तेजपाल वाले शिलालेख में 'धर्कट' जाति का उल्लेख है। इससे इस वंश की महत्ता और प्रसिद्धि का सहज ही बोध हो जाता है। धनपाल अपभ्रंश भाषा के अच्छे कवि थे और उन्हे सरस्वती का वर प्राप्त था। जैसा कि कवि के निम्न वाक्यों से—'चिंतिय-धण वालि वणि वरेण, सरसइ बहुलद्ध महावरेण।' प्रकट है। कवि का सम्प्रदाय दिगम्बर था, यह उनके—'भजि बिजेण हियं वारि लायउ।' (सन्धि ५-२०) के वाक्य से प्रगट है। इतना ही नहीं किन्तु उन्होने १६ वे स्वर्ग के रूप मे अच्युत स्वर्ग का नामोल्लेख किया है, यह दिगम्बर मान्यता है। आचार्य कुन्द-कुन्द की मान्यतानुसार सल्लेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत स्वीकार किया है।[3] कवि के अष्ट मूल गुणों का कथन १० वीं शताब्दी के आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिध्युपाय के निम्न-लिखित पद्य से प्रभावित है: —

> मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बर फलानि यत्नेन।
> हिंसा व्युपरतिकामै मोक्तव्यानि प्रथममेव॥ (३–६१)
> 'महु मज्जमंसु पंचुंवराइं खज्जंतिण अब्भंतर समाइं।'

आचार्य अमृतचन्द्र की इस मान्यता को उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्यों ने (सोमदेव,

---

१—धक्कड वणि वंसि माएसर हो समु० भविण।
धणसिरिदेवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण। (अन्तिम प्रशस्ति)

२—अहमालवम्मि धण-कणदरसी, नयरी नामेण सिधु वरिसी।
तहिं धक्कड वणे वंस-तिलउ, यह सूवण वंदणु गुणणिलउ।
णामेण सेट्ठि तक्खडुवसई, जस पउहु जामु तिहुमणि रसइ। (जंबू प्रशस्ति)

३—मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बर पञ्चकैः। अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूल गुणाः श्रुतौ। (उपासका २२, २७०)
महु मज्झुमंस विरईचिता श्री पुण उंबराता पंचण्हं।
अठ्ठेठे मूलगुणा हवंति फुड, देस विरयम्मि। (गा० २५६)
तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसा मपासितुम्।
मद्य मांस-मधुन्युज्झेतु-पंचक्षीरो फलानि च।। (सा० २-२)

प० परमानन्द जैन शास्त्री

देवदेव, प० आशाधर ने) अपने ग्रन्थों में अपनाया है। इन सब प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कवि धनपाल दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान् थे।

भविष्यदत्त कथा —

प्रस्तुत कथा अपभ्रंश भाषा की रचना है। प्रस्तुत कृति में ३४४ कडवक है। जिनमें श्रुत पंचमी के व्रत का माहात्म्य बतलाते हुए उसके अनुष्ठान करने का निर्देश किया गया है। साथ ही भविष्यदत्त और कमयश्री के चरित्र-चित्रण द्वारा उसे और भी स्पष्ट किया गया है। ग्रन्थ का कथा भाग तीन भागों में बाँटा जा सकता है। चरित्र घटना बाहुल्य होते हुए भी कथानक सुन्दर बन पड़े है। उनमें साधु-असाधु जीवन वाले व्यक्तियो का परिचय स्वाभाविक बन पड़ा है। कथानक मे अलौकिक घटनाओं का समीकरण हुआ है, परन्तु वस्तु वर्णन मे कवि के हृदय ने साथ दिया है। अतएव नगर, देशादिक और प्राकृतिक वर्णन सरस हो सके हैं। ग्रन्थ में रस और अलङ्कारों के पुट ने उसे सुन्दर और सरस बना दिया है। ग्रन्थ मे जहाँ शृङ्गार वीर और शान्त रस का वर्णन है वहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वाभावोक्ति और विरोधाभास अलङ्कारों का प्रयोग भी दिखाई देता है। भाषा मे लोकोक्तियाँ और वाग्धाराओ का प्रयोग भी मिलता है।

यथा—कि घिउ होइ विरोलिए पाणिए—पानी के बिलोने से क्या घी हो सकता है?

अण इच्छियइ होंति जिय दुक्खइं सहसा परिणवनि तिह सोक्खइं।—जैसे यदृच्छया दुख आते हैं, वैसे ही सहसा सुख भी आते हैं।

जोव्वण वियार रसवस पसरि सो सूरउ सो पंडियउ।
चल मम्मण वयणुल्ला वएहिं जो परतियहिं खंडियउ॥
(३–१८–६)

वही शूरवीर है, वही पण्डित है, जो यौवन के विषय विकारो के बढने पर परस्त्रियो के चञ्चल कामोद्दीपक वचनो से प्रभावित नही होता।

जहा जेण वत्तं तहा तेण पत्तं इमं सुच्चए सिट्ठ लोएण वुत्तं।
सुपाउव्वा कोद्दवा जत्त माली कहं सो नरो पावए तत्थ
साली॥ (पृष्ठ ८४)

जो जैसा देता है, वैसा ही पाता है, यह शिष्ट लोगो ने सच कहा है। जो माली कोदों बोता है वह शाली कहाँ से प्राप्त कर सकता है।

इन सुभाषितों और लोकोक्तियों से ग्रन्थ और भी सरस बन गया है।

ग्रन्थ का कथा भाग तीन भागों में बाँटा जा सकता है। यथा—

१—व्यापारी पुत्र भविष्यदत्त की संपत्ति का वर्णन, भविष्यदत्त अपने सौतेले भाई बन्धुदत्त से दो बार धोखा खाकर अनेक कष्ट सहता है, किन्तु अन्त में उसे सफलता मिलती है।

२—कुरुराज और तक्षशिला नरेशो में युद्ध होता है, भविष्यदत्त उसमे प्रमुख भाग लेता है और उसमें विजयी होता है।

३—भविष्यदत्त तथा उसके साथियों का पूर्वजन्म वर्णन।

कथा का संक्षिप्त सार :

भरत क्षेत्र के कुरु जांगल देश में गजपुर नाम का एक सुन्दर और समृद्ध नगर था। उस नगर का शासक भूपाल नाम का राजा था। उसी नगर में धनपाल नाम का नगर सेठ रहता था। वह अपने गुणों के कारण लोक में प्रसिद्ध था। उसका विवाह हरिबल नाम के सेठ की सुन्दर पुत्री कमलश्री से हुआ था। वह अत्यन्त रूपवती और गुणवती थी। बहुत दिनों तक उसके कोई सन्तान न हुई अतएव वह चिन्तित रहती थी। एक दिन उसने अपनी चिन्ता का कारण मुनिवर से निवेदन किया। मुनिवर ने उत्तर में कहा, तेरे कुछ दिनो मे विनयी, पराक्रमी और गुणवान् पुत्र होगा, और कुछ समय बाद उसके भविष्यदत्त नाम का पुत्र हुआ। वह पढ़ लिखकर सब कलाओं में निष्णात हो गया।

धनपाल सुरूपा नाम की पुत्री से अपना दूसरा विवाह कर लेता है। उसके बन्धुदत्त नाम का पुत्र हुआ। जब वह युवा हुआ, तब बहुत उत्पात मचाने लगा। नगर के सेठों ने मिलकर विचार किया कि वह युवतियो से छेड़खानी करता है, अतः उसे कंचनपुर जाने के लिये तैयार रहना चाहिए। सप्रोजन व्यवसाय के निमित्त बन्धुदत्त को भेजने के लिये तैयार हो गये। और बन्धुदत्त को अपने साथियों के साथ कंचनद्वीप जाते हुए देखकर भविष्यदत्त भी अपनी

माता के बार-बार रोके जाने पर भी उसके साथ हो लिया। जब सुरूपा को पता चला तो बन्धुदत्त को सिखाकर कहा कि तुम भविष्यदत्त को किसी तरह समुद्र में छोड़ देना। जिससे बन्धु बान्धवों से उसका मिलाप न हो सके। परन्तु भविष्यदत्त की माता उसे उपदेश देती हुई कहती है कि परधन और परनारी को स्पर्श न करना। पाँच सौ वणिकों के साथ दोनों भाई जहाज में बैठकर चले। कई द्वीपान्तरों को पार कर उनका जहाज मदनाग द्वीप के समुद्र तट पर जा लगा। प्रमुख लोग जहाज से उतर कर मदनाग पर्वत की शोभा देखने लगे। बन्धुदत्त धोखे से भविष्यदत्त को वहीं एक जङ्गल मे छोड़कर अपने साथियों के साथ आगे चला जाता है। बेचारा भविष्यदत्त भटकता हुआ उजड़े हुए एक समृद्ध नगर में पहुँचता है। वहाँ पहुँच कर जिन मन्दिर मे चन्द्रप्रभु की पूजा करता है। उसी उजडे नगर में वह एक सुन्दर युवती को देखता है। उसी से भविष्यदत्त को पता चलता है कि वह समृद्ध नगर असुरों द्वारा उजाड़ा गया है। कुछ समय बाद वह असुर वहाँ आता है और भविष्य दत्त का उस सुन्दरी से विवाह कर देता है।

इधर पुत्र के चिरकाल तक न लौटने से कमलश्री सुव्रता नाम की आर्यिका से उसके कल्याणार्थ 'श्रुत पंचमी व्रत' का अनुष्ठान करती है। उधर भविष्यदत्त भी माँ का स्मरण होने से सपत्नीक और प्रचुर सम्पत्ति के साथ घर लौटता है। लौटते हुए उनकी बन्धुदत्त से भेंट हो जाती है। जो अपने साथियों के साथ यात्रा मे असफल हो विपन्न दशा में था। भविष्यदत्त उनका सहर्ष स्वागत करता है। किन्तु बन्धुदत्त धोखे से उसकी पत्नी और प्रभूत धनराशि को लेकर साथियों के साथ नौका मे सवार हो वहाँ से चल देता है।

मार्ग में उसकी नौका पुनः पथभ्रष्ट हो जाती है और वे जैसे तैसे गजपुर पहुँचते हैं। घर पहुँच कर बन्धुदत्त भविष्यदत्त की पत्नी को अपनी पत्नी घोषित कर देता है। उनका विवाह होना निश्चित हो जाता है। कमलश्री लोगों से भविष्यदत्त के विषय मे पूछती है, परन्तु कोई उसे स्पष्ट नही बतलाता। कमलश्री मुनिराज से पुत्र के सम्बन्ध में पूछती है। मुनिराज ने कहा, तुम्हारा पुत्र जीवित है, वह यहाँ आकर आधा राज्य प्राप्त करेगा। एक महीने के बाद भविष्यदत्त भी एक पक्षी की सहायता से गजपुर पहुँचता है और अपनी माता से सब वृत्तान्त कहता है। माता को वह नागमुद्रिका देकर उसे भविष्यानुरूपा के पास भेजता है। स्वयं अनेक प्रकार के रत्नादि लेकर राजा के पास जाता है और उन्हें राजा को भेट करता है। भविष्यदत्त राजा को सब वृत्तान्त सुनाता है। परिजनों के साथ वह राजसभा मे जाता है और बन्धुदत्त के विवाह पर आपत्ति प्रकट करता है। राजा धनवइ को बुलाता है और बन्धुदत्त का रहस्य खुलने पर राजा क्रोधवश दोनों को कारावास का दण्ड देता है, पर भविष्यदत्त दोनों को छुड़वा देता है। राजा जयलक्ष्मी और चक्रलेखा नाम की दो दासियों को भविष्यानुरूपा के पास भेजता है। वे जाकर भविष्यानुरूपा से कहती हैं, राजा ने भविष्यदत्त को देश निकाले का आदेश दिया है और बन्धुदत्त को सम्मान। अतः अब तुम बन्धुदत्त के साथ रहो। किन्तु वह भविष्यदत्त मे अपनी अनुरक्ति प्रगट करती है। धनवइ नव दम्पत्ति को लेकर घर आता है। कमलश्री व्रत का उद्यापन करती है। वह जैन संघ को जेवनार देती है। वह पिता के घर जाने को तैयार होती है, पर कचनमाला दासी के कहने पर सेठ कमकश्री से क्षमा मांगता है। राजा सुमित्रा के साथ भविष्यदत्त के विवाह का प्रस्ताव रखता है।

कुछ समय बाद पाँचाल नरेश चित्रांग का दूत राजा भूपाल के पास आता है और कर तथा अपनी कन्या सुमित्रा को देने का प्रस्ताव करता है। राजा असमंजस में पड़ जाता है। भविष्यदत्त युद्ध के लिये तैयार होता है और साहस तथा धैर्य के साथ पाँचाल नरेश को बन्दी बना लेता है। राजा सुमित्रा का विवाह भविष्यदत्त के साथ करता है और राज्य भी सौंप देता है।

कुछ समय के बाद भविष्यानुरूपा के दोहला उत्पन्न होता है और वह तिलक द्वीप जाने की इच्छा करती है।

भविष्यदत्त सपरिवार विमान में बैठकर तिलक द्वीप पहुंचता है और वहाँ जिन मन्दिर मे चन्द्रप्रभु जिन की सोत्साह पूजन करता है और चारण मुनि के दर्शन कर श्रावक धर्म का स्वरूप सुनते हैं। अपने मित्र मनोवेग के पूर्वभव की कथा पूछता है और सभी सकुशल गजपुर लौट आते हैं। भविष्यदत्त बहुत दिनों तक राज्य करता है।

भविष्यानुरूपा के चार पुत्र उत्पन्न होते हैं—सुप्रभ, कनकप्रभ, सूर्यप्रभ और सोमप्रभ तथा तारा, सुतारा नाम की दो पुत्रियाँ उत्पन्न होती हैं। सुमित्रा से धरणेन्द्र नाम का पुत्र तथा तारा नाम की पुत्री उत्पन्न होती है।

कुछ समय बाद विमलबुद्धि मुनिराज गजपुर आते हैं। भविष्यदत्त सपरिवार उनकी वन्दना करने के लिये जाता है और उनसे अपने पूर्वभव जसकर देह भोगो से विरक्त हो, सुप्रभ को राज्य देकर दीक्षा ले लेता है और तपश्चरण द्वारा वैमानिक देव होता है और अन्त में मुक्ति का पात्र बनता है।

रचना काल.—

कवि धनपाल ने भविष्यदत्त कथा मे रचना काल नही दिया और न अपनी गुरु परम्परा ही दी। इससे रचना काल के निर्णय मे बड़ी कठिनाई हो रही है। ग्रन्थ की सबसे प्राचीन प्रतिलिपि स० १३६३ की उपलब्ध है, जैसा कि लिपि प्रशस्ति के निम्न पद प्रकट है:—

"संवच्छरे अङ्किरा विक्कमेणं, अहो एहितेण वदि तेरह सएणम्। वरिस्सिय पूसेण सेयम्मि पक्खे, तिहि बारसी सोमि रोहिणी रिक्खे॥ सुहज्जोइमय रणमो वुद्धपत्तो इमो सुन्दरो सत्थु सुहदिणि समत्तो॥"

यह शास्त्र सुसंवत्सर विक्रम तेरह सौ तिरानवे मे पौस मास शुक्लपक्ष द्वादशी सोमवार के दिन रोहिणी नक्षत्र मे शुभ घड़ी शुभ दिन में लिखकर समाप्त हुआ। उस समय दिल्ली में मुहम्मद शाह बिन तुगलक का राज्य था। इस ग्रन्थ की प्रति को लिखकर देने दिल्ली निवासी हिमपाल के पुत्र वाधू साहू थे। जिन्होंने अपनी कीर्ति के लिये अन्य अनेक शास्त्र, उपशास्त्र लिखवाये थे। यह भविष्यदत्त कथा उन्होने अपने लिये लिखवाई[1]। इससे यह ग्रन्थ स० १३६३ (सन् १३३६ ई०) से बाद का नही हो सकता, किन्तु उससे पूर्व रचा गया है।

डाक्टर देवेन्द्रकुमार ने मूल से इस लिपि प्रशस्ति को जो अग्रवाल वंशी साहु वाधू ने लिखयाई थी मूल ग्रन्थकर्ता धनपाल की प्रशस्ति समझ कर उसका रचना काल सवत् १३६३ (सन् १३३६) निश्चित कर दिया है। यह एक महान् भूल है, जिसे उन्होंने सुधारने का प्रयत्न नहीं किया।

जबकि डॉ० हर्मन जैकोबी ने इस ग्रन्थ का रचना काल दशवी शताब्दी से पूर्व माना जा सकता है, ऐसा लिखा है। श्री दलाल और गुणे ने भविसयत्त कहा की भूमिका में बतलाया है कि धनपाल की भविसयत्त कहा की भाषा हेमचन्द्र से अधिक प्राचीन है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ वि० स० १२ वी शताब्दी से पूर्व की रचना है। फिर भी डाक्टर देवेन्द्रकुमार ने वि० सं० १२३० मे रची जाने वाली विबुध श्रीधर को भविसयत्त कहा से तुलना कर धनपाल की कथा को अर्वाचीन बतलाने का दुस्साहस किया है। जबकि स्वयं उसके भाषा साहित्य को शिथिल (घटिया दर्जे का) माना है और लिखा है कि इन वर्णनो को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि काव्य, कवित्व शक्ति से भरपूर है। पर कल्पनात्मक, बिम्बार्थ योजना और अलङ्करणता तथा सौन्दर्यानुभूति की जो झलक हमें धनपाल की भविष्यदत्त कथा मे लक्षित होती है, वह इस काव्य (विबुध श्रीधर की कथा) मे नही है—"विबुध श्रीधर के भविष्यदत्त कथा की भाषा चलती हुई प्रसाद गुण युक्त है।" (देखो भविष्यत्त कथा तथा अपभ्रंश कथा काव्य पृष्ठ १५२) जबकि धनपाल की भविष्यत्त कहा की भाषा प्रौढ, अलंकरण और बिम्बार्थ योजना आदि को लिये हुए है। भाषा प्रांजल और प्रसाद गुण से युक्त है।

कवि धनपाल ने ग्रन्थ मे अष्ट मूल गुणों को बतलाते हुए मद्य, मांस और मधु के साथ पच उदम्बर फलों के त्याग को अष्टमूल गुण बतलाया है।

यथा—महु मज्जु मंसु पंचु बराइं खज्जंति ण अब्भंतर सयाइं। (भविसयत्त कहा १६८)

दशवी शताब्दी से पूर्व अष्टमूल गुणों में पच उदम्बर फलो का त्याग शामिल नही था, जैसा कि आचार्य समन्तभद्र के निम्न पद्य से प्रकट: —

श्री दलाल और गुणे द्वारा सम्पादित गायकवाड़ ओरिन्टियल सीरीज ग्रन्थाङ्क नं० २०, १९५२ ई० में प्रकाशित—

१—इहत्ते परत्ते सुहायार हेउ, तिणे लिहिम सुत पंचमी णियह हेउ। (अनेकान्त वर्ष २१ किरण १)

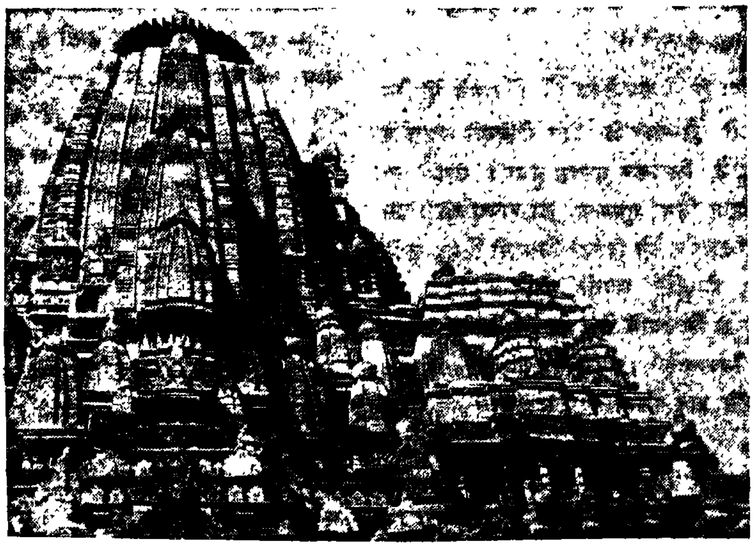
मद्य मांस मधु त्यागैः सहाणु व्रत पंचकम् ।
अष्टौमूल गुणानाः हुर्गहिणां श्रमणोत्तमा ॥
(रत्न करण्ड श्रावकाचार ४-६६)

आचार्य जिनसेन के बाद अष्टमूल गुणों में पाँच अणु व्रतो के स्थान पर पच उदम्बर फलों के त्याग को शामिल किया गया है। दशवी शताब्दी के अमृतचन्द्राचार्य के पुरुषार्थ सिध्युपाय के निम्न पद्य में अष्ट मूल गुणों में पच उदम्बर फलों का त्याग बतलाया है:—

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बर फलानि यत्नेन ।
हिंसा व्युपरति कामै मोंक्तव्यानि प्रथममेव ॥
(पुरुषार्थ सिध्युपाय ३-६१)

सोमदेवाचार्य के (१०१६) के उपासकाध्ययन में अष्ट मूल गुणो मे तीन मकारो (मद्य, मांस, मधु) के त्याग के साथ पञ्च उदम्बर फलो का त्याग भी बतलाया है। और इनके उत्तरवर्ती विद्वान् अमितगति, देवसेन, पद्मनन्दि, आशाधर आदि ने भी स्वीकृत किया है।

कवि धनपाल ने आचार्य अमृतचन्द्र से अष्ट मूल गुणो को ग्रहण किया है। यदि यह मान लिया जाये तो धनपाल का समय दशवी शताब्दी का अन्तिम चरण अथवा ग्यारहवी शताब्दी का प्रथम चरण हो सकता है। वे इसके बाद के ग्रन्थकार नहीं है।



प्राचीन जैन मन्दिर खजुराहो

प्रमेय रत्नालंकार एक परिचय

—प्रकाशचन्द्र जैन

— ※※※ —

यह छोटी सी पुस्तक जैन दर्शन पर नव्य न्याय की शैली से श्रवण बेल गोला जैन मठ के श्री चारुकीर्ति पंडिताचार्य स्वामी द्वारा माणिक्य नन्दी के परीक्षा मुख के सूत्रों की वस्तृत व्याख्या करने के लिये लिखी गई है। यह कहा जाता है कि माणिक्य नन्दी ने अपनी तर्कशास्त्र लिखने की प्रेरणा अकलङ्क देव से ग्रहण की थी। अकलङ्क देव आठवीं शताब्दी के मध्य हुए थे। तत्वार्थ सूत्र के रचयिता उमा स्वामी के पश्चात् जैन दर्शन के सबसे महान् विद्वान् अकलङ्क देव ही माने जाते हैं। अकलङ्क देव के समय तक जैन दर्शन रचना-प्रणाली में पर्याप्त परिवर्तन आ चुका था और उस समय की रचनायें बड़ी मात्रा में हिन्दू और बौद्ध पद्धतियों से प्रभावित हुई हैं। तत्वार्थ सूत्र से ये रचनायें बहुत ही भिन्न थी। तत्कालीन जैन दर्शन ग्रन्थों में प्राप्त प्रत्यक्ष और परोक्ष की परिभाषाएँ उमा स्वामी की परिभाषाओं से एकदम भिन्न हैं तथा हिन्दू तर्क शास्त्रियों की परिभाषाओं के अति सन्निकट है। प्रत्यक्ष ज्ञान की परिभाषा इस समय के ग्रन्थकारों ने यह दी है कि "वह ज्ञान प्रत्यक्ष है जो इन्द्रियों के विषय से सम्बन्ध रखता है तथा अप्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो इन्द्रियातीत विषयों को ग्रहण करता है।" ठीक इसी प्रकार ज्ञान का वर्गीकरण भी उसी प्रकार किया गया है जैसा कि हिन्दू तर्कशास्त्रों में किया गया है। उमा स्वामी द्वारा किये गये ज्ञान के वर्गीकरण से उसका तालमेल नहीं बैठता है।

माणिक्य नन्दी के परीक्षामुख सूत्र की दो टीकायें उपलब्ध हैं। पहली टीका तो प्रभाचन्द्र की न्यायकुमुद है। प्रभाचन्द्र का समय ९ वीं शताब्दी का प्रथम चतुर्थांश माना जाता है। दूसरी टीका अनन्तवीर्य या लघु अनन्तवीर्य के द्वारा लिखी गई है। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। प्रभाचन्द्र द्वारा रचित टीका प्रमेय कमल मार्तण्ड के नाम से विख्यात है तथा अनन्तवीर्य की टीका प्रमेय रत्नमाला और परीक्षामुख पञ्जिका के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत प्रमेय रत्नालङ्कार पुस्तक, परीक्षामुख के सूत्रों की टीका, प्रमेय कमल मार्तण्ड को अपना मुख्य आधार मानते हुए लिखी गई है। जैसा कि प्रारम्भिक परिचयात्मक श्लोकों में से छठे श्लोक के द्वारा प्रगट होता है। लेखक बार-बार उमा स्वामी, अकलङ्क देव, प्रभाचन्द्र और अनन्त वीर्य का निर्देश करके अपने विचारों का समर्थन करता है तथा सांख्य, न्याय, वैशेषिक भट्ट, प्रभाकर मुरारि मिश्रीय रामानुजीय अध्व और अद्वैत आदि अजैनों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का खण्डन करता है।

प्रमेय रत्नालङ्कार के रचयिता श्री चारुकीर्ति पंडिताचार्य मद्रास राज्य के वन्दीवाश तालुका के सतमङ्गला के समीपवर्ती एलङ्काडु ग्राम के मूल निवासी थे। वे एक जैन ब्राह्मण थे तथा जिनय्या के नाम से विश्रुत थे। इन्होंने अपने ग्राम में रहते हुए ही विशेष पण्डितों से व्याकरण और साहित्य की शिक्षा प्राप्त की थी। इसके बाद वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये जैन शिक्षा विद्यापीठ, मैसूर

राज्य मे स्थित श्रवणबेल गोला चले गये। वहाँ उन्होने तत्कालीन जैन गुरु कम्बय्य स्वामी के चरणो मे बैठकर जैन धर्म के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि तर्कशास्त्र के अध्ययन किये बिना इन धर्म ग्रन्थो पर पूर्ण अधिकार प्राप्त नही किया जा सकता। न्याय पढ़ने की उनमें तीव्र उत्कण्ठा थी। ठीक उसी समय मैसूर के एक ब्रह्मसूरि पण्डित नामक विद्वान् जिनका कि उस समय के मैसूर के राजा श्रीकृष्ण राजा वोदेयर तृतीय पर बहुत प्रभाव था, मठ के स्वामी जी के दर्शनार्थ श्रवण बेल गोला पधारे। स्वामी जी की छत्रछाया में अध्ययन करते हुए जिनय्या पर ब्रह्मसूरि पण्डित की कृपादृष्टि हुई। वे जिनय्या के व्यक्तित्व तथा विद्वत्ता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उसे मैसूर जाने की सलाह दे दी। जिनय्या ने कहा कि यदि उसके लिये तर्कशास्त्र के अध्यापन का विशेष प्रबन्ध किया जाये तो वह मैसूर जा सकता है। ब्रह्मसूरि पण्डित ने जिनय्या की इस बात को स्वीकार किया तथा वे उसे मैसूर ले आये। वहाँ उन्होंने इसको तर्कशास्त्र की उच्च शिक्षा प्रदान करने का प्रबन्ध कर दिया। कुछ ही दिन बीते थे कि श्रवणबेल गोला मठ के स्वामी जी का देहावसान हो गया। ब्रह्मसूरि पण्डित ने यह अनुभव किया कि जिनय्या ने संस्कृत भाषा की विभिन्न शाखाओं में प्रवीणता प्राप्त कर ली है अतएव यही एकमात्र सुयोग्य व्यक्ति है जो श्रवणबेल गोला के मठ की गद्दी को सभाल सकता है। इसीलिए उन्होने इन्हें श्रवणबेल गोला के मठ की गद्दी के लिये चुन लिया तथा महाराजा की आज्ञा से उन्हें गद्दी का प्रधान नियुक्त कर दिया। तभी से जिनय्या अभिनव चारुकीर्ति पण्डिताचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अनुमान है कि इनका काल सन् १७६० और १८६० के बीच मे रहा होगा।

इनकी प्रस्तुत रचना ६ विभागों में विभक्त है। प्रत्येक विभाग में किसी एक प्रमुख विषय की विस्तृत व्याख्या की गई है। इन विभागो का नाम इन्होंने परिच्छेद दिया है जैसा कि प्रभाचन्द्र ने अपनी कृति प्रमेय कमल मार्तण्ड में किया है। परन्तु परीक्षामुख सूत्र में तथा इसकी टीका अनन्तवीर्य की प्रमेय रत्नमाला में इन विभागों का नाम समुद्देश किया गया है। पुस्तक का उद्घाटन प्रमाण के स्वरूप की जिज्ञासा मे होता है। यह जिज्ञासा मात्र बौद्धिक उत्सुकता के सन्तोष के लिए नही है परन्तु ग्रन्थ भारतीय दर्शन शास्त्रो की भाँति विशेष उद्देश्य लिये हुए है।

यह प्रमाण ही है जिसके द्वारा वास्तविकता के स्वरूप का ज्ञान होता है और प्रमाण ही वह सच्चा ज्ञान है जो अज्ञान को दूर करके हमे जीवन चरम उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में ले जाता है। यदि हमें जीवन मे सफल होना है तथा अपने समस्त क्रिया-कलापो का सफल परिणाम प्राप्त करना है तो प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा अत्यावश्यक है।

प्रमाण क्या है? इसका स्वरूप दर्शनशास्त्र की प्रत्येक शाख के द्वारा भिन्न-भिन्न बताया गया है। न्याय, वैशेषिक मीमासा, सांख्य, बुद्ध और वेदान्त के सिद्धान्तो पर विचार करने तथा उनका खण्डन करने के बाद लेखक ने जैन सिद्धान्त स्पष्ट किया है कि प्रमाण वह है जिसके द्वारा न जानी गई वस्तुओ का निश्चित ज्ञान प्राप्त हो जाये। प्रमाण स्वयं प्रकाशित है तथा यह एक ओर तो दीपक की तरह स्वय को प्रकाशित करता है, दूसरी ओर यह उपस्थित विषयों को भी प्रकाशित करता है। इसकी सत्यता स्वाभाविक है। इसे अपनी सत्यता सिद्ध करने के लिये किसी बाहरी वस्तु की सहायता की आवश्यकता नही है। यह केवल कोई प्रस्तुतीकरण मात्र नही है, न ही कोई धुंधला भाव है किन्तु सविकल्पक, व्यवसायात्मक अथवा निश्चायक है। यह वस्तु का 'यह' जैसा निश्चित ज्ञान है, 'वह' जैसा नही। यह प्रमाण, जो स्वयं तो ज्ञान है, एक दूसरे ज्ञान के अंश प्रमा को भी जन्म देता है। यह प्रमा का जनक प्रमाण है, प्रमा का कारण प्रमाण नही है। इसीलिए प्रमाण को कारण, कारक साकल्य, इन्द्रिय, सन्निकर्ष, इन्द्रियावृत्ति अथवा ज्ञातृ व्यापार मानना ठीक नही है। इस ज्ञान का विषय न तो विशेष है और न सामान्य है बल्कि सामान्य विशिष्टात्मक है। इसकी स्थापना चौथे परिच्छेद मे दूसरे दर्शनो के विचारो का खण्डन करने के पश्चात् की गई है।

द्वितीय परिच्छेद में भारतीय दर्शन शास्त्रो में प्रतिपादित प्रमाणो की सख्या के विषय मे अनेक विचारो का वर्णन किया गया है। चार्वाकों के अनुसार केवल प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। बौद्ध दर्शन शास्त्री प्रत्यक्ष और

अनुमान दो प्रमाण मानते है । रामानुजीय दर्शनशास्त्र वेत्ता प्रमाणो की सख्या में आगम को और जोड़ते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इस प्रकार प्रमाण के तीन भेद स्वीकार करते है । नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान । प्रभाकर मतावलम्बी इस सूची मे अर्थापत्ति को और जोड कर प्रमाणो की संख्या पाँच तक पहुँचा देते हैं । भट्ट मिमांसाकारी प्रमाणो की सख्या ६ मानते हैं क्योंकि वे ऊपर की सूची में एक नया प्रमाण अनुपलब्धि और जोड देते हैं । पौराणिक आठ प्रमाण मानते है क्योंकि वे ऐतिह्य और सम्भव को भी प्रमाण के अन्तर्गत ही गिनते है । परन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रमाण दो ही हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष । प्रत्यक्ष को छोडकर शेष सभी प्रमाण परोक्ष के अन्दर ही गर्भित हो जाते है ।

प्रत्यक्ष क्या है ? यह वह ज्ञान है जो विशद अर्थात् स्वच्छ होता है । प्रत्यक्ष प्रमाण बिल्कुल सीधा और तत्काल वस्तु को जानता है । वह किसी अन्य प्रकार के ज्ञान पर आधारित नही होता है । यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—(१) मुख्य अर्थात् प्रारम्भिक (२) साव्यावहारिक अर्थात् प्रयोगात्मक । पहला अर्थात् मुख्य प्रत्यक्ष पूर्णतया इन्द्रियों और मन से स्वतन्त्र होता है, जबकि दूसरा उनकी सहायता ग्रहण करता है । यह व्यावहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय ग्राह्य ज्ञान और मनोग्राह्य ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है । इन्द्रिय ग्राह्य ज्ञान ४ प्रकार का है । अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । सम्भवत: ये भेद ज्ञान के निश्चय के चार स्तरो को बताते हैं । अवग्रह ज्ञान वह है जो वस्तु को बिना किसी विशेषता बताये जैसा का तैसा ग्रहण करे । ईहा ज्ञान वह है जो वस्तु को और विशेष और निश्चित रूप से जानने की चेष्टा करे । अवाय वह है जो वस्तु के प्रतिबिम्ब के द्वारा वस्तु की पूर्णता, अपूर्णता, गुण और दोषो के स्वरूप को जान ले । धारणा वस्तु की अन्तिम (पूर्ण) पहिचान है क्योंकि यह मस्तिष्क मे वस्तु के पूर्व रूप को मस्तिष्क में जमा देती है । अन्तीन्द्रिय ज्ञान वह ज्ञान है जो सर्वज्ञ अपने आत्मानुभव के द्वारा बिना किसी वस्तु की सहायता के जानता है ।

तृतीय परिच्छेद मे परोक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में विचार किया गया है । जो ज्ञान प्रत्यक्ष नही है वह परोक्ष कहलाता है । स्मृति (स्मरण), प्रत्यभिज्ञा (वस्तु की पहिचान) तर्क (विशेष सम्बन्ध का ज्ञान), अनुमान, आगम ये सभी परोक्ष हैं । भारतीय कुछ दर्शनशास्त्र स्मृति को प्रमाण रूप मे स्वीकार नही करते परन्तु जैनों के अनुसार स्मृति को भी प्रमाण मानना चाहिए क्योंकि यह भी उतनी यथार्थ होती है जितने कि दूसरे प्रकार के ज्ञान । स्मृति केवल पूर्वानुभूत वस्तु का प्रभाव मात्र नही है बल्कि यह पूर्वानुभूत वस्तु का ज्ञान है । यह भूतकाल की निश्चित घोषणा है । प्रत्यभिज्ञान या पहिचान भी एक प्रकार का प्रामाणिक ज्ञान है । यह एक मिला-जुला ज्ञान है । यह न तो पूर्ण स्मृति है और न पूर्ण ज्ञान है । यह प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मृति से बना हुआ ऐसा ज्ञान है । यह एक नया ज्ञान है जिसे ज्ञान या स्मृति मे नही मिलाया जा सकता है । यह वस्तु का स्मृति और प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा निश्चय है । देवदत्त जो हमारे सामने है, उसे हमने पहले देखे गये पूर्वकाल के स्मरण के द्वारा ही पहिचाना है । इस ज्ञान का रूप, "यह वैसा है, या यह नही है", "यह उससे भिन्न है" "यह उसी का प्रतिरूप है" आदि, इस प्रकार का होता है । नैयायिक जिसे उपमान मानते है वह भी एक प्रकार की पहिचान ही है । इसलिये जैनियो ने उपमान को अलग प्रमाण स्वीकार नही किया है ।

तर्क या ऊहा व्याप्ति का ज्ञान है । यह किसी वस्तु की उपस्थिति या अनुपस्थिति दूसरी वस्तु के सम्बन्ध मे इस प्रकार का रूप ग्रहण करती है—यदि यह है, वह है यदि यह नही तो वह नही है । यह सहभाव या कर्मभाव का अविनाभाव सम्बन्ध है । यह सहभाव का अविनाभाव सम्बन्ध किसी तत्व में और इसकी उपाधियों में, कुछ वर्णों मे और कुछ स्वादो मे, सिसपा और वृक्ष में पाया जाता है । कर्मभाव का अविनाभाव सम्बन्ध दिन और रात में, सूर्यास्त और तारो के उदय में, नदी की बाढ और वर्षा में, कारण और उसके प्रभाव में पाया जाता है ।

अनुमान किसी वस्तु का वह मुख्य ज्ञान कहलाता है जो साधन या कारण के द्वारा होता है । यथार्थ साधन वही समझा जायेगा जो साध्य से अभिन्नता से सम्बद्ध हो । इसके बाद इस परिच्छेद मे साध्य-पक्ष की परिभाषा,

स्वार्थ और परार्थ के भेद से अनुमान का वर्गीकरण, पाँच अवयव, भाव साधक और अभाव साधक के भेदों मे हेतु का वर्गीकरण का वर्णन किया गया है। प्रत्येक को उचित उदाहरणों के द्वारा विस्तार से समझाया गया है।

अन्त में आगम की परिभाषा देते हुए बताया गया है कि वह आगम ज्ञान है जो आप्त अथवा अनासक्त एव यथार्थवक्ता पुरुष के द्वारा कहे वाक्यों से उत्पन्न होता है। यदि किसी साधारण विश्वस्त व्यक्ति के द्वारा कहे हुए वचन हो तो वह लौकिक आगम कहलाता है और जो आप्त और सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया है वह शास्त्रीय आगम कहलाता है।

इस प्रकार प्रमाण के विभिन्न भेदों की यथार्थ परिभाषा देने के बाद लेखक ने अन्त में ज्ञान के अन्तिम लक्ष्य का वर्णन किया है। यह पूर्णतया व्यावहारिक है। मोक्ष प्राप्त करने के लिये ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान अज्ञानता के अन्धकार को दूर करता है तथा हमें ऐसा सच्चा विवेक प्रदान करता है जिसके द्वारा हम यह जान सकते है कि कौनसा कार्य हमारे लिये हितकारक और उपादेय है, कौन सा अहितकारक और अनुपादेय है तथा कौनसा कार्य न हितकारक है न अहितकारक है बल्कि उपेक्षणीय है।

प्रमेय रत्नालङ्कार के अन्तिम परिच्छेद में लेखक ने प्रमाणाभासों को अनेक उदाहरण देकर समझाया है। लेखक ने बताया है कि नय वह पद्धति है जिसके द्वारा केवल वस्तु को एक रूप ही माना जाता है परन्तु जैनो के अनेकान्त सिद्धान्त के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि वस्तु के अनेक रूप और आभास होते हैं। यहाँ उन सभी का विस्तृत वर्णन करना व्यर्थ है।

प्रमेय रत्नालङ्कार की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं। एक प्रति तो कागज पर है तथा तीन पाण्डुलिपियाँ ताड़पत्रो पर श्रवणबेल गोला के मठ से प्राप्त की गई हैं। श्रवणबेल गोला के मठ से प्राप्त पाण्डुलिपियाँ ही शुद्ध कही जा सकती हैं।



पैराडाईज प्रिण्टर्स, सहारनपुर

वीरसेवा मन्दिर का अभिनव प्रकाशन
जैन लक्षणावली भाग दूसरा

चिर प्रतीक्षित जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोष) का द्वितीय भाग भी छप चुका है। इसमें लगभग ४०० जैन ग्रन्थों से वर्णानुक्रम के अनुसार लक्षणों का सङ्कलन किया गया है। लक्षणों के सङ्कलन में ग्रन्थकारों के कालक्रम को मुख्यता दी गई है। एक शब्द के अन्तर्गत जितने ग्रन्थों के लक्षण संगृहीत है उनमें से प्राय: एक प्राचीनतम ग्रन्थ के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त में हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है। जहाँ विवक्षित लक्षण में कुछ भेद या हीनाधिकता लिखी है वहां उन ग्रन्थों के निर्देश के साथ २-४ ग्रन्थों के आश्रय से भी अनुवाद किया गया है। इस भाग में केवल 'अ से औ' तक लक्षणों का सङ्कलन किया जा सका है। कुछ थोड़े ही समय में इसका तीसरा भाग भी प्रगट हो रहा है, वह लगभग तैयार हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ संशोधकों के लिए तो विशेष उपयोगी है ही, साथ ही हिन्दी अनुवाद के रहने से वह सर्वसाधारण के लिए भी उपयोगी है। द्वितीय भाग बड़े आकार में ४१८+८+१४...... पृष्ठों का है। कागज पुष्ठ व जिल्द कपड़े की मजबूत है। मूल्य २५-०० रु० है। यह प्रत्येक यूनीवर्सिटी, सार्वजनिक पुस्तकालय एवं मन्दिरों में संग्रहणीय है। ऐसे ग्रन्थ बार-बार नहीं छपते। समाप्त होने पर फिर मिलना अशक्य हो जाता है।

प्राप्ति स्थान

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,
दिल्ली-६

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यो की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना मे अलकृत, डॉ० कालीदास नाग, एम. ए., डा. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डॉ० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बडा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिये हुए, न्यायाचार्य प० दरबारीलाल जी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी अनुवाद सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १-२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ०-७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३ वी शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद सहित ०-७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित। ... ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ०-२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय) मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ०-२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा, बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य ०-१६

अध्यात्मरहस्य : प० आशाधार की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्यायदीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डॉ० दरबारीलाल जी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद, बड़े आकार के ३०० पृष्ठ, पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

R. N. 10591/62

पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री सम्मानित

हर्ष का विषय है कि हमारे वीर सेवा मन्दिर के प्रसिद्ध विद्वान् तथा जैन लक्षणावली आदि अनेक ग्रन्थों के सम्पादक पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री को उनकी साहित्य सेवाओं से प्रभावित होकर दिनांक २८-१-१९७४ को मेरठ में २५०० रुपये का पुरस्कार एवं प्रशस्ति पत्र देकर सम्मानित किया गया है। मुनिवर्य विद्यानन्द जी के तत्त्वावधान मे स्थापित वीर निर्वाण भारती मेरठ ने जैन समाज के प्रसिद्ध साहित्य सेवियों को प्रोत्साहन देने के लिए इस सम्मान समारोह का आयोजन किया था।

वीर सेवा मंदिर दरियागंज दिल्ली का परिवार पण्डित जी को उक्त सम्मान के लिए हार्दिक बधाई देता है।

महेन्द्र सेन जैनी
महा सचिव

जैन समाज पर अनभ्र वज्रपात

जैन समाज के प्रसिद्ध साहित्य सेवी डा० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री के देहावसान का समाचार पाकर महान् शोक हुआ। डा० साहब का वियोग जैन समाज की ऐसी महान् क्षति है जो कभी पूर्ण नहीं हो सकती। डाक्टर नेमीचन्द्र जैन ने जैन साहित्य की महान् सेवा की है। संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी में आपने अनेक मौलिक, आलोचनात्मक ग्रन्थों की रचना की है। शोध के क्षेत्र में आपने जो प्रतिष्ठा प्राप्त की—वह सर्व विदित है।

हम डाक्टर साहब के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं तथा उनके पारिवारिक जनों को धैर्य धारण करने के लिए क्षमता प्राप्त होने की वीर प्रभु से प्रार्थना करते हैं।

महेन्द्र सेन जैन
महा सचिव

द्वै मासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त



वर्ष २६

किरण ४-५

अक्टूबर १९७३

दिसम्बर १९७३

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २६ किरण ४-५ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर-निर्वाण संवत् २४९९, वि० स० २०३० | अक्टूबर-दिस. १९७३

ऋषभ स्तोत्रम्

जय उसह णाहिणन्दण तिहुवणणिल एक्कदीव तित्थयर ।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरमणणिहि णाह ॥
सयल सुरासुरमणिमउडकिरण कब्बुरिय पायपीढ तुमं ।
धण्णा पेच्छन्ति थुणन्ति जवन्ति झायंति जिणणाह ॥
चम्मच्छिणा वि दिट्ठे तइ तइलोए ण माइ महहरिसो ।
णाणच्छिणा उणो जिण ण-याणिमो किं परप्फुरइ ॥

—पद्मनन्दि

हे ऋषभ जिनेन्द्र ! नाभि राजा के पुत्र आप तीन लोक रूप गृह को प्रकाशित करने के लिए अद्वितीय दीपक के समान है । धर्म तीर्थ के प्रवर्तक हैं । समस्त प्राणियों के विषय में वात्सल्य भाव को धारण करते हैं । तथा निर्मल गुणो रूप रत्नो के स्थान है । आप जयवन्त होवे । नमस्कार करते हुए समस्त देवों और असुरों के मणिमय मुकुटों की किरणो से जिनका पादपीठ विचित्र वर्ण का हो रहा है, ऐसे हे ऋषभ जिनेन्द्र ! पुण्यात्मा जीव आपका दर्शन करते हैं, स्तुति करते है और जप करते हैं और ध्यान भी करते हैं । हे जिन चर्ममय नेत्र से भी आपका दर्शन होने पर जो महान् हर्ष उत्पन्न होता है वह तीनों लोकों में नही समाता । फिर ज्ञान रूप नेत्र से आपका दर्शन होने पर कितना आनन्द प्राप्त होगा, यह हम नही जानते हैं ।

कलकत्तो का कार्तिक महोत्सव

ले० भंवरलाल नाहटा

मुमुक्ष-भव्यों को समार रूपी अटवी से पार पाने के लिए दो मार्ग वतलाये गये है, एक ज्ञान मार्ग और दूसरा भक्ति मार्ग। ज्ञानमार्ग दुरूह होने के साथ-साथ अभिमान आदि आ जाने पर पतन भययुक्त है। परन्तु भक्तिमार्ग मे विनय, लघुता और श्रद्धा प्रधान होने से सहज और सुगमता से श्रावक अपने साध्य की प्राप्ति कर सकता है जैसे ज्ञान मार्ग इंजन की भाँति है तो भक्ति मार्ग उसके पीछे लगे डिब्बो की भाँति है, जिसमे केवल दृढता से पकड (श्रद्धा) है और इच्छित स्थान मे जा पहुचता है। अष्टा-पद महातीर्थ पर अनन्य भक्ति के योग मे ही रावण जैसे नरकगामी जीव ने तीर्थङ्कर नाम कर्म उपार्जन कर भावी त्रैलोक्यपूज्य पद की प्राप्ति की थी। भारतीय दर्शनो मे सर्वप्राचीन जैन दर्शन मे भक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। नंदीश्वरादि शाश्वत अशाश्वत तीर्थो मे चारो निकाय के देव और इन्द्र आदि भी समय-समय पर जाकर अट्ठाईस महोत्सवादि द्वारा अपना सम्यक्त्व निर्मल कर आत्म कल्याण करते है। जिसका जीवाधिगमसूत्रादि मे उल्लेख पाया जाता है।

भक्ति सूर्य का उदय होने पर हृदय कमल पूर्ण विक-सित हो जाता है और उसकी सौरभ एव प्रकाश मे अज्ञानांधकार व पाप-पङ्क-कालुष्य नष्ट होकर भगवान से उनके गुणो के साथ एकतानता आ जाती है। इस प्रकार के भक्ति साधनों मे रथयात्रा-महोत्सवादि का प्रमुख स्थान है। इस अवसर्पिणीकाल मे भगवान ऋषभदेव से धर्म प्रवर्तन हुआ और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने सर्वप्रथम शत्रुजय का संघ निकाल कर तीर्थोद्धार कराया। संघ-यात्रा मे तीर्थङ्कर बिंव विराजमान किया हुआ रथरूप जिनालय का होना संघ का अनिवार्य अंग है। अत भरत चक्रवर्ती के अनुकरण मे असंख्यकाल से यह परम्परा चली आ रही है अब भी शत्रुजय पर कार्त्तिक पूर्णिमा आदि अवसरो पर चाँदी सोने के रथ में प्रभु को विराजमान करके सवारी निकाली जाती है। पुराने संघ वर्णनो मे भगवान को चैत्यालय-रथो मे विराजमान कर साथ मे रखे जाने का वर्णन तो मिलता ही है पर ३५० वर्ष पूर्व थाहरूसाह भणशाली द्वारा निकाले गये सघ के रथ का दर्शन आज भी लौद्रवपुर के प्राचीन मन्दिर मे किया जा सकता है। यद्यपि रथ प्राचीन हो गया है पर ऐतिहासिक वस्तु होने मे प्रेक्षणीय है। भारतवर्ष मे जगन्नाथपुरी की रथयात्रा विशेष प्रसिद्ध है, विद्वानो के अभिमत मे वह शकराचार्य के पूर्व मे जैन मन्दिर ही था, और आश्चर्य नही कि वहाँ की रथयात्रा किसी प्राचीन जैन परम्परा का अनुधावन हो।

जैन परम्परा मे रथयात्रा-महोत्सवादि अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। बीसवे तीर्थङ्कर श्री मुनिसुव्रत स्वामी के समय मे हस्तिनापुर मे पद्मोत्तर राजा हुए है जिनकी रानी ज्वालादेवी ने जिनेश्वर भगवान का महान् रथ निर्माण करवाया तो ईर्ष्यावश दूसरी रानी लक्ष्मी ने ब्रह्मरथ बनवा कर रथयात्रा के प्रसग पर अपना रथ पहले शहर मे निकले इसकी याचना की और इच्छापूर्ति न होने पर आत्मघात की धमकी दी। इधर ज्वालादेवी भी जिनेन्द्र रथ के पहले न चलने पर अनशन करने को प्रस्तुत हो गई। राजा ने ऐसे अवसर पर दानो रथो का निकालना बन्द कर दिया। ज्वालादेवी के पुत्र महापद्म जिसके हाथ मे राज्य की बागडोर होते हुए भी पिता के वचनो का विरोध न कर "स्वतन्त्रतापूर्वक माता के जिनेन्द्र रथ को चलाने की प्रतिज्ञापूर्वक रात्रि के समय नगर त्याग कर गया और बहुत वर्षो के बाद छ खण्ड साध कर आने के बाद नवम चक्रवर्ती महापद्म ने बड़े भारी समारोह से जिनेश्वर भगवान की रथयात्रा निकाल कर माता की इच्छा पूर्ति की। इस उदाहरण से स्पष्ट

कि जिन शासन की प्रभावना मे रथयात्रा महोसत्व कितना महत्त्वपूर्ण है ।

कलिकाल सर्वज्ञ भगवान हेमचन्द्राचार्य ने परिशिष्ट पर्व मे श्री आर्य सुहस्ति सूरि के प्रबन्ध मे रथयात्रा का जो विशद वर्णन दिया है और सम्राट अशोक के पौत्र सुप्रसिद्ध जैन सम्राट सम्प्रति की अनन्य भक्ति और जिन-शासन की महती प्रभावना का, जनता जनार्दन के उल्लास पूर्ण गीतनृत्य, वादित्रादि भक्ति का चित्र खीचा है उसको श्रवण करने से ही हृदय की उर्मियाँ भक्तिसिक्त हो उछलने लगती है तो प्रत्यक्षदर्शी लोगो ने अपने कितने दुष्टकृत्य-कलमष का नाश किया और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्ष पथारूढ हुए, इसका सहज अनुमान किया जा सकता है । इसी प्रकार परमार्हत महाराजा कुमारपाल के द्वारा निर्मित रथयात्रा का वर्णन भी अत्यन्त प्रशस्त और प्रभावोत्पादक है ।

बगला देश मे देवीपूजा का प्रचार बहुत अधिक है । आये दिन पूजाओ का आयोजन होता है और मृत्तिका निर्मित नई-नई प्रतिमाएँ पूजा अनुष्ठान के पश्चात् विसर्जित करने के लिए गाजे-बाजे के साथ शोभायात्रा निकालते है एव जगन्नाथ जी के रथ की सवारी भी छोटे-बडे सैकड़ो रथो के जलूस निकाले जाते है । लोगो के सामने जिन-जिन देवी देवताओ की प्रतिमाएँ आती है उनके धर्म व जीवनवृत्त आदि से जनता परिचित होकर प्रभावित होती है । बंगाल की इस प्रथा के अनुसार हर धर्म वालों को अपने धर्म की प्रभावना के हेतु अपने पर्व तिथियो मे रथयात्रा महोत्सव निकालना आवश्यक था और यहाँ जब मन्दिर और दादावाडी का निर्माण हो गया तो सघ ने तुरन्त इस उत्सव के लिए कार्तिक पूर्णिमा को ही चुना, क्योकि चातुर्मास की परिसमाप्ति और श्रमण भगवान महावीर व उनके श्रमणो के विहार का समय होने से एव चातुर्मास भर मे किये गये धर्म कार्य रूपी प्रासाद के शिखर पर कलशारोपण स्वरूप कार्तिक महोत्सव महापर्व प्रतिवर्ष जैनधर्म की विजय वैजयन्ती फहराता हुआ धर्म प्रभावना को अत्यधिक प्रसारित करने वाला है । अनुश्रुति के अनुसार जब तक यहाँ सवारी की सामग्री का विस्तार नही हुआ तब तक भगवान का समवशरण आदि शहर-मुर्शिदाबाद से मगवाये जाते थे । इसकी विशिष्ट आवश्यकता अनुभव कर तत्कालीन सघ ने बडा ही मनोज्ञ और कलापूर्ण समवशरण भी बनवा लिया जिसका विवरण आगे लिखा जायगा ।

कलकत्ते का कार्तिक-महोत्सव—जैन रथ यात्रा-उत्सव भारत विख्यात वार्षिक पर्व है । इस मनोहर और प्रभावोत्पादक उत्सव को प्रत्येक दर्शक आजीवन नही भुला सकता । यो तो कलकत्ता मे आये दिन बगाली, सिक्ख, मुस्लिम, हिन्दू व इतर समाज के नाना प्रकार के जुलूस निकलते ही रहते है, पर कार्तिक-महोत्सव की विशालता, और व्यापकता और सुव्यवस्था अनूठी होने के कारण कोई भी उत्सव इसके समकक्ष नही आ सकते । श्वेताम्बर और दिगम्बर उभय समाज का मिल कर लगभग एक मील लम्बा जलूस हो जाता है । दर्शकों को पहिले से प्रबन्ध न करने पर बैठने के लिए स्थानप्राप्ति भी दुर्लभ हो जाती है । सडको पर उभय पक्ष के जूलूस में जनता जनार्दन नदी की भाँति उमड पडती है और घण्टों तक आत्मविभोर होकर निर्निमेष दृष्टि से जुलूस का निरीक्षण करती रहती है । मकानो की छतें, बरामदे, प्रवेशद्वार, गलियो के मुहाने, गाडियो की छतें, वृक्षो की शाखाएँ और विद्युत् स्तभ भी दर्शको से लदे हुए प्रतीत होते हैं । श्री पार्श्वनाथ भगवान् के नाम से प्रसिद्धि-प्राप्त श्रीधर्म-नाथ स्वामी की शोभा-यात्रा और राय बद्रीदास बहादुर द्वारा निर्मापित श्री शीतलनाथ जिनालय के कारण जैन-धर्म को बगाल का बच्चा-बच्चा जानता है । बद्रीदास जी के बगीचे के किसी भी समय जाकर देख लीजिए, दर्शको का मेला लगा हुआ मिलेगा, जिसमे बगाली स्त्री-पुरुष व बच्चो का ही आधिक्य रहता है । यहाँ जैनधर्म और अहिसा प्रचार का उपयुक्त क्षेत्र ज्ञात कर जैन भवन के तत्त्वावधान मे 'जैन इन्फोर्मेशन ब्यूरो' खोला गया है । जहाँ जैनधर्म सम्बन्धी साहित्य और जानकारी की उपलब्धि विदेशी पर्यटकों और स्थानीय जिज्ञसुओं को सुलभ हो गयी है ।

चातुर्मास धर्मध्यान का केन्द्र है । निरन्तर अप्रतिबद्ध विहार करने वाले मुनिराज भी अहिसा भगवती की उपासना के निमित्त एक स्थान पर वर्षाकाल व्यतीत करते

हैं। अतः गृहस्थो के लिए भी धर्मोपदेश श्रवणादि सामग्री सुलभ होकर धार्मिक प्रवृत्तिया साधन करने का विशेष अवसर उपलब्ध होता है। चातुर्मास का प्रारम्भ आषाढ शुक्ला १४-१५ होकर मिती कार्तिक शुक्ला १५ को समाप्त होता है। भगवान ऋषभदेव के पौत्र द्रविड, वारिखिल्ल मुनि तथा बहुसंख्यक मुनिगण इस पुण्य दिवस मे तीर्थाधिराज सिद्धाचल पर सिद्ध गति को प्राप्त हुए है। अत इस दिन पालिताना मे एक बडा भारी मेला होता है, जिसमे सहस्रो नर-नारी गिरिराज शत्रुंजय की यात्रा करने के हेतु एकत्र होते है। वहाँ अत्यन्त उत्साह एवं समारोह पूर्वक रथयात्रादि महोत्सव मनाये जाते है। भारत के अन्य सभी स्थलों पर भी जैन संघ शत्रुञ्जय तीर्थाटन दर्शन-वदन-पर्व-व्याख्यान श्रवण, उपवास, रथयात्रा महोत्सादि द्वारा सोत्साह पर्वाराधन किया जाता है।

महोत्सव कीप्राचीनता और इतिहास—

श्री श्वेताम्बर जैन पञ्चायती मन्दिर के पुराने बही-खाते अनुसन्धान करने पर सवत् १८८३ से ३ आँकडा बहियाँ मिली। जिनमे कार्तिक महोत्सव जी की सवारी का खरचा बाद जाकर बची हुई आमदनी का विवरण इस प्रकार मालूम होता है :—

सवत् १८८३ मे	१५७)
संवत् ३८८४ मे	१७७ =)
संवत् १८८५ में	२८५॥ –)।
संवत् १८८६ में	४७६।।।)
सवत् १८८७ में	२०८।)॥
सबत् १८८८ मे	५१)
संवथ् १८८६ मे	३८१॥)।
संवत् १८६० मे	५१२।।। =)॥
संवत् १८६१ मे	११४८।।। =)॥
संवत् १८६२ मे	१२५२॥ =)॥
संवत् १८६३ मे	१३६१।।।)।
संवत् १८६४ में	१७८५।।।)।।।
संवत् १८६५ मे	२३५०।)।।।
संवत् १८६६ से १८०७ तक १२ वर्षो मे	१७६६०।।। =)
संवत् १६०८ में	१७६७ =)
संवत् १६०६ में	१४६१॥)
सवत् १६१० मे	२७६१.॥ =)।।।
सवत् १६११ मे	१५१॥)
सबत् १६१२ मे	२०४३।)
सवत् १६१३ मे	३१३५। =)।।।
सवत् १६१४ में	१६६१ –)।।।
संवत् १६१५ मे	२८४६ =)
संवत् १६१६ में[1]	४७७५।।। ≡)।
सवत् १६१७ मे	५१७६॥। =)।
संवत् १६१८ मे	३१८७)॥
सवत् २६१६ मे	२४४८।।।)
सवत् १६२० मे	२६०८ ≡)॥
सवत् १६२१ मे	२६६२।।।)
सबत् १६२२ मे	२३७२ =)॥
सवत् १६२३ मे	१६१२।।। =)
सवत् १६२४ मे	१७६६॥)।।।
सवत् १६२५ मे	१३८२।)।।।
सवत् १६२६ मे	२०४७॥ =)॥
संवत् १६२७ मे	३७२६।।। =)॥
सवत् १६२८ में	२६८६ ≡)।

उपर्युक्त विवरण मे ४६ वर्ष का हिसाब कलकत्ता मे श्वे० जैनो की सख्यावृद्धि के अनुपात से आमदनी का विकास क्रम उपस्थित करता है। साथ ही साथ यह प्रश्न तो उपस्थित ही रहता है कि इस महोत्सव का प्रारम्भ किस संवत् मे हुआ ? गत १३८ वर्षो से इस रथयात्रा महोत्सव-सवारी के अविच्छिन्नरूप से निकलने के प्रमाण तो है ही पर इससे यह अनुमान होता है कि इससे १०,१२ वर्ष पूर्व अर्थात् मन्दिर-प्रतिष्ठा के साथ-साथ ही महोत्सव का प्रारम्भ हो गया था क्योकि दादा साहब के बगीचे मे गुरुदेवके चरणो की प्रतिष्ठा स० १८६७ मिती आषाढ़ शुक्ला ६ को तथा श्री शान्तिनाथ जिनालय (बढा पचामती मन्दिर-तुलापट्टी) की प्रतिष्ठा सं० १८७१ माघ शुक्ला ६ को हुई थी, अत पूर्व छेहरासर रूप मे आदिनाथ

१. इसमे चैत (?) महोत्सव के खाते श्री रतनविजय-धार्या तारा जीवणदास घांघिया री……… का ६००) शामिल जमा किया हुआ है।

जिनालय विद्यमान था ही। अत इन्ही संवतों मे और स० १८८३ से पूर्व से महोत्सव की सवारी चालू है।

समवशरण—

कार्तिक महोत्सव की सवारी में जो धर्मनाथ स्वामी का भव्य-दर्शनीय समवशरण निकलता है, वह सवत् १८९३ मे हेमल्टन कम्पनी को बनाने के लिए दिया गया था। स० १८९४ मे वह बनकर आया और कुल ५२८२॥)। अर्थ व्यय हुआ। इसमे ३५३९॥।=) की चांदी, १३२७। ≡) मजूरी, ५४०) सोना मुलमा, १००) काष्ट लोहा, १०६=)। छीजन, कुल मिला कर ५६१३। ≡) हुआ। जिसमे चांदी का वट्टा ६।=) प्रतिशत से ३३२॥।=) बाद जाकर उपर्युक्त ५२८१॥)। रहा, जो मन्दिर जी में स्थित पुराने खाता बहियो मे प्रमाणित है। यह समवशरण १२७ वर्ष पूर्व का बना हुआ होने पर भी इतना भव्य, मनोहर और कलापूर्ण है कि मानो आज ही बनकर तय्यार हुआ हो!

कार्तिक महोत्सव का प्राचीन चित्र—

जैन समाज के अग्रगण्य सुप्रसिद्ध जौहरी स्वर्गीय राय बद्रीदास बहादुर द्वारा निर्मापित श्री शीतलनाथ जिनालय—जिसका स० १९२३ मे निर्माण हुआ था—के मण्डपो पर कई जैन तीर्थ, जिनकल्याणक, ऐतिहासिक कथा तथा साहित्यादि के सुन्दर और विशाल चित्र लगे हुए है जिनकी सख्या ४० से न्यून नहीं है। इनका निर्माण सं० १९२५ के आसपास होना सम्भावित है क्योकि इसी वर्ष मे जयपुर के गणेश मुसव्वर ने बड़े मन्दिर जी के सभामण्डप मे लगे विशाल चित्रों को बनाया था, तभी राय साहब ने अपने जिनालय के लिए सुन्द चित्र समृद्धि तय्यार कराई होगी। इन चित्रो मे एक चित्र श्री कार्तिक महोत्सव जी की रथयात्रा का है जो '६२ इंच' लबा और १७ इच चौड़ा है। सौ वर्ष पूर्व यह जुलूस किस प्रकार निकलता था उसका इस चित्र में अच्छा ऐतिहासिक निदर्शन है। पाठकों के परिचयार्थ यहाँ इस चित्र का संक्षिप्त परिचय कराया जाता है।

इस लम्बे चित्र मे सबसे आगे लाल रग की पोशाक व श्वेत टोपधारी दो व्यक्ति झण्डा लिए चल रहे है। इनके पीछे कई मनुष्यों द्वारा खीचा जाने वाला नौबतखाना है, जिसमें बैठे हुए चार व्यक्ति वादित्र बजा रहे है। इसके उभयपक्ष मे श्वेत टोपधारी अश्वारोही चल रहे है। तत्पश्चात् लाल शेरवानी तथा बटदार पगडी वाले चपरासी पताका धारण किये हुए मार्ग के उभयपक्ष मे चल रहे है। फिर छडीदारो की पक्ति व तदनुगामी मार्गावरोधक यष्टिकावगाही पक्ति चित्र के शेष तक चली गई है। रास्ते के मध्य मे नौबतखाने के पश्चात् गगनस्पर्शी इन्द्रध्वज (महेन्द्रध्वज) चलता हुआ "जैन जयति शासनम्" की दिव्य पताकायें फहरा रहा है, फिर इसी का अनुगामी लघु इन्द्रध्वज चल रहा है। पालकी, म्याना, सुखासन, कल्पवृक्ष, तीन छत्र-घण्टियो वाली शिविका के पास श्री महताबचद जी व बलदेवदास जी खड़े है। तत्पश्चात बाजे वाले अपने वाद्य यत्रो को बजाते हुए चल रहे है। इनके उभयपक्ष मे दो अश्वारोही कुमार व दो कुमार वाली बच्चा गाडी मे बैठे हुए है। बाजे के पश्चात् जोहरी साथ, शहरपाली, मारवाडी तथा कच्छी पगडी धारण किये हुए श्रावक-समुदाय चल रहा है। सबसे अग्रगामी श्री मन्दिर जी के ट्रष्टीगण है, जिनके हाथो मे स्वर्णमय छडी सुशोभित है। इनमे से एक महाशय का नाम श्री भैरूदास जी व दूसरे सज्जन भगवानदास जी है। श्री मुरार जी तथा पाण्डे बालमुकन प्रभु के सन्मुख करबद्ध खडे है। भगवान के समवशरण जी को उठाने वाले भाग्यशाली श्रावको में सर्वप्रथम बद्रीदास जी, कल्लूमल जी तथा शिखरचद जी है, दूसरे भाइयों का नाम नही लिखे गये है। भगवत के समवशरण के पांच शिखर व कई स्तम्भ सुशोभित है। इस स्वर्णमय समवशरण के उपरि भाग मे फहराने वाली ध्वजायें भी स्वर्णाभ है। समस्त दर्शको के आशाकेन्द्र श्री धर्मनाथ स्वामी समवशरण में विराजमान है, जिनके मुकुट, कुण्डल, हार, बाजूबंद, श्रीफलादि अलकार सुशोभित है। समवशरण के पृष्ठभाग मे पंखा किरणिया व छत्रवाहक लोग चल रहे है। तदुपरान्त लखनऊ गद्दी वाले त्यागमूर्ति खरतरगच्छाचार्य श्रीपूज्य जी श्री जिनकल्याण सूरि जी महाराज की दुर्बल किन्तु तेजस्वी देह के दर्शन होते है। सूरि जी के पीछे दो चामरधारी तथा आठ यतियो का समुदाय चल रहा है, दाहिनी ओर पीछे तक श्रावक समुदाय परि-

वेष्टित है।

इस कार्तिक महोत्सव की शोभायात्रा मे सम्मिलित होने वाले सभी महानुभावों के मुखमण्डल आनन्दोल्लास-पूर्ण एव हृदय भक्तिसिक्त मालूम देते है। इन सब मे अधिक मोटे ताजे पाडे बालमुकन है जिनके दूसरे नंबर मे सेठ श्री कल्लूमल जी ही कहे जा सकते है। "चित्र मे "इन्द्रध्वज" तथा श्रावकगण व आचार्य श्री के चित्र पर नाम लिखा हुआ है। चित्र के उपरिभाग मे निम्नलिखित शीर्षक है :—

"श्रीधर्मनाथ स्वामी की असवारी काती महोच्छव का"

इस चित्र मे श्री बद्रीदास जी, कल्लूमल जी, बलदेव-दास जी, शिखरचंद जी, भैरूंदास जी व महताबचद जी के नाम आये है। बद्रीदास जी (जन्म सवत् १८८६ मौनेकादशी, स्वर्गवास स० १९७४) का चित्र तरुणावस्था का है। कल्लूमल जी साहब श्री लाभचद जी सेठ के पितामह थे। भैरवदास जी जौहरी श्री महाराज बहादुर सिंह टॉक के पूर्वज थे जिनका स० १९३५ मे स्वर्गवास हो चुका था। बद्रीदास जी, कल्लूमल जी, भैरवदास जी, मुन्नालाल जी और वल्लभदास जी जौहरी स० १९१७ मे श्री बड़े मन्दिर जी के ट्रस्टी नियुक्त हो चुके थे अत इस चित्र का निर्माण काल (सवत् १९१७—१९३५ के बीच) संवत् १९२५ के लगभग अनुमानित है। क्योंकि श्री शीतलनाथ जिनालय की प्रतिष्ठा वि० स० १९२३ मिती फाल्गुन शुक्ला २ के दिन श्री जिनकल्याणसूरि जी के करकमलो से सम्पन्न हुई थी, जो इस चित्र मे विद्यमान है। पाडे बालमुकन, पाडे बद्रीनारायण जो वर्तमान पुजारी है—के फूफा थे।

कार्तिक महोत्सव जी की सवारी का इतिहास और प्राचीन रूप का सक्षिप्त दिग्दर्शन कराने के पश्चात् पाठकों को वर्तमान का परिचय देना भी आवश्यक है। यह शोभायात्रा भगवान् के विहार का प्रतीक है। जिस प्रकार भगवान् के आगे गगनचुम्बी इन्द्रध्वज चलता हुआ शोभायमान होता था, उसी प्रकार सबसे आगे पचवर्णी पताकाओं वाला इन्द्रध्वज सर्वधर्म समन्वय एवं अनेकान्त वाद का अमरपाठ पढाता है। नाना प्रकार के वाद्ययन्त्र देवदुन्दुभ्यादि प्रतिहार्यों के एव विशालकाय इन्द्र का श्वेत ऐरावत हाथी सौम्यता व अतुल बल का प्रतीक है। रजतमय नौबतखाना और उसके ऊपर घूमने वाली पुत्त-लिकाएँ नृत्य नाटकादि का आभास कराती है। सवारी मे नाना प्रकार के वादित्रों का आयोजन रहता है जिनमे कच्छी जैन युवको तथा वङ्गीय सभ्रान्त युवकों की कति-पय वाद्य मण्डलियाँ अपने विविध वादित्रो सहित केवल भक्तिभाव व्यक्तीकरणार्थ उपस्थित होकर वादित्र ध्वनि प्रसारित कर व्योम मण्डल को गुञ्जायमान कर देती है। ढक्काओं का निनाद निकटस्थ व्यक्ति की वाणी को भी सुनने मे बाधा देता हुआ सुदूर गगन मण्डल मे परिव्याप्त हो जाता है। जैन श्वेताम्बर मित्र मण्डल, जैन सभा, जैन क्लब, आदीश्वर मण्डल, वीरमण्डल, कोचर मण्डली आदि सगीत टोलियाँ अपने सुमधुर कण्ठध्वनि से भक्ति और उल्लासपूर्वक भजन गाती हुई दर्शको का ध्यान आकृष्ट करती हुई कर्णमधुरताभिभूत व्यक्तियो द्वारा अधिक ठहरने का आग्रह कराती है। सवारी मे सजावट की सामग्री भी बोधदायक एव भावपूर्ण है। रजतमय षड्लेश्यावृक्ष, शिविका, सिंहासन, फूलघरा, दीपमन्दिर, कल्पवृक्ष, चतुर्दश महास्वप्न, सुमेरुगिरि, लघु समवशरण आदि नाना अलकरणो मे भगवान महावीर के चण्डकौशिक सर्पदंश एव कानो मे कीलें ठोकने के उपसर्ग के भाव बङ्गीय मूर्तिकला के सुन्दर उदाहरण है। विविध भक्ति-भाव युक्त अलकरणो के पश्चात् अन्त मे धर्मनाथ स्वामी के समवशरण का दर्शन होता है। इस स्वर्ण रजतमय गुरुतर समवशरण को आठ भाग्यशाली भक्त अपने कन्धो पर वहन करते है। जिस प्रकार प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद श्री भगवंत अष्टकमलो पर पैर रखते हुए विचरते थे। उसी प्रकार आठ भव्यात्माओं के वहन करने का भाव ठीक भगवान् की विद्यमानता की झाकी भक्तहृदय मे उत्पन्न कर देती है। समवशरण के उभयपक्ष मे चामर-युगल, छत्र, किरणियादि वहन किये जाते है। इतने लम्बे जुलूस की सुव्यवस्था के हेतु लाल व हरे झण्डो का प्रयोग सावधानता पूर्वक किया जाता है ताकि मार्ग में सूनापन दृग्गोचर न हो। जुलूस मे सम्मिलित होने वाले महानु-भाव प्रभु के प्रति बहुमानार्थ नङ्गे पाँव चलते है। बाहरी भीड़ को भीतर आने से रोकने के लिए डोरी के द्वारा

कतार बद्ध मनुष्यों की पंक्ति एवं दूर तक ध्वजपताका वाहक सैंकड़ों व्यक्ति अपने कार्य में सतर्कतापूर्वक संलग्न रहते है। सवारी के निश्चित मार्ग मे घण्टो तक ट्राम, बस, ट्रक, गाड़ियाँ, ठेले, मोटर आदि का यातायात ठप्प हो जाता है। ट्रामवे कपनी अपने विद्युत तारो को खोलकर इन्द्रध्वज का मार्ग उन्मुक्त करने मे सलग्न रहती है।

कार्तिक महोत्सव पर्व भव्य जीवों को सम्यक्त्व प्राप्ति होने मे तथा सम्यक्त्व निर्मल करने का प्रमुख साधन है। मन्दिर, उपाश्रय मे तो चल कर जाने से देवगुरु दर्शनो मे व्याख्यान श्रवणादि से लाभ मिलता है पर इस महोत्सव मे तो स्वयं भगवान ही राह चलते व्यक्ति को दर्शन देते है। भक्त हृदय अनायास ही वीतराग मुद्रा दर्शन से झुक पडता है और भावशुद्धि-आत्मनिर्मलता आ जाय तो एक ही नमस्कार से बेडा पार है।

"इक्कोविणमुक्कारो जिणवर वसहस्स वड्ढमाणस्स,
ससार सागराओ तारेइ नर व नारि वा ॥"

जिन प्रतिमा के आकार वाले मत्स्यो को देख कर मोह विकल जलचर जन्तुओ तक के बोध पाने के प्रमाण शास्त्रो मे विद्यमान है तब साक्षात् अर्हद्बिम्ब के दर्शन से बुद्धिशाली मानव आत्म बोध प्राप्त करे इसमे सन्देह को स्थान ही कहाँ? स्वय भगवान की विद्यमानता मे भी समवशरण मे तीनो तरफ अर्हत् प्रतिमाये विराजमान रहती है और बारह पर्षदाओ मे नौ पर्षदाओ की तो स्थापना तीर्थङ्कर के ही दर्शन होते है। जैन शास्त्रानुसार एव ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी जिनप्रतिमा अनादि कालीन सिद्ध है, प्रश्नव्याकरण सूत्रानुसार 'जिन पूजा' अहिंसा का ही पर्याय है फिर भी बोधिदुर्लभ दुषमकाल मे अनार्य संस्कृति प्रभावित होकर कोई भक्तिरूपी अमृत-कुण्ड मे सशय विष बिन्दु घोले तो उनके प्रति करुणा और उपेक्षा के अतिरिक्त और उपाय ही क्या हो सकता है? हमारी भक्ति विशुद्ध आत्मकल्याण के निमित्त है, किसी का कुछ अहसान या उपकार नहीं, अत. अपनी-अपनी रुचि एवं भावनानुसार जिन शासन के इस महत्त्व-पूर्ण कार्य में सम्प्रदाय गत भेद भावो को भुलाकर हार्दिक योगदान करना चाहिए।

कार्तिक महोत्सव की रथयात्रा में दिगम्बर समाज की मान्यता भी एक ही है और उनकी सवारी भी साथ ही साथ निकलकर बासतल्ला गली की मोड पर आ जाती है। धर्मनाथ भगवान की सवारी निकल जाने पर दिगम्बर समाज की भ० पार्श्वनाथ स्वामी की सवारी भी आ मिलती है। दोनो समाज के व्यक्ति एक दूसरे की सवारी मे प्रेम पूवक सम्मिलित होते है और भजन मण्डलियाँ भी पारस्परिक योगदान करती है, यह समाज के शुभ लक्षण है। दर्शन करने के लिए लाखो जैनेतर आते है और गवर्नर, राज्यपाल आदि शासक वर्ग भी जोड़ा साकू राज-वाड़ी मे उपस्थित होकर जिनदर्शन से लाभान्वित होते है। बगाल की जनता भावुक है और वह वीतराग जिनेश्वर के दर्शन कर आत्मविभोर हो उठती है। भक्ति और तल्लीनता मे तो वह जैनो से भी दो कदम आगे प्रतीत होती है अत इस महोत्सव के द्वारा कोई भी प्राणी सम्यक बोध की प्राप्ति करे तो हमारे इस आयोजन की सफलता ही समझनी चाहिए।

श्वेताम्बर समाज की सवारी माणिकतल्ला स्थित दादा जी महाराज के बगीचे मे जाती है और मार्गशीर्ष कृष्ण २ को तुलापट्टी जैन मन्दिर तथा दिगम्बर समाज की सवारी भी मार्गशीर्ष कृष्णा ५ को चावलपट्टी जैन मन्दिर मे लौट कर इसी समारोह के साथ आती है। इसी बीच वहा साधर्मी वात्सल्य-जीमन, पूजा, भजन आदि का आयोजन रहता है तथा वापस मन्दिर जी मे प्रवेश होने पर नाना प्रकार की बोलियो द्वारा अपना द्रव्य सफल करते है।

कार्तिक महोत्सव की सवारी सभी समाजो मे धार्मिक भावना को बल देने वाली है। अत इसके माध्यम से यदि श्वेताम्बर व दिगम्बर सम्प्रदाय दोनो मिलकर ठोस कार्य करे तो बगाल में अहिंसा का प्रचार द्वारा पशुबलि और मासाहार जैसी घृणित प्रथाये बन्द हो सकती है जिसकी वर्त्तमान काल मे बहुत बडी आवश्यकता है।

अपभ्रंश सुलोचना चरित्र के कर्ता देवसेन

डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

अपभ्रंश भाषा मे रचित तथा २८ सन्धियो में समाप्त सुलोयणा चरिउ (सुलोचना चरित्र) की प्रतिया उत्तर भारत के कई शास्त्र भण्डारों मे प्राप्त है। अतएव यद्यपि यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित रहा आया, इसकी जानकारी विद्वानो को काफी समय से है। संभवतया प० परमानन्द जी शास्त्री के लेख "सुलोचना चरित्र और देवसेन" (अनेकान्त वर्ष ७, किरण ११-१२) ने विद्वानो का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर विशेष आकर्षित किया। उक्त लेख मे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि सुलोचना चरित्र के कर्ता देवसेन दर्शनसार के कर्त्ता से भिन्न है किन्तु भावसग्रह के कर्ता से अभिन्न है, तथा सम्भवतया वह १२वी या १३वी शताब्दी विक्रमी मे होने वाले ग्वालियर पट्ट के माथुरसघी भट्टारक देवसेन ही है। परन्तु डा० हीरालाल जी ने सावयधम्म दोहा की भूमिका मे सुलोचना चरित्र को भी दर्शनसार के कर्ता की ही एक अन्य कृति अनुमान किया। हमने अपने लेख 'देवसेन नाम के ग्रन्थकार' (जैन सदेश-शोधाक, १४, पृ० १०६-१०६ तथा शोधाक १५, पृ० १३६-१४०) मे देवसेन नाम के लगभग अढाई दर्जन विभिन्न दिगम्बर जैन-गुरुओ एव ग्रन्थकारो का शिलालेखो, साहित्यिक उल्लेखो, पट्टावलियो, अन्य अनुश्रुतियो आदि के आधार से परिचय दिया तथा तत्सव ी ज्ञातव्य का परीक्षण एव गवेषण करके उनमे जो ग्रन्थकार है अथवा बहुप्रसिद्ध है उनको चीन्हने का प्रयत्न किया है।

वीर सेवा मन्दिर सोसाइटी दिल्ली से प्रकाशित जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, द्वितीय भाग (पृ० १८-२०) मे भी प० परमानन्द जी ने आमेर भण्डार की प्रति के आधार से (जिसे दिल्ली की खडित प्रति से सशोधित किया।) सुलोयणा चरिउ के आदि एव अन्त के कुछ भाग प्रशस्ति रूप से प्रकाशित किये, तथा उसकी प्रस्तावना (पृ० ७१-७२) मे ग्रन्थ एवं उसके कर्ता देवसेन का संक्षिप्त परिचय दिया है[1] जिसमें यह व्यक्त किया है कि ग्रन्थ की रचना निबांद्रिदेव के प्रशिष्य और विमलसेन गणधर के प्रशिष्य गणिदेवसेन ने मम्मलपुरी मे वि० सं० ११३२ में आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत गाथाबद्ध सुलोचना चरित को (अपभ्रश के) पद्धाडिया आदि छन्दो मे प्राक्कथन (पृ० ३) मे डा० दशरथ शर्मा ने सूचित किया कि देवसेनगणि ने कुन्दकुन्द की प्राकृत कृति को वि० सं० ११३२ मे राजा मम्मल के नगर मे अपभ्रश भाषा मे अनूदित किया। पाद टिप्पणी न० ८ मे डा० शर्मा ने यह शका भी व्यक्त की है कि "क्या यह महामल्ल पल्लव द्वारा स्थापित मम्मलपुरम् हो सकता है ?" प० परमानन्द जी यह भी समझते प्रतीत होते है कि प्रशस्ति मे उल्लिखित 'रामभद्र' उस चालुक्य राजा का नाम है जिसके राज्य मे इस ग्रन्थ की रचना हुई थी।

इन अनुमानो मे, तथा अन्य विद्वानो की भी तद्विषयक धारणाओ मे कई भ्रान्तिया रही आई प्रतीत होती है। इस प्रशस्ति सग्रह के प्रकाशन से पूर्व ही प्रकाशित शोधाक के अपने पूर्वोक्त लेख मे हमने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला हुआ है, तथापि कुछ और स्पष्टीकरण अपेक्षित है, ऐसा लगता है।

प्रशस्तिगत 'ज गाट्टावधे आमि उत्तु, सिरि कुदकुद गणिणा णिरुत्तु, तं एव्वहि पद्धाडियपि करोमि' मे जिन कुन्दकुन्द का उल्लेख हुआ है वह समयसारादि पाहुड ग्रथों

१. इस परिचय मे चरित्र नायिका सुलोचना को भूल से हस्तिनापुर के राजा की पुत्री दिया गया है। वस्तुत: वह काशि के राजा अकम्पन की पुत्री थी और उसके स्वयंवरित पति जयकुमार हस्तिनापुर के राजकुमार थे—हस्तिनापुर सुलोचना का पित्रालय नहीं, श्वसुराल थी।

के सुप्रसिद्ध कर्त्ता आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द (प्रथम शती ई०) से नितान्त भिन्न, तन्नाम कोई पर्याप्त उत्तरवर्ती गुरू है, जो कोई भट्टारक भी हो सकते है। प्रतिष्ठा पाठ-कार जयसेन अपरनाम वस्तुविद के गुरू भी एक कुन्दकुन्द मुनि थे जो सम्भवतया कुन्दकुन्द श्रावकाचार, अर्हत्सूत्र-वृत्ति, चतुर्दशी महात्म्य आदि के रचयिता है। किन्तु इनका समय १२०० ई० के लगभग होना चाहिए। कुन्दकुन्द नाम के और भी कई मुनि एव भट्टारक हुए है। हमारा अनुमान है कि प्राकृत सुलोचनाचरित्र के रचयिता 'श्री कुन्दकुन्दगणि' प्राकृत वैद्यगाहा के कर्त्ता से अभिन्न है जो ६वी शती के अन्त के लगभग हुए प्रतीत होते है।

'णव मम्मल हो पुरि णिवसते, चारुट्टाणें गुणगणवते' रूप में रचनास्थान का जो वर्णन किया है वह तमिल उपदेश का माम्मलपुरम् नामक नगर ही प्रतीत होता है, जिसका निर्माता महामल्ल पल्लव था।

ग्रन्थकर्त्ता स्वय को 'धर्माधर्म का विशेष जानने वाले भविजन-कमल-प्रबोधन-सूर्य गणि देवसेन मुनि प्रवर' बताते है, जो विमलसेन मलधारि के शिष्य और णिवडिदेव के गुरू के विषय में लिखा है -

गड विमुक्त सीस तहो केरइ, रायभट्टणाये तकसारउ।
चालुक्किय वंस हो निलउल्लंड, होंतउ णरवइ चारं मल्लउ।

जिससे स्पष्ट है कि इन गुरू का नाम गडविमुक्त रामभद्र था जो चालुक्य वशी त्रैलोक्य मल्ल नाम के नृपति द्वारा सम्मानित हुए थे। ऊपर यह भी कह आये कि यह गडविमुक्त रामभद्र आचार्य प्रवर वीरसेन-जिनसेन की सन्तान परम्परा मे होने वाले होट्टलमुक्त नामक उन मुनिवर के शिष्य थे जिनके रावण प्रभृति अन्य अनेक शिष्य थे। अस्तु इस विषय में कोई सन्देह नही कि प्रस्तुत सुलोचना चरिउ के रचयिता सेन सघ के गुरू थे और दक्षिणात्य थे। कल्याणि के उत्तरवर्ती चालुक्य वश में जयसिह प्रथम (१०११—१०४२ ई०) का उत्तराधिकारी सोमेश्वर प्रथम 'त्रैलोक्य मल्ल' आहवमल्ल था जिसका शासनकाल लगभग १०४२—१०६६ ई०) था और जिसका उत्तराधिकारी सोमेश्वर द्वितीय भुवनकमल्ल (१०६८—१०७५ ई०) था। सोमेश्वर प्रथम नामक यह राजा सामान्यतया 'त्रैलोक्य मल्ल नाम से प्रसिद्ध था, बडा प्रतापी था। दक्षिण भारत का बहुभाग उसके अधीन था, मामल्लपुरम् नगर भी उसके राज्य में ही था। अत-एव, गंडविमुक्त रामभद्र का समय भी लगभग १०४०—१०७० ई० होना चाहिए, और उनकी तीसरी पीढी में होने वाले देवसेन उससे लगभग ५० वर्ष उपरान्त तो हुए होने चाहिए। उन्होंने अपने राज्य की रचना का समय राक्षस सवत्सर की श्रावण शुक्ल १४ बुधवार के दिन की थी, जो एक गणना के अनुसार ११३२ वि० स० अर्थात् १०७५ ई० में पड़ता है। जिसे प० परमानन्द जी ने स्वीकार किया है। परन्तु अन्य गणना के अनुसार राक्षस संवत्सर १०६२-६३ ई० ११२२-२३ ई० तथा ११८२-८३ ई० में पडता है। इनमें से प्रथम उनके पर-दादा गुरू के समय के अत्यधिक निकट और तृतीय पर्याप्त दूर पडती है अतएव ११२२-२३ ई० की तिथि ही अधिक सगत प्रतीत होती है।

यह सभव है कि अपभ्रश के सावयधम्म दोहा और संबोधपचाशिका के कर्त्ता भी यही देवसेन हो, किन्तु दर्शनसार आदि सारत्रय या पचसार के कर्त्ता देवसेन से वह सर्वथा भिन्न है, और भावसग्रह के कर्त्ता सभवतया इन दोनो से ही भिन्न है।

प्रशस्ति मे स्मृत पूर्वकवियो—वाल्मीकि, व्यास, श्रीहर्ष, कालिदास, बाण मयूर, हलिय, गोविद, चतुर्मुख, स्वयंभु, पुष्पदत और भूपाल मे से अतिम चार के नाम भी कालक्रमानुसार ही है और इनमे से पुष्पदत की निश्चित तिथि ६५६ ई० है तथा भूपाल कवि भूपाल-चतुर्विशति स्तोत्र के रचयिता गोल्लाचार्य अपरनाम भूपालकवि प्रतीत होते है जो सभवतया १०वी शती के अंतिम पाद हुए थे।

गडविमुक्त आदि उपाधियाँ इन गुरुओं का कर्णाटक देशीय होना सूचित करती है और जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण उल्लेख है वह तत्कालीय नरेश त्रैलोक्यमल्ल का है। उसके आधार से अपभ्रश सुलोचना चरित्र के कर्त्ता देव-सेनगणि का समयादि निर्धारण सरलता से हो जाता है।

कारीतलाई की अद्वितीय भगवान ऋषभनाथ की प्रतिमाएँ

शिवकुमार नामदेव

कारीतलाई, मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले मे कटनी से लगभग २९ मील उ० पू० में, कैमूर पर्वत की पूर्वी मालाओ में स्थित है। प्राचीन समय मे यह स्थान कर्णपुर के नाम से विख्यात था। कारीतलाई की जिन अग्रलिखित प्रतिमाओं का यहाँ उल्लेख किया गया है वे मध्यप्रदेश के यशस्वी एव वैभवशाली वश कलचुरिकाल की है। प्रतिमाशास्त्रीय दृष्टिकोण से इन मूर्तियो का काल १०वी ११वी सदी ज्ञात होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि १०वी ११वीं शती के समय यहाँ जैन धर्म अपनी चरमोत्कर्ष सीमा पर था।

कारीतलाई से प्राप्त भगवान तीर्थंकर ऋषभनाथ की ये प्रतिमायें सफेद बलुआ पत्थर से निर्मित की गई है। ये सभी प्रतिमायें सम्प्रति मध्यप्रदेश के रायपुर सग्रहालय मे संग्रहीत है।

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ की इस स्थल से प्राप्त एक प्रतिमा ४३/४ फीट ऊंची है। भगवान आदिनाथ एक उच्च चौकी पर पद्मासन मे ध्यानस्थ बैठे हुए है। उनकी दक्षिण भुजा एवं वाम घुटना खंडित हो गया है। हृदय पर श्री वत्स एवं मस्तक के पृष्ठ भाग मे प्रभामण्डल है। प्रभामण्डल के ऊपर त्रिक्षत्र सौन्दर्यपूर्ण ढंग से बना हुआ है। जिसके दोनों पार्श्व पर एक-एक महावतयुक्त हस्ति उत्कीर्ण है। छत्र के ऊपर दुदभिक एवं हस्तियो के नीचे युगल विद्याधर है जो नभ मार्ग से पुष्प वृष्टि कर रहे हैं। विद्याधरों के नीचे दोनों पार्श्व पर भगवान के परिचारक सौधर्मेन्द्र एव ईशानेन्द्र अपने हाथों मे चवर लिए हुए खड़े है।

प्रतिमा की अलंकृत चौकी की पड़ी भूल पर भगवान ऋषभनाथ का लांछन वृषभ चित्रित है। वृषभ के नीचे चौकी के ठीक मध्य मे धर्मचक्र अंकित है जिसके दोनों ओर एक-एक सिह है। सिहासन के दाहिने पार्श्व पर भगवान का शासनदेव गोमुख एवं वाम पार्श्व पर उनकी शासनदेवी चक्रेश्वरी ललितासन मे बैठी हुई है।

इसी स्थल से प्राप्त अन्य प्रतिमाये यद्यपि उपरि वर्णित प्रतिमा की ही भाँति है किन्तु इस प्रतिमा का मस्तक खडित नही है। प्रतिमा ध्यानस्थ मुद्रा मे है। केश घुघराले दिखाये गये है। अष्टप्रतिहार्य युक्त इस प्रतिमा के एक पार्श्व पर शासन देव गोमुख एव दूसरे छोर पर शासनदेवी चक्रेश्वरी अपने वाहन गरुड़ पर आसीन है।

सफेद बलुआ पत्थर से निर्मित २' ३" एक प्रतिमा ध्यानस्थ पद्मासनारूढ दिखाई गई है। कधो से लटकते हुए केशगुच्छ कलाकारो के सधे नपे तुले हाथ के परिचायक है। भगवान ऋषभनाथ की इस प्रतिमा के दक्षिण एव वाम पार्श्व मे अन्य तीर्थंकरो सी लघु प्रतिमाये अकित है। दक्षिण पार्श्व मे उत्कीर्ण लघु तीर्थंकरो की मूर्तियां पद्मासन मे एवं वाम पाम पार्श्व की प्रतिमाये कायोत्सर्ग अथवा खड्गासन में है। चौकी की भूल पर भगवान का लाछन वृषभ अकित है। लाछन के नीचे धर्मचक्र एव इसके दोनों पार्श्व पर एक-एक सिहाकृति है। सिहासन के दाहिने कोने पर गोमुख एवं चक्रेश्वरी उत्कीर्ण है।

कारीतलाई की एक अन्य प्रतिमा जो रायपुर संग्रहालय की निधि है ३' ९" ऊँची है। इस प्रतिमा मे भगवान ऋषभनाथ को पद्मासन मे ध्यानस्थ दिखाया गया है। कला की दृष्टि से कारीतलाई में प्राप्त जैनधर्म की प्रतिमाओं में यह प्रतिमा कलात्मक सौन्दर्य मे सर्वश्रेष्ठ है। कलाकारो की तीक्ष्ण छेनियो के आघातो से निर्मित भगवान की अद्वितीय इस प्रतिमा की विशेषता यह है कि इसके सिंहासन पर सिहों के जोड़े के साथ हस्तियो का भी एक जोडा दिखलाया गया है।

कलचुरि कालीन १०-११वी सदी मे निर्मित उपर्युक्त प्रतिमाओ की कारीतलाई से प्राप्ति इस ओर इंगित करती

धर्म और राजसंरक्षण

तेजपाल सिंह

धर्म व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष का आलोक है जो बाह्य के साथ समन्वय स्थापित कर 'धर्म चर' का सुन्दर स्वरूप धारण करता है जिसमे समाज का व्यापक समुदाय मार्ग पाकर लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होता है। 'धर्मो धारयति प्रजा" का प्रवचन इस सदुद्देश्य के समर्थन मे ही कहा गया है। धर्म प्रजा अर्थात् मानव समाज को तभी धारण करता है जबकि धर्म स्वत पुष्ट और प्रबल हो। महान् राजसरक्षण भी उसी धर्म को सुलभ होता है जो अपनी सामर्थ्य से समाज पर अपना प्रभाव स्थापित कर चुका हो।

राजसंरक्षण कोई सरल उपलब्धि नही है; जो सामान्य धर्म को भी प्राप्त हो जाय। राजसंरक्षण उसी धर्म को प्राप्त होता है जो मानव-समाज के लिए संस्कृति साहित्य, कला और दर्शन-चिन्तन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो, साथ ही राजसरक्षण प्रदान करने वाले राज्य की राजनैतिक पृष्ठभूमि को भी मजबूत बनाने में सर्वतः सहयोग दे। जो अधिकाश जन-मानस में संरक्षणदाता राज्य के लिए अहितकारक नीतियों को पनपने न दे तथा भावात्मक दृष्टि से राज्य के प्रभाव की वृद्धि मे योगदान करे। वस्तुत ऐसा ही धर्म राजसरक्षण प्राप्त करने मे सक्षम रहा है इसमें आध्यात्मिकता को भौतिकवादी समाज के हित मे उपयोग करने का अवसर मिलता है। महान् मनीषी, मुनि विद्वान् अपने संचित धर्म का उपयोग तब अधिक अच्छी तरह कर पाते है जब उन्हे राजसंरक्षण मिल जाता है। विश्व इतिहास का पटाक्षेप करने से पता चलता है कि जगद्व्यापी ईशाई मिशनरी और भगवान् बुद्ध के सन्देश राजसंरक्षण के बलबूते पर ही अधिकाश जन-मन को आलोकित कर सके है और विश्व पर केवल अपने धर्म विशेष का ही नही, वरन् राजविशेष की संस्कृति, कला, साहित्य और विचार-दर्शन का सशक्त एवं शाश्वत प्रभाव छोड़ गये है।

भारतवर्ष मे धर्म को राजसंरक्षण प्रारम्भ से ही मिलता रहा है। वैदिक धर्म आर्यों का पूर्ण संरक्षित धर्म रहा। उपनिषद-काल के साथ-साथ धर्म की विभिन्न धारायें बन गई थीं। ब्राह्मण-धर्म का व्यापक विरोध प्रारम्भ हो गया था। जिसका प्रथम प्रकाश जैनधर्म के रूप मे प्रत्यक्ष हुआ। महान् राजकुल मे उत्पन्न भगवान् महावीर ने अन्याय, हिंसा व रूढ़िवादिता को अस्वीकार कर समाज को नयी दिशा प्रदान की। समाज के साथ-साथ राजवंशों ने जैनधर्म को उच्च स्तर पर स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया। मल्ल वंश के राजाओं ने जैनधर्म को सर्वाधिक संरक्षण प्रदान किया। यह जैन-धर्म के पुष्पित होने एवं उसके व्यापक वर्ग पर प्रभाव का प्रथम समय था। इसी से बौद्ध धर्म को इसकी सुनियमित पृष्ठभूमि मिली। और वह विश्व-धर्म बन गया। यद्यपि चन्द्रगुप्त

है कि कलचुरि नरेशो के काल मे जैन धर्म का अत्यधिक प्रसार हुआ था।

प्रतीकात्मक दृष्टिकोण से भगवान ऋषभनाथ के हृदय पर अंकित श्री वत्स अर्थात् चक्र चिन्ह धर्म का प्रतीक माना जाता है। इसी भाँति इनका लाछन वृषभ भी धर्म का प्रतीक है। भगवान जिस पद्मासन पर विद्यमान दिखाये जाते है वह सृष्टि का प्रतीक एव मस्तक के पीछे लगा हुआ धर्मचक्र, प्रभामण्डल के रूप मे वेद का काल चक्र है, जो काल एवं धर्मचक्र के रूप में विष्णु और शक्ति के हाथों मे है और जिन तथा बुद्ध से सम्बद्ध है। भगवान के मस्तक पर स्थित त्रिछत्र, त्रिशक्ति के प्रतीक मात्र है। जो शिव और बुद्ध का त्रिशूल तथा दुर्गा का त्रिकोण है। धर्मचक्र एवं त्रिशक्ति के दोनों पार्श्व पर दो गज आध्यात्मिक गौरव और वैभव के प्रतीक हैं। ●

मौर्य ने जैन-धर्म का व्यापक समर्थन किया था यहाँ तक कि स्वयं भी वह दक्षिण भारत मे जैन-धर्म का प्रचार करने गया था। परन्तु उसके पौत्र महान् अशोक के समय बौद्ध-धर्म को पूर्णत सरक्षण मिला, पुष्ट पृष्ठभूमि, व्यापक मानववाद के सिद्धान्त और महान् सम्राट् के संरक्षण के कारण बौद्ध धर्म की विश्व मे तूती बोलने लगी। मध्य एशिया, लका और दक्षिण-पूर्व-एशिया मे न केवल अशोक के प्रतिनिधि; वरन् स्वय सम्राट् और उसके पारिवारिक जन इस धर्म का सन्देश पहुचाने गये। इसी का प्रभाव है कि आज विश्व की एक तिहाई जनसंख्या बौद्ध धर्मानुयायी है।

धर्म के राजसंरक्षण से तात्पर्य लोगो पर धर्म का बलात् आरोपण नही है अपितु मानव-समाज के साथ धर्म का तन्मयी करण है। जब समाज-विशेष किसी धर्म की उपयोगिता को समझकर इसे एक बार ग्रहण कर लेता है तो वह उसके लिए शाश्वत धर्म बन जाता है। शुङ्गो व सातवाहनो के द्वारा प्रतिपादित धर्म की अस्थिरता का यही कारण था। उन्होने कठोर ब्राह्मण धर्म के अनुसार अनेक नीति-निर्देश व कुष्ठाग्रस्त कानून बना डाले और उन्हे जनता पर थोपना चाहा। फलत शक, कम्बोज व अन्य विदेशी जातियाँ कनिष्क के काल में सरल बौद्ध धर्म को अपनाने लगी। क्योंकि इस धर्म को ऐसा राजसरक्षण प्राप्त था जिसमें धर्म के बलात् ग्रहण का अवसर ही नही था सभी जातियो के योग्य व्यक्ति उच्च श्रमण पद प्राप्त करने के अधिकारी थे, विभिन्न वर्गों से श्रमणो के आने से बौद्ध धर्म का बाहुल्येन अंगीकरण स्वाभाविक था।

चूकि इतिहास बतलाता है कि धर्म राजसंरक्षण से फूला-फला है। अतः स्वाभाविक था कि कनिष्क के पश्चात् बौद्ध धर्म को पूर्ण सरक्षण न मिलने से उसका ह्रास प्रारम्भ हो गया। गुप्त-काल मे अन्य धर्मों के साथ हिन्दू-धर्म को व्यापक सरक्षण प्राप्त हुआ, जिसकी नीव इतनी मजबूत थी कि यह धर्म सत्तरह सौ साल से अनेक झझावातो को शमन करता हुआ द्रुत गति से समय के साथ चल रहा है। गुप्तो के दो सौ वर्ष के व्यापक एवं दृढ़ राजसरक्षण के कारण ही यह सम्भव हो सका।

दक्षिण भारत मे ५वी शताब्दी मे जैन-धर्म को कदम्बवश के महाराज अविनीत के द्वारा संरक्षण देने का उल्लेख उनके दानपात्र मे है। महाराजा ने चन्द्रनन्दि भट्टारक को जैन मन्दिर के लिए ग्राम दान किया था। वस्तुत जैनधर्म की समन्वयवादी अहिसात्मक प्रवृत्ति ने व्यापक राजसरक्षण प्राप्त किया। जैन-मुनि व साधुओ का आचार ज्ञान व उपदेश ग्राह्य एव आकर्षक माने जाते रहे है। जैन-आचार्यों की साधना एव सस्कृति के प्रति आस्था ने राष्ट्रकूट राजाओं मे जैन धर्म के प्रति आकृष्ट कर लिया था तभी तो राष्ट्रकूटो के संरक्षण मे उनकी राजधानी मान्यखेढ एक अच्छा जैन-केन्द्र बन गया था। चालुक्य वश जैन-धर्म का महान् सरक्षण रहा। उसके साहाय्य से दक्षिण मे जैन धर्म का बहुत प्रचार हुआ। होयसलो के साहाय्य व सरक्षण मे जैन मन्दिर तथा अन्य धार्मिक सस्थाएँ खूब फैली। भारतीय सस्कृति के अक्षुण्ण तत्त्व-साहित्य, वस्तुकला एव कालानुकूल भाषाएँ जैनधर्म को राजसरक्षण मिलने से ही तो स्थायी एव उपयोगी बन पायी है। वस्तुत. जैनधर्म को प्राप्त राजसरक्षण ही वर्तमान मे भारत की भावात्मक एकता का निदेशक बन सकता है। धर्म व्यक्ति की चित्तवृत्ति का बहिः प्रदर्शन तभी कर पाता है जब वह समाज की व्यापक भाव से सेवा कर सके, उनके अन्दर अध्यात्म-चिन्तन व उसके व्यावहारिक उपयोग की प्रवृत्ति पैदा कर सके। यही धर्म की वास्तविक उपयोगिता है ऐसे धर्म का शाश्वत सरक्षण होना उचित है।

यूरोप व पश्चिमी एशियाई देशो में भी धर्म को राजसंरक्षण प्राप्त रहा है; और यूरोप मे तो धर्म ने शैक्षणिक व सास्कृतिक स्तर पर धर्म-प्रचार की दृष्टि से कार्य भी किया है। साथ ही धर्म के राजसरक्षण का दुरुपयोग भी किया। जब एथेंस, रोम और योरोपीय नगरों मे ईसाई-चर्च के सर्वेसर्वा पोप पाल का वचन ईश्वर-आदेश माना जाता था और उनकी आज्ञा का उल्लंघन व बाइबिल के उपदेशो का तिरस्कार करने पर 'मृत्यु दण्ड' मिलता था तब ईसाई-धर्म को भी अज्ञानान्ध राजाओं का संरक्षण प्राप्त था तभी तो महान् दार्शनिक सुकरात को सत्य कहने से रोका जाता था और गैलीलियों को तो सत्य को गले के नीचे ही रखना पड़ा था। धर्म

को राजसरक्षण प्राप्त हो या न हो; परन्तु राजसरक्षण के कारण यदि धर्म ऐसे क्रूर और कृतघ्न तत्वों को बढ़ावा दे तो ऐसे राजसरक्षण की कोई आवश्यकता नही।

इस्लाम स्थिर धर्म है; समय के अनुसार उसमें व्यापक साहित्य, सस्कार एवं विचारो का विकास श्लथ-गति से हुआ है, इसलिए इसके संरक्षणदाता बादशाह काजियो के कथनानुसार इस धर्म को सरक्षण प्रदान कर प्रोत्साहन देते रहे। इस धर्म के सरक्षक बादशाह इस्लाम धर्म की वृद्धि व अन्य धर्मों के क्षय मे विशेष रुचि रखते रहे। इस्लाम को भारत मे मुगल साम्राज्य मे भिन्न-भिन्न रूपेण सरक्षण मिला। इसी समय कुछ लोगो ने धर्म परि-वर्तन भी किया। किन्तु यह अकबर के काल मे व्यक्ति की इच्छा और प्रदत्त लोभो पर निर्भर रहा। धर्म के राजसरक्षण का विशेष प्रभाव इस पर नही पडा। पश्चात् औरंगजेब ने भी इस्लाम को राजसरक्षण प्रदान किया। उसने अपनी शक्ति से भारत मे इस्लाम के व्यापक प्रचार की सोची थी परन्तु यह राजसरक्षण-इस्लाम धर्म और औरंगजेब—दोनो के लिए महगा पडा।

धर्म को राजसरक्षण का ही कुपरिणाम था कि ब्रिटिश शासन भारत मे तीन सौ वर्ष तक चलता रहा। उन्होने अपनी भेद-नीति के कारण हिन्दू व मुसलमानो को खेमो मे विभक्त कर भारत के प्रशासन व राजनीति मे सघर्ष का बीज बो दिया, जिसके फलस्वरूप भारत दो राष्ट्रो मे विभक्त हुआ। धर्म को यह गुप्त-राजसरक्षण भारतीय उपमहाद्वीप मे अशान्ति का वातावरण बनाकर इतिहास पर कलक के रूप मे अंकित है।

प्रजातन्त्र-राष्ट्रों मे 'धर्म-निरपेक्ष-राज्य' का सिद्धान्त मान्य हुआ है अर्थात् राज्य धर्म की ओर से निरपेक्ष है उसे कोई सरक्षण प्राप्त नही होगा। भारत मे धर्म के सम्बन्ध मे स्वतन्त्रता के पश्चात् का दृष्टिकोण यह रहा है कि प्रत्येक वर्ग को धर्मविशेष के प्रचार-प्रसार का अधिकार है बशर्ते कि धर्म राष्ट्र के अहित मे कोई कार्य न करे। वैसे तो भारत मे बौद्ध धर्म को स्वतन्त्रता के पश्चात् भी सरक्षण मिला है बौद्धगृहो का पुनर्निर्माण हुआ है, बुद्ध जयन्ती व बुद्ध-उपवन के लिए वित्त-व्यवस्था की गई है। भगवान महावीर-निर्वाणोत्सव के लिए सरकार व्यय करने को तत्पर है परन्तु इन सब का उद्देश्य मानव-मात्र का कल्याण ही है।

सम्प्रति विश्व के अधिकाश देशो मे प्रजातन्त्र है। प्रजातन्त्र राष्ट्र मे कोई भी धर्म तभी सरक्षण प्राप्त करता है जब वह सम्पूर्ण समाज के हित की बात कहे, वह लोकमत के अनुकूल हो; उसमे मानवता के सन्देश भरे हो; वह सत्य का प्रत्येक आत्मा मे सन्धान कर सके।

समाज-सगठन-प्रवृत्ति धर्म की ओर दृष्टि लगाये हुए है। लोक-समुदाय ऐसे धर्म की खोज मे है जो चिरन्तन सत्य का मार्गप्रदर्शन करे और युगधर्म का सहयोगी बन कर वर्तमान विभीषिकाओ से त्राण देकर शीतल शान्ति सलिल का आचमन करा सके। ऐसे मानवतावादी धर्म को ही प्रजातन्त्र मे सरक्षण मिलना सम्भव है। ऐसे धर्म के विषय मे ही यह सूक्ति है—"धर्मो रक्षति रक्षित:।"

णमोकार मंत्र का आरम्भिक रूप क्या है ?

श्री प्रताप चन्द्र जैन, आगरा

मंत्र वह है जिसके द्वारा निजानुभव का ज्ञान हो। जैनागम (श्रमण संस्कृति) मे णमोकार मन्त्र एक महान शान्तिदायक और सुखकारी मत्र है। विद्वान लेखक ज्योतिषाचार्य डाक्टर नेमिचन्द जी ने अपनी खोजपूर्ण पुस्तक "मंगल-मंत्र णमोकार—एक अनुचिन्तन" के आमुख मे लिखा है कि "यह नमस्कार मन्त्र है। इसम समस्त पाप मल और दुष्कर्मों को भस्म करने की शक्ति है। णमोकारमन्त्र मे उच्चरित ध्वनियों से आत्मा मे धन और ऋणात्मक दोनों प्रकार की विद्युत् शक्तियाँ उत्पन्न होती है, जिससे कर्म कलङ्क भस्म हो जाता है। यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान भी विरक्त होते समय सर्व प्रथम इसी महामंत्र का उच्चारण करते है तथा वैराग्यभाव की वृद्धि के लिये आये हुए लौकान्तिक देव भी इसी महामन्त्र का उच्चारण करते है। यह अनादि है। प्रत्येक तीर्थंकर के कल्पकाल मे इसका अस्तित्व रहता है।"

प्रचलित णमोकार मन्त्र मे निम्नलिखित पैंतीस अक्षर है जिनमें अरिहंत से लेकर समस्त साधुओं तक को भी नमस्कार करने का विधान है।

णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं ॥

आदरणीय डाक्टर साहब ने इस अनुचिन्तन मे बड़े ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पैंतीस अक्षरो वाला यह णमोकार मन्त्र समस्त द्वादशाग जिनवाणी का सार है, इसमे समस्त श्रुतज्ञान की अक्षर संख्या निहित है। जैन दर्शन के तत्त्व, पदार्थ, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय, निक्षेप, आस्रव और बन्ध आदि भी इस मन्त्र मे विद्यमान हैं। विद्वान डाक्टर साहब ने इस मन्त्र को इसी रूप में अनादि बताया है परन्तु आगे चलकर उन्होंने यह भी लिखा है कि "कुछ ऐतिहासिक विद्वानों का अभिमत है कि साधु शब्द का प्रयोग साहित्य में अधिक पुराना नही है और साहूणं पाठ इस बात का द्योतक है कि यह मन्त्र अनादि नही है।"

डाक्टर साहब का यह कहना तो ठीक है कि साधु भी परम्परागत अनादि है परन्तु इस आधार पर महामन्त्र के पैंतीस अक्षरो वाले इस प्रचलित रूप को अनादि मान लेना विनयपूर्वक गले नही उतरता क्योकि उस दशा मे एक शका तो यह होती है कि क्या ऊचे पदधारी आचार्य अपने से लघु पद वाले उपाध्यायों और साधुओ को नमस्कार करेंगे और क्या उपाध्याय अपने से नीचे पद वाले साधुओ को नमस्कार करेंगे ? यदि नही तो यह मत्र इस रूप मे न आचार्यों के लिए हो सकता है और न उपाध्यायो के लिए। इसके अतिरिक्त क्या कोई आचार्य, उपाध्याय और साधु स्वय को भी नमस्कार करेगा क्यो कि सब मे तो वह स्वय भी आ जाता है। हाँ अन्य सभी जीवों के लिए हो सकता है।

कलिंग सम्राट् खारवेल द्वारा निर्मित हाथी-गुम्फा पर जो लेख है और जो पुरातत्त्व तथा इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है उसकी प्रथम पंक्ति में यह मन्त्र केवल निम्नलिखित चौदह अक्षरों मे अंकित है :—

नमो अरिहंतानं (१) नमो सत सिधानं ॥

(देखिये जैन सदेश का छठा शोधाक)

शिला लेख मे इसके लेखन की तिथि नही मिलती है। हो सकता है कि कुछ अक्षरो की भाति वह भी भग्न हो गई हो परन्तु इस लेख से यह तो स्पष्ट है कि वह शिला लेख ईसापूर्व चौथी शताब्दी का है। मानो आज से दो हजार तीन सौ बर्ष से भी अधिक प्राचीन। इस मन्त्र का इससे पुराना लेख शायद ही अन्यत्र कही उपलब्ध हो। और यह रूप है भी ऐसा जो अनादि हो सकता है। इस रूप में आचार्य और उपाध्याय सहित सभी जीव इसका उच्चारण कर सकते हैं।

कषाय प्राभृत, चूर्ण और त्रिलोक-प्रज्ञप्ति संबधी महत्वपूर्ण और नई विचारणा

ले० श्री अगरचन्द नाहटा

जैन-धर्म का कर्म-सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण और अनोखा है। कर्मों के सबध मे जितना विचार और विवरण जैन विद्वानो ने किया व लिखा है उतना विश्व के किसी भी धर्म के विद्वानो ने नही किया। मौखिक रहने के कारण कर्म सबधी जो बहुत बडा पूर्व नामक ग्रन्थ था वह तो काफी समय पहले ही लुप्त हो गया पर उसके आधार से लिखे हुए कई ग्रन्थ श्वे० और दि० दोनो सम्प्रदायो मे प्राप्त है। कर्म सबंधी मूल और टीका के रूप मे वर्तमान जो दोनो सम्प्रदायो का साहित्य उपलब्ध है, वह कई लाख श्लोक परिमित है। प्राचीन जैन आगमों मे कर्मों सबधी विवरण बीज रूप मे सक्षिप्त मिलता है। स्वतत्र ग्रन्थो मे 'कषाय प्राभृत' आदि ग्रन्थ प्राप्त व प्रसिद्ध है। कषाय-प्राभृत और महाबंध तथा उनकी टीकाए दक्षिण भारत के दि० शास्त्र भडारो मे ताडपत्रीय प्रतियो के रूप मे प्राप्त थी, वह सारा साहित्य अब प्रकाशित हो चुका है। श्वे० कर्म प्रकृति, पच सग्रह कर्मग्रथ आदि अनेको ग्रथ और उनकी टीकायें प्रकाशित हो ही चुकी है। इस विशाल कर्म-साहित्य का अध्ययन और आलोडन करके समस्त प्राप्त साहित्य के आधार से नये कर्म सबधी ग्रथ तैयार करने की योजना स्वर्गीय श्वे० आचार्य विजयप्रेम सूरि जी ने बनाई थी। वे स्वय जैन कर्म साहित्य के सबसे बडे विद्वान थे ही पर उन्होंने अपने शिष्य प्रशिष्यो को भी कर्म साहित्य के मर्मज्ञ बनाने का सहज प्रयत्न किया। इसके फलस्वरूप आचार्य विजयजबू सूरि जी, भुवनमान् सूरि जी तथा जयघोष विजय जी धर्मानन्द विजय जी, हेमचन्द्र विजय जी, गुणरत्न विजय जी आदि १०-१५ ऐसे विशिष्ट विद्वान तैयार किये, जिन्होने विजय प्रेम सूरि जी की भावना को मूर्तरूप देकर सफल बना दिया है।

उपरोक्त मुनियो ने समस्त जैन कर्म साहित्य को १७ बडे-बडे भागो मे (करीब २॥-३ लाख श्लोक परिमित प्राकृत सस्कृत मे) तैयार करके प्रकाशित करने की योजना बनाई। कुछ मुनि तो प्राकृत गाथाये बनाते है, कुछ उन पर विस्तृत सस्कृत टीकाएँ लिखते है। कुछ सशोधन आदि कार्य करते है इस तरह एक पूरा मण्डल ही इस भागीरथ कार्य में जुटा हुआ है। उक्त १७ भागो मे से ६ भाग तो गत ८ वर्षो मे प्रकाशित भी हो चुके है। इन

ऐसा लगता है कि कालान्तर मे कभी इसे वर्तमान प्रचलित रूप दे दिया गया हो। एक समय ऐसा आया भी था जब कि कालदोष के कारण स्मृति क्षीण होने मे श्रुत जन का धीरे-धीरे लोप होने लगा था और तब केवल एक अग के ज्ञाता आचार्य धर सेन ने आचार्य श्री पुष्पदन्त और भूतवलि द्वारा लिपिबद्ध करा कर उसका उद्धार हुआ था। हो सकता है कि इस प्रक्रिया मे इस महामन्त्र मे आचार्य, उपाध्याय और सब साधुओ को जोडकर वर्तमान सशोधित रूप दे दिया गया हो। तत्कालीन रचित षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड मे यह महामत्र मगलाचरण के रूप मे प्रचलित पेंतीस अक्षरो मे है भी। स्व० डा० हीरालाल जी जैन ने भी एक स्थान पर श्री पुष्पदन्ताचार्य को इस महामन्त्र का आदि कर्ता बताया है।

भले ही मन्त्र का वर्तमान प्रचलित रूप अनादि न हो परन्तु हमे कृतज्ञ होना चाहिए उन आचार्यो का कि उन्होने उसका यह सशोधन ऐसा अद्भुत और चमत्कृत करने वाला किया है कि वह केवल मन्त्र न रहकर द्वादशाङ्गरूप एव भाषा विज्ञान का आधार बन गया है, जैसा कि आदरणीय ज्योतिषाचार्य जी ने अपनी अनूठी और खोजपूर्ण पुस्तक "मङ्गल मन्त्र णमोकार—एक अनुचिन्तन" मे बड़ी खूबी के साथ सिद्ध किया है। फिर भी यह अनुसन्धान का विषय है। ●

महान् ग्रन्थो के प्रकाशनार्थ राजस्थानवर्ती पिडवाडा मे भारतीय प्राच्य तत्व प्रकाशन समिति नामक संस्था और ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना की गई है।

इस नये कर्म साहित्य को तैयार करने वाले कुछ मुनियो का दर्शन मैंने गत मार्च मे अहमदाबाद मे किया और उनकी लगन, निष्ठा और परिश्रम को देखकर उनके प्रति सहज ही भक्ति भाव उमड पड़ा। जब इस नये कर्म साहित्य के ४ बडे ग्रन्थ मुझे पहले प्राप्त हुए थे तो मैंने उनका परिचय जैन जनता विद्वानो को मिल सके, इसलिए लेख लिखकर "जैन सदेश" मे प्रकाशित करवाया था, अब इस नये कर्म साहित्य के कुल ६ भाग मुझे प्राप्त हो चुके है, १०-११वाँ छप रहा है। अत इस महान् कार्य की ओर जैन विद्वानो और समाज का ध्यान पुन: आकर्षित कर रहा हूं।

उपरोक्त नये कर्म साहित्य का प्रथम भाग खवग-सेढी संवत् २०२२ प्रकाशित हुआ था उसके प्रस्तावना, मूल गाथाये सस्कृत छाया और गुर्जर भाषानुवाद वाला ग्रथ अलग से भी प्रकाशित किया गया था। अत स्वोपज्ञ वृत्ति वाले बडे सस्करण का मूल्य २१) रु० है उसे जो नही खरीद सके, वे इस छोटे ग्रन्थ को खरीद सकते है इसीलिए इसका मूल्य २।) ही रखा गया है।

'खवग-सेढी की प्रस्तावना मुनि हेमचन्द्र विजय जी ने ८ पेजी ५४ पृष्ठो की लिखी है उसमे पृष्ठ १३ से ४८ तक मे कषायप्राभृत मूल, चूर्णि और त्रिलोक प्रज्ञप्ति के रचयिता और रचनाकाल के सम्बन्ध मे विस्तार से और नया प्रकाश डाला है। उसे तो दि० विद्वान प० हीरालाल जी शास्त्री, प० कैलाशचन्द जी, प० बालचन्द जी, प० फूलचन्द जी, डा० आदिनाथ उपाध्याय आदि को अवश्य ही पढ़कर अपने विचार प्रकाश मे लाने चाहिएं। क्योंकि इन विद्वानो ने कषाय प्राभृतादि एवं उनकी टीकायें और त्रिलोक प्रज्ञप्ति आदि के सपादन, अनुवाद और प्रस्तावना आदि लिखने मे बड़ा परिश्रम किया है। उनको इस नई जानकारी पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो गया है।

मुनि जी हेमचन्द्र विजय जी ने प्रस्तावना मे लिखा है कि कषाय प्राभृत और उसकी चूर्णि दिगम्बर और श्वे० के अलगाव होने से पहले के है और दोनो सप्रदायो मे ये मान्य रहे है। उनमें दी हुई मान्यतायें श्वे० सम्प्रदाय से अनुमोदित है और श्वे० कर्म साहित्य मे उनका उल्लेख व उद्धरण भी मिलता है। आर्य मगू और नाराहस्ती श्वे० नंदी सूतस्थ मे उल्लेखित है। दि० साहित्य मे उनका विवरण नही मिलता। नाग हस्ती के शिष्य यति वृषभ, चूर्णि के कर्ता है। कषाय प्राभृत मूल के कर्ता गुणधर भी वाचक वंश के है, जिस वाचक वश का उल्लेख और परपरा श्वे० स्थविरावली मे ही उल्लेखित है। कषाय प्राभृत चूर्णि का रचनाकाल वीर सवत् ४६८ के लाभ का है अर्थात् अब तक दिगम्बर विद्वानो ने जो काल माना था, उससे काफी पहले का है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति यति वृषभ के रचित नही है, न उतनी प्राचीन ही है। यद्यपि त्रिलोक प्रज्ञप्ति नामक एक प्राचीन ग्रथ भी रहा है पर वह अब उपलब्ध नही है। उसके आधार से जो त्रिलोक प्रज्ञप्ति रची गई, वही प्रकाशित हुई है। इस तरह श्वे० साहित्य के नये प्रमाणो के आधार से मुनि हेमचन्द्र विजय जी ने जो विचारणा की है वह दि० विद्वानो को अवश्य ही पढकर अपने विचार प्रकट करने चाहिए। नये कर्म साहित्य के प्रकाशित भागों व जैन ग्रन्थावलियों में अवश्य रखने चाहिये।

—०—

वर्णी-वचनामृत

वास्तव में धर्म की प्रभावना आचरण से होती है। यदि हमारी प्रवृति परोपकार-मय है तो लोग अनायास ही हमारे धर्म की प्रशंसा करेंगे और यदि हमारी प्रवृति और आचार मलिन हैं तो किसी की भी श्रद्धा हमारे धर्म में नहीं हो सकती।

जैनधर्म का नीतिवाद

डा० राजबलीजी पाण्डेय एम० ए०; डी० लिट्

प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय में जीवन का एक अन्तिम लक्ष्य माना गया है और उसकी प्राप्ति केलिए साधन बतलाये गये है। सभी भारतीय धर्मों में जिनमें जैन-धर्म की भी गणना है—यह बात पायी जाती है। जैन-धर्म में चरम लक्ष्य की प्राप्ति का मुख्य साधन नीति-मार्ग है। जैन-धर्म मे नीतिवाद का प्राधान्य कब और कैसे हुआ, इस बात को जानने के लिए आवश्यक है कि हम देखें कि भारतवर्ष में धर्म के अन्तिम लक्ष्य और साधन मे क्रमशः विकास कैसे हुआ ? ऐतिहासिक क्रम मे सबसे प्राचीन धर्म वैदिक-धर्म है। वैदिक सहिताओ के अध्ययन से मालूम होता है कि उस समय का धर्म 'देववाद' था जीवन का अन्तिम लक्ष्य ऐहिक सुखवाद था। पुत्र, कलत्र, स्वास्थ्य, दीर्घायु, धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्य की लोग कामना करते थे और विश्वास करते थे कि देवताओ की प्रसन्नता से ही ये पदार्थ मिल सकते है। अत. देवताओ की प्रशसा मे और उनकी तुष्टि के लिए ऋक् और साम-वैदिक ऋचाओं —की रचना की गई थी। भारतवर्ष के इस प्राथमिक युग मे आत्म-जिज्ञासा और मुक्ति की कल्पना का जन्म ही नही हुआ था। भारतवर्ष मे धर्म के विकास मे दूसरा चरण, ब्राह्मण ग्रन्थो मे पाया जाता है। ब्राह्मण-युग के धर्म को हम 'वेदवाद' कह सकते है। इस युग मे भी जीवन का अन्तिम लक्ष्य इस लोक मे पार्थिव सुख और परलोक मे स्वर्ग की प्राप्ति थी, जहा पर पृथ्वी के अपूर्ण सुखो की पराकाष्ठा सभव थी। इसके लिए यज्ञ साधन थे और अनेक प्रकार के यज्ञों मे वेद-मन्त्रों के बल से देवताओ को वाछित पदार्थ देने के लिए विवश किया जाता था। भारतीय धर्म का तीसरा चरण उपनिषदो मे दिखाई पडता है। इस समय मनुष्य बाह्य जगत् के आश्चर्यो और आकर्षणों से हटकर अन्तर्मुख होने लगा। आत्म-जिज्ञासा और मुक्ति की कल्पना का उदय हुआ। उपनिषदों का धर्म 'ब्रह्मवाद' था। ब्रह्म-प्राप्ति का साधक आत्म-ज्ञान अथवा ज्ञान था, यज्ञ और वेदमन्त्र की आवृत्ति नही। फिर भी अपनी समन्वय की नीति के कारण उपनिषद् ब्राह्मणों के कर्म-काण्डीय प्रभाव से अपने को मुक्त न कर सकी। भारतीय धर्म के उपर्युक्त विकास-क्रम में जीवन के अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति मे साधन रूप से नैतिक आचरण का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही दिखाई पडता, यद्यपि कही-कही उसकी ओर सकेत मिलता है। आगे चलकर भारतवर्ष मे बौद्ध और जैन-धर्म का उदय हुआ। इन धर्मो ने उपनिषद् के मुक्ति-आदर्श को स्वीकार किया, किन्तु वैदिक और ब्राह्मण-धर्म के चरम लक्ष्य ऐहिक तथा पारलौकिक सुखवाद और उसकी प्राप्ति के साधन मन्त्रपाठ और यज्ञ का पूर्णत परित्याग किया। उन्होने मानव-जीवन के उत्थान और चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नैतिक आचरण को प्रमुख स्थान दिया। इन दोनों मे भी बौद्ध-धर्म 'बुद्धिवाद' पर अधिक जोर देता रहा; नैतिक आचरण की प्रखरता मे वह जैन-धर्म का साथ न दे सका। इस प्रकार नीतिवाद का समर्थक जैन-धर्म ही हुआ, यद्यपि गौणरूप से इसको उपयोगिता अन्य धर्म भी मानते रहे।

नीतिमार्ग के अवलम्बन का अर्थ है अपने दायित्व का बोध, स्वावलम्बन और स्वातन्त्र्य। इसमे बाहरी विधि (अथवा चोदना—प्रेरणा अथवा आज्ञा), दूसरो की सहायता और दया, तथा प्रलोभन आदि का स्थान नही है। इस मार्ग पर चलने के लिए जैन-धर्म को कई प्राचीन रूढियो और परम्परा का सामना करना पड़ा। सबसे पहले वेदों के प्रमाणवाद का सामना करना पड़ा। वेदवाद वेदो को अपौरुषेय मानकर उनको अति मानुष महत्त्व दे रखा था। वेदवादियों ने समझ लिया था कि किसी अति-मानुष सत्ता ने मानव-जाति की समस्याओ को सदा के लिए सोच लिया है और उनके हल के लिए एक विधि-शास्त्र

वेदो के रूप मे छोड़ दिया है; मनुष्य वेदों की विधि अथवा चोदना के विरुद्ध नही जा सकता, उसको अपने लिए सोचने की आवश्यकता भी नही। इस प्रमाणवाद के नीचे मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो रही थी जब मनुष्य को अपने कर्म के विषय मे सोचने की स्वतन्त्रता नही तो कर्म के परिणाम का उसके ऊपर दायित्व ही कैसे हो सकता है? इसलिए यह वाद मनुष्य की नैतिक चेतना को भी क्षीण कर रहा था। दूसरी रूढि जिसका सामना जैन-धर्म को करना पड़ा वह 'देववाद' अथवा ईश्वरवाद' था। किसी अलौकिक अतिमानुप सत्ता को कर्त्तृत्व और नियन्त्रण सौप कर मानव उसके हाथ की कठपुतली और उसकी दया का भिखारी हो गया था। इस कल्पित 'महा-मानव' के व्यक्तित्व के भार से बिचारे मानव का व्यक्तित्व संकुचित और निष्प्रभ हो रहा था। जैनधर्म ने 'वेदवाद' और 'देववाद' दोनो का विरोध किया। उसने इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य का कर्म किसी बाहरी विधि से प्रेरित नही हो सकता; कर्म-निर्णय का एकमात्र साधन उसकी बुद्धि और अनुभव है और अपने कर्मो का दायित्व उसको उठाना पड़ेगा। इस दायित्व के बोध से ही उसका पूर्ण बौद्धिक विकास सभव है। जैनधर्म ने इस तथ्य का भी प्रतिपादन किया कि सृष्टि का कर्त्ता या नियन्ता कोई बाहरी सत्ता नही, मनुष्य स्वयसिद्ध और अपने भाग्य का निर्माण करने वाला है, वह किसी की दया और सहायता का भिखारी नही, मनुष्य अपने चरित्र और तपोबल से ऐश्वर्य (ईश्वर) की प्राप्ति कर सकता है; स्वावलम्बन और स्वातन्त्र्य मनुष्य मे सहज है, इसके लिए किसी के सामने आवेदन-पत्र देने और हाथ पसारने की आवश्यकता नही। तीसरी रूढ़ि जिसके विरोध मे जैन-धर्म को उठाना पड़ा वह मीमासकों का कर्म-काण्ड था। यज्ञ बहुत ही विस्तृत, दुरूह, खर्चीले और फिर प्राय. हिसा प्रधान हो चले थे। इस बाह्याडम्बर मे न तो कहीं मनुष्य के व्यक्तित्व और नैतिक दायित्व का पता था और न तो धर्म की मूल भावना का अस्तित्व। बाहरी क्रियाकलाप मे मानव अपने को खो गया था। सारा कर्म-काण्ड सुख-वाद से प्रेरित और अन्धश्रद्धा पर अवलम्बित था। इसके स्थान पर जैनधर्म ने दृष्ट-मानव-व्यवहार मे दिखाई पड़ने वाले—नैतिक आचरण पर जोर दिया और मानव के चरम विकास का इसको साधन बतलाया।

मुक्ति अथवा कैवल्य की प्राप्ति के लिए जहां सम्यग् दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता, उपनिषद् और बौद्ध धर्म की भाति, जैनधर्म ने स्वीकार की है, वहां 'सम्यक् चरित्र' को सबसे अधिक प्रधानता दी है। औपनिषद्, बौद्ध, ईसाई आदि धर्म भी शील और चारित्र को जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मानते है। परन्तु जिस निष्ठा के साथ जैनधर्म ने इस साधन का अवलम्बन किया है वह ससार के इतिहास मे दुर्लभ है। जैन धर्म के अनुसार वासनामूलक सकाम कर्म ही पाप और बन्ध का कारण है। अत. सम्यक् चारित्र (रागद्वेष से रहित आचरण) से ही कर्म के प्रवाह को रोका जा सकता है। इसी मार्ग से कर्म को उसको बाधनेवाली शक्ति से रहित करना संभव है। मानव-स्वभाव के सस्कार का यही पथ है।

सम्यक् चारित्र के आधारभूत महाव्रत, जैनधर्म के तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुसार चार थे—(१) अहिसा (२) सत्य (३) अस्तेय और (४) अपरिग्रह। *चौबीसवे तीर्थकर महावीर ये पाचवाँ महाव्रत ब्रह्मचर्य* भी इनके साथ जोड दिया। जो लोग जैनधर्म को पलायनवादी और एकागीण समझते है वे देखेगे कि पाच महाव्रतो के पालन का उद्देश्य केवल व्यक्ति का सस्कार और मुक्ति नही, किन्तु ससार का कल्याण और मुक्ति है। प्रथम महाव्रत का अर्थ है जीव मात्र को मनसा वाचा कर्मणा किसी प्रकार का कष्ट न देना। अन्ततोगत्वा यह व्रत जीवमात्र की समता और सभी जीवधारियो के समान अधिकार समान सुख की भावना पर अवलम्बित है। कष्ट किसी को प्रिय नही। यदि कोई जीवधारी चाहता है कि उसको कष्ट न हो तो उसको दूसरो को कष्ट देने से अपने को रोकना पड़ेगा। अतः अहिंसा विश्व को शान्तिपूर्ण स्थिति के लिए जीवमात्र का पारस्परिक धर्म है। दूसरा महाव्रत सत्य है। इसका सीधा अर्थ है जो वस्तु जैसी मालूम हो उसको वैसी ही कहना और झूठ से बचना। परन्तु जैनधर्म ने सत्य की इस परिभाषा मे *थोड़ा संशोधन किया। उसके अनुसार सत्य केवल 'ठीक'*

ही नहीं, अपितु कल्याणकारी और प्रिय भी होना चाहिए। इसीलिए सत्य को सूनृत भी कहा गया है। केवल ठीक सत्य मे अहकार, वाचालता, अश्लीलता आदि आ जाते है। शिव और सुन्दर सत्य बोलने के लिए काम, क्रोध, मद, लोभ का सवरण करना आवश्यक है। तीसरा महाव्रत अस्तेय है। इसका अर्थ है किसी की वस्तु को उसके दिये बिना ग्रहण न करना। इस महाव्रत मे जीवमात्र के अस्तित्व की पवित्रता के समान ही उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति की पवित्रता भी स्वीकार की गई है। किन्तु यहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति से मतलब अनियन्त्रित रूप से बल और छल से उपार्जित सम्पत्ति नही। सम्पत्ति के सचय मे भी दूसरे के सत्य का ध्यान रखना आवश्यक है। मनुष्य को अपने परिश्रम के बदले मे ईमानदारी के साथ पारिश्रमिक मात्र लेने का अधिकार है; इससे अधिक ग्रहण करना स्तेय अथवा चोर कर्म है। चौथा महाव्रत अपरिग्रह है। इसका शाब्दिक अर्थ है ग्रहण न करना। आचाराग सूत्र मे इसकी और स्पष्ट परिभाषा की गई है।

'सभी इन्द्रिगम्य पदार्थों मे अनासक्ति अपरिग्रह है'। अपने इन्द्रियसुख के लिये आवश्यकता से अधिक पदार्थो का सग्रह करना सामाजिक कलह और संघर्षका कारण है। अनियत्रित सम्पति-सचय और पूजीवाद परिग्रह के परिणाम है। अल्प सग्रह और व्ययसे ही समाज मे आर्थिक समता और सुख स्थापति हो सकते है। परिग्रह के पाप का प्रायश्चित चौरकर्म से सचित की हुई सम्पत्तिका दान नही हो सकता। व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण के लिये इस पाप से बचना होगा और इसका उपाय है परिग्रह (सचय) को प्रवृत्ति का त्याग।

अन्तिम महाव्रत ब्रह्मचर्य है। सर्वसाधारण में इसका प्रचलित अर्थ यौन-सम्बन्ध से विरत होना है। परन्तु जैन धर्म के अनुसार ब्रह्मचर्य का अर्थ सभी प्रकार की कामवासना का परित्याग है। यह संभव है कि मनुष्य स्थूल यौन-सम्बन्ध से अपने को बचा ले, किन्तु इतने से ही वह ब्रह्मचारी नही हो सकता; उसका मन भीतर से विषय में आसक्त रह सकता है और वह अपने वचन, चेष्टा और इंगित से विषय का रसास्वादन कर सकता है। इसके अतिरिक्त विषय का अधिष्ठान सभी इन्द्रियो में है अतः यौन-इन्द्रिय के साथ-साथ अन्य इन्द्रियों का भी संयम आवश्यक है। अतः ब्रह्मचर्य से प्रयोजन बाह्य और अन्तः, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सभी प्रकार के काम और कामवासना का परित्याग है। और महाव्रतों के समान ब्रह्मचर्य भी केवल व्यक्तिगत व्रत नही, किन्तु सामाजिक सयम है। इनके पालन करने से जीवमात्र केवल हमारी वासना की तृप्ति के साधन न रह कर समता, पवित्रता और आदर के पात्र हो जाते है।

'द्रव्य संग्रह' नामक पुस्तक मे व्रतों की सख्या और बढा कर दी गयी है, परन्तु उन सब का अन्तर्भाव इन्ही मूल पाच महाव्रतो मे हो जाता है।

उपर्युक्त पाँच महाव्रत नैतिक आचरण की आधार शिला है। इनको कार्यान्वित करने के लिये 'तप' की व्यवस्था की गयी थी। तप का अर्थ, धर्म के पथ मे श्रम करना है। इसको करके ही मनुष्य 'श्रमण' हो सकता है। तप दो प्रकार का बतलाया गया है— (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य में (१) अनशन (२) अवमोदरिका (चान्द्रायण व्रत) (३) भिक्षाचर्या (४) रसपरित्याग (५) काय-क्लेश और (६) सलीनता सम्मिलित है। आभ्यान्तर तप मे (१) प्रायश्चित (२) विनय (३) वैयावृत्य (सेवा) (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग (विशिष्ट त्याग-शरीर त्याग) की गणना है। आभ्यन्तर तप संख्या (३) के अनुसार (१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) ग्लान (रोगी) (६) शैक्ष और (७) साधर्मिक सेव्य माने गये है। इनके अतिरिक्त (१) कुल (२) गण और (३) संघ भी सेवास्पद बतलाये गये है। तप के प्रकारो मे कुछ तो केवल भिक्षुओं और श्रमणो के लिये ही संभव है, किन्तु अधिकाश सभी के लिये साध्य है। तप मे सेवा का एक विशिष्ट स्थान है और उसका सामाजिक महत्त्व भी।

जैन-धर्म अपने इस नीति-मार्ग के ऊपर अपना एकाधिकार नही मानता और न इस बात को मानता है कि कोई जैन धर्म की साम्प्रदायिक दीक्षा लेने से ही इस मार्ग से लाभ उठाकर कैवल्य प्राप्त कर सकता है। बिना साम्प्रदायिक भक्ति के ही संसार के कोई भी व्यक्ति इस मार्ग पर चल लाभ उठा सकता है। ईश्वर के स्थान

पर सम्प्रदाय और गुरुको रख दिया गया तो फिर मनुष्य का स्वातन्त्र्य कहाँ ? वह तो फिर ईश्वर के बदले एक छोटे ईश्वर मनुष्य का दास हो गया। इसीलिये रत्नशेखरने अपने ग्रन्थ 'सम्बोध-सत्तरी मे' लिखा है,—"चाहे कोई श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य किसी भी धर्म सम्प्रदायका अनुयायी हो, यदि उसको आत्मा की समानता का बोध हो गया है—और व्यवहार मे सभी जीवो को समान समझा है—तो वह कैवल्यका अधिकारी है।" इस धर्म को मानने के लिये आत्मबल और सयम की आवश्यकता है। जिनमें ये साधन है वह सर्वत्र जिन-विजयी हो सकता है।

जैन-धर्म के नीतवादका केन्द्र मानव और उसकी अभिव्यक्ति समस्त प्राणिमात्र में समदृष्टि से प्रेरित जीव-दया है। इस धर्म के कुछ एकागीण पथिको को देख कर कतिपय विद्वानों में इस धर्म के सम्बन्धों में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। प्रसिद्ध प्राच्यविद्या-विशारद श्री हापकिन्स ने अपने ग्रन्थ 'रेलिजन्स् आफ इण्डिया' (पृ० २९७) में लिखा है, "जैनधर्म एक ऐसा धर्म है जिसके मुख्य सिद्धान्त जिन पर विशेष बल दिया गया है, ये हैं—(१) ईश्वर में अविश्वास, (२) मानव पूजा और (३) कीड़ों मकोड़ों का पोषण।" ये शब्द व्यंग में लिखे गये है। मैंने इस पुस्तक को प्रथम आज से अठारह वर्ष पहले पढा था। अपनी आधुनिक बाह्य रूपरेखा की प्रतिक्रिया से मुझको भी जैनधर्म कुछ ऐसा ही दिखाई पड़ता था। परन्तु आज बल-पूर्वक कह सकता हू कि उपर्युक्त आलोचना जैनधर्म की मूल भावना के सम्बन्ध मे अज्ञान का परिणाम है। जिसको श्री हापकिन्स महोदय जैनधर्म की दुर्बलता समझते है, मैं उसको जैनधर्म की शक्ति मानता हूँ। वास्तव मे जिसकी ससार मे राजनैतिक, धार्मिक या बौद्धिक साम्राज्य की स्थापना करना है उसको महा-मानव (सुपरमैन) अथवा ईश्वर की आवश्यकता होगी, क्योकि उसकी कल्पना भी तो देवाधिपति या विश्वपति के रूप मे है, जिसे ससार के असख्य मनुष्यों को लघु-मानव (सब ह्यूमन) अथवा पशु या यन्त्र समझ कर उनका शोषण और सत्त्वापहरण करना है उनके लिये मानव और मानव पूजा का क्या महत्त्व ? और जिनके उदर कोटि-कोटि जीवधारियो के शरीर के लिये नित्य कब्रगाह और श्मशान बन रहे है उनके सामने जीव-दया की क्या उपयोगिता ? परन्तु जैन धर्म तो धर्म और श्रेयका मार्ग है; प्रेम, सङ्घर्ष, कलह, युद्ध और इनसे उत्पन्न दु:खका प्रवर्तक नही। यदि मनुष्य को एक तरफ देवत्व और दूसरी तरक दानवत्व छोड़कर 'मानव' बनना है तो उसको जैन-धर्म की उपयोगिता स्पष्ट दिखाई पड़ेगी।

स्त्रियों का आदर

हमारे देश में जब उन्नति हो रही थी तब स्त्रियों का खूब आदर था और वे शिक्षित थीं। किन्तु जबसे उनका आदर कम हुआ, शिक्षा भी कम हो गई है तभी से अवनति ने यहाँ प्रवेश किया है। इसलिए यह कहना ही ठीक जचता है कि अशिक्षण के रिवाज पर लात मार कर स्त्रियों को खूब शिक्षित करना हमारे लिए पथ्य है। दूसरा कोई भी मार्ग हमारे कल्याण का नहीं है। बहुत पुराने जमाने को जाने दीजिए, महावीर के जन्म का केवल ढाई हजार वर्ष ही बीते हैं। उनके पिता अपनी पत्नी का कैसा आदर करते थे ?

सुकवि खेता और उनकी रचनाएँ

ले० श्री अगरचन्द नाहटा

१८वी शताब्दी मे राजस्थानी साहित्य का निर्माण बहुत अधिक हुआ है। जैन कवियो ने भी इस शताब्दी मे काफी साहित्य सृजन किया है। और उनके सम्बन्ध मे प० वसन्तलाल शर्मा पिलानी वालों ने शोधप्रबन्ध भी लिखा है जो अभी तक अप्रकाशित है। राजस्थान मे खरतरगच्छ का बहुत अधिक प्रचार व प्रभाव रहा। अत. राजस्थानी भाषा मे सर्वाधिक साहित्य खरतरगच्छ के कवियो का ही मिलता है। इनमे से महाकवि जिनहर्ष के सम्बन्ध मे तो डा० ईश्वरानन्द शर्मा शोधप्रबन्ध लिख चुके है। कविवर धर्मवर्द्धन, विनयचन्द्र और जिनहर्ष की रचनाओ का सग्रह हमने सम्पादित करके प्रकाशित कर दिया है। उपाध्याय लक्ष्मी वल्लभ और जिनसमुद्र सूरि के सम्बन्ध मे मेरा एक लेख राजस्थानी पत्रिका में प्रकाशित हो चुका है और धर्मवर्द्धन आदि कई कवियो और उनकी रचनाओं सम्बन्धी लेख अन्य पत्रिकाओं मे छप चुके है। प्रस्तुत लेख में सुकवि खेता या या खेतल और उनकी रचनाओ का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

सुकवि खेता ने हिन्दी और राजस्थानी दोनो भाषाओं में थोड़ी और छोटी होने पर भी उल्लेखनीय रचनायें बनायी हैं। उनके द्वारा रचित चित्तौड़ और उदयपुर गजल तो प्रकाशित भी हो चुकी है। जिनमे इन दोनों स्थानों का बहुत ही सुन्दर व ऐतिहासिक वर्णन प्राप्त है।

खरतरगच्छ की ऐतिहासिक परम्परा में जिन जिनको यति दीक्षा दी जाती थी, उनका विवरण श्री पूज्यो की दफ्तर बही मे लिखा जाता था। इससे किस सवत व तिथि को किस स्थान में किसे दीक्षित किया गया, उनका बोल-चाल का अर्थात् घरेलू नाम क्या था, दीक्षा का नाम क्या रखा गया और उनके गुरू का नाम क्या था, इसका विवरण लिखा जाता था। ऐसी ही एक दफ्तर बहीं की नकल हमने की है। उससे संवत १७०१ से लेकर सवत १९५० तक मे खरतरगच्छ की भट्टारक शाखा में कौन कौन यति कब दीक्षित हुए इसकी महत्त्वपूर्ण सूचना मिल जाती है।

उपर्युक्त दफ्तर बही के अनुसार सुकवि खेता का पूरा और घरेलू नाम 'खेतसी था। संवत् १७४१ के फाल्गुण वदी ११ गुरुवार को केरिया ग्राम मे खरतर गच्छाचार्य जिन चन्द्र सूरि जी ने इन्हे दीक्षित किया था। इनका दीक्षा का परिवर्तित नाम दयासुन्दर रखा गया। इनके गुरू दयावल्लभ गणि थे। यद्यपि इनके जन्मस्थान का निश्चित उल्लेख नही मिलता पर चित्तौड की गजल सवत १७४२ सावन मे बनाई गई है और उदयपुर गजल १७५७ मे। इन दोनो स्थानों का जो विवरण कवि ने इन गजलों में दिया है उससे मालूम होता है कि कवि को इन स्थानों के सम्बन्ध मे बहुत अच्छी जानकारी थी। इससे कवि का मेवाड़ निवासी होना विशेष सम्भव है कवि की पहली रचना संवत १७४३ की प्राप्त है इससे कवि वहीं उसमें ही दीक्षित हुआ होगा। क्योकि सवत १७४० मे दीक्षा ली और दो वर्ष के अन्दर ही काव्य बनाने लगा तो इसकी योग्यता के विकास में यदि बाल्यावस्था मे दीक्षा ली भी होती तो कुछ वर्ष तो लग ही जाते। वैसे अनुमान तो यह होता है कि वह खरतर गच्छीय सुप्रसिद्ध कवि आचार्य श्री जिनराज सूरि जी के शिष्य दयावल्लभ गणि की वृद्धावस्था में छोटी उम्र में ही खेतसी उनके पास आ गया हो और योग्यवय और योग्यता प्राप्त होने पर कई वर्षों बाद दीक्षा ली गई हो। उदयपुर और चित्तौड़ गजल को ध्यान पूर्वक पढ़ने से एक अनुमान और भी निकाला जा सकता है कि उसका जन्म जैन घराने नहीं हुआ हो, वैष्णव शैव या शक्ति का उपासक उसका घराना रहा होगा। इससे कवि ने इन दोनों गजलों में जैन मन्दिर आदि का वर्णन इतना नहीं किया जितना

कि अन्य स्थानों और अन्य देवी देवताओं के मन्दिर का किया है। कवि की एक रचना हिंगलाज भवानी छन्द भी हमारे संग्रह मे है इसे भी शक्ति या देवी उपासना की ओर विशेष आकर्षण या झुकाव प्रतीत होता है जो बहुत सम्भव है इसके घरेलू पूर्व सस्कारो के कारण हो।

रचनाएँ :

कवि की दो रचनाएँ सवत १७४३ की रची हुयी प्राप्त है जिनमे से १ प्रथम है—चौबीस तीर्थङ्करो के स्तवनरूप—'चौबीसी'। इसकी प्रति कोटा भण्डार मे है और नकल महो० विनयसागर जी के सग्रह मे है। सवत १७४३ मे हीरवास मे इसकी प्रति लिखी हुयी है। इस रचना मे कवि ने अपना दीक्षित नाम 'दया सुन्दर' का ही प्रयोग किया है। जब कि अन्य रचनाओ मे खेता खेतल या 'खेतसी' इन गृहस्थावस्था के नामो का प्रयोग किया गया है। इससे मेरा यह भी अनुमान है कि सवत १७४३ के आस-पास ही कवि के वृद्ध गुरू 'दयावल्लभ' गणि स्वर्गवासी हो गये थे। अतः पीछे कवि सम्भवतः कुछ स्वच्छन्दी हो गये हो; जिससे अपने दीक्षित नाम को प्रधानता न देकर पूर्वावस्था के प्रसिद्ध नाम को महत्व देता गया।

कवि की दूसरी रचना 'बावनी' संज्ञक हमारे सग्रह में है। इसमे ६४ पद्य है। वह भी मंगसिर सुदी ६ शुक्रवार को दहरवास ग्राम मे चौमासा करते हुए रची गयी है। इसके पद्यो मे कही खेता कहीं खेतल नाम के साथ कवि और सुकवि विशेषणों का भी प्रयोग किया है। इसमे कवि अपने को उस समय अच्छा कवि मानने लग गया था। बावनी के अन्तिम पद्य मे कवि ने अपनी गुरु परम्परा, रचनाकाल, रचना स्थान का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

सम्वत सत्तर त्रेयाल, मास सुदि पक्ष मगसिर,
तिथि पूनिम शुक्रवार, थई बावन्नी सुथिर,
बारखरो हो बंध, कवित्त चौसठ कथन गति,
दहरवास चौमास में, तिणि रह्या सुखी अति,
श्री जैनराज सुरिसवर, दयावल्लभ गणि ताससिव,
सुप्रसाद तासइवेल सुकवि लहि जोडि पुस्तकलिखि।६४

नवग्रह छंद सं० १७४४ जेठ वदी १० से सं० १७४८ श्रा० व० १२ की कवि की चौथी रचना हिन्दी चित्तौड़ गजल है। इसके प्रारम्भ मे चतुरभुज के चरण को चित्त मे लाकर चित्तौड़गढ़ का वर्णन करने को लिखा है। बासठ पद्यों की इस रचना की कई प्रतियाँ हमारे संग्रह में है। इसके अन्तिम पद्यो मे कवि ने अपना गच्छ नाम और रचना काल का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

'खरतर' जाति कवि 'खेताक', आखें भौज्यं एताक।
संवत संतर सै अड़ताल, श्रावणमास ऋतु वरसात।
विधि परव वारमी तेरीक, कीनी गजल पठीयो ठीकि ॥६१

यह गजल स्वर्गीय मुनि श्री कातिसागर जी ने फारबस गुजराती साहित्य सभा बम्बई के त्रैमासिक पत्र मे तीस वर्ष पहले प्रकाशित की थी। इसके बाद नगर वर्णनात्मक हिन्दी पद्य संग्रह मे उन्होने फिर प्रकाशित की। इस चित्तौड़ और उदयपुर गजल इन दो की ही कवि रचनाओ मे अधिक प्रसिद्धि रही है। इनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली है। प्रारम्भ के दो पद्य नीचे दिये जा रहे है। जिससे इसकी भाषा और शैली का पाठको को आभास मिल जायगा।

गढ़ चित्तौड़ है वंका कि, मानु समंद मै लंका कि।
वेडच्छ पूर तल वहतीक अर गंभीर भीरहती क।२
अल्ला देत अल्लादीन फुल्ला बड़ बधी परवीन।
गैबी पीर हैं गाजीक अकबर अवलीया राजीक।३

पांचवी भी हिन्दी रचना 'उदयपुर गजल' संवत १७५७ मे रची गयी है। इसके प्रारम्भ में भी एक लिंग और नाथ द्वारे के नाथ को स्मरण किया गया है। अस्सी पद्यों की इस गजल को मुनि जिनविजय जी ने भारतीय विद्या वर्ष १ अक ४ के पृष्ठ ४३० से ४३५ में तीस वर्ष पहले प्रकाशित की थी। साथ ही उन्होंने इस गजल का सारांश भी पृष्ठ ४२० से ४२४ तक मे दे दिया था। उन्हे प्राप्त प्रति में इस गजल के रचनाकाल वाला पद्य नहीं था। पर इसमे महाराणा अमरसिंह और ढेबर के पास के जयसमुद्र का उल्लेख मिलने से इसका रचनाकाल संवत १७५५ से १७६७ के बीच का बतलाया था। पर हमारे संग्रह मे इस गजल की कई प्रतियां है उनमें रचना-

काल सूचक पद्य भी पाया जाता है। जिससे इसकी रचना संवत १७५७ के मंगसिर वदी मे हुई सिद्ध होता है।

संवत सत्तर सतावन्न, मगसिर मास धुरि परब धन्न।
कीती गजल ऋतु वृसज लायक सुनत आज गुणमात्र।

छठी रचना 'जिन चन्द्र सूरि छन्द' हमारे संग्रह में है। और रचना हिंगलाज भवानी छंद की भी एकमात्र प्रति हमारे सग्रह मे है। इसकी पद्य सख्या २५ है। प्रति के एक बोर्डर पर दीमक लग जाने से प्रथम पद्य के कुछ शब्द नष्ट हो गये है। यह प्रति १९वी शताब्दी की लिखी हुई है। उपरोक्त 'जिनचन्द्र सूरि छन्द' की भी अन्य कोई प्रति कही प्राप्त नही हुई, हमारी प्रति अठारहवी शताब्दी की लिखित है।

'खेता' नाम का इसी समय मे एक और जैन कवि हो गया है जिसकी रचना धन्नारास का विवरण जैन गुर्जर कवियो भाग २ पृष्ठ २६६–७७ मे प्रकाशित हो चुका है। यह रास सवत १७३२ मे मेवाड के वैराढ गाव मे रचा गया है। पर इसके रचयिता खेता कवियो का गच्छ के पूज्य दामोदर के शिष्य थे। अत. प्रस्तुत खरतर गच्छीय सुकवि खेता से भिन्न ही है। मुनि जिनविजय जी ने उदयपुर गजल का साराश देते हुए लिखा था कि इस इत गजल का कर्त्ता जती खेतानामक है जो अपने को खरतर गच्छ का कहता है। इसने अपने गुरु वगैरह का कोई नाम निर्देश नही किया जिससे यह नहीं जाना जाता कि वह कहाँ और कब हुआ। सम्भव है यह कवि मेवाड़ का ही हो क्योंकि इसकी भाषा मे मेवाड़ी की झलक स्पष्ट दिखाई दे रही है।

मुनि जिनविजय जी को कवि खेता के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी नही थी इसलिए ही मैने यह शोधपूर्ण लेख लिखना आवश्यक समझा।

खरतर गच्छीय कवि खेता की सवत १७५७ के बाद की कोई संवत लेख वाली रचना नही मिलती। २-३ और भी फुटकर रचनायें मिलती है उनमें एक अश्लील भी है। इसमे कवि की रसिक वृत्ति का पता चलता है। सम्भव है कवि ने लम्बी आयु नही पायी हो और संवत और संवत १७६० के बाद ही उनका निधन हो गया हो। अत. कवि का जन्म संवत १७२० और निधन सवत १७६० के करीब तो माना जा सकता है।

मेवाड़ मे १८वी शताब्दी के अन्त मे तपागच्छीय कवि दलेप या दौलत विजय कवि हुआ जिसने खुमाण रासो बनाया और विजयगच्छीय कवि मान ने राजविलास और बिहारी सतसई की टीका बनाई। ये मेवाड़ के १८वीं शताब्दी के उल्लेखनीय कवि थे।

डा० ब्रजमोहन जावलिया का एक विस्तृत और शोधपूर्ण लेख—'मेवाड का जैन साहित्य' प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर की 'मझमिका' नामक पत्रिका में प्रथम अङ्क मे सन् १९७१ मे प्रकाशित हुआ है। यद्यपि इस लेख मे काफी गलतियाँ रह गई है फिर भी मेवाड के जैन साहित्यकारो और उनकी रचनाओ का काफी विवरण मिल जाता है, अत: बहुत ही उपयोगी है।

इस लेख मे खेतरसिह नामक एक और रचयिता का विवरण दिया गया है। यह विवरण एक नई सूचना देता है, इसलिए यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

'करुणोदधि और खेतसी'- ये कौन और कहां के थे इस विषय मे कोई सूचना नही मिलती। 'खित्रमी शम्यो-द्वार' नामक खेतसी कृत ग्रन्थ मे वह अपने को 'पृथ्वीराज रासो' का उद्धारक बताता है। उसने अपने गुरू का नाम 'करुणोदधि' दिया है। पृथ्वीराज रासो के वृहद् सस्करणों की अन्तिम पुष्पिकाओ मे 'करुणोदधि' स्वयं को पृथ्वीराज रासो का महाराणा अमरसिह प्रथम के आदेश से उद्धार करने वाला बताता है। पृथ्वीराज रासो पर शोध खोज करने वाले सभी विद्वान पुष्पिका मे 'करुणोदधि' नाम को नही समझ कर व्यर्थ की अनेक ऊहापोह कर गये है। खेतसी राजसिह के पुत्र राजसिह ? के आश्रित था।

सम्भव है करुणोदधि विशेषण हो। यह खेतसी भी जैन लगता है।

—: ० :—

जैन तत्त्वज्ञान

लेखक—पं० श्री सुखलाल जी संघवी

व्याख्या

विश्वके बाह्य और आन्तरिक स्वरूप के सम्बन्ध मे तथा उसके सामान्य एव व्यापक नियमों के सम्बन्धों में जो तात्त्विक दृष्टि से विचार किये जाते है उनका नाम तत्त्वज्ञान है। ऐसे विचार किसी एक ही देश, एक ही जाति, या एक ही प्रजा में उद्भूत होते है और क्रमश. विकसित होते है, ऐसा नही है। परन्तु इस प्रकार के विचार करना यह मनुष्यत्वका विशिष्ट स्वरूप है, अतएव जल्दी या देरी से प्रत्येक देश मे निवास करने वाली प्रत्येक प्रकार की मानव-प्रजा मे ये विचार अल्प या अधिक अंश मे उद्भूत होते है। और ऐसे विचार विभिन्न प्रजाओ से पारस्पारिक सम्बन्ध के कारण और किसी समय बिलकुल स्वतन्त्ररूप से भी विशेष विकसित होते है तथा सामान्य भूमिका से आगे बढ़ कर वे अनेक जुदे-जुदे प्रवाह रूप से फैलते है।

पहले से आजतक मनुष्य जाति ने भूखण्ड के ऊपर जो तात्त्विक विचार किये है वे सब आज उपस्थित नही है, तथा उन सब विचारो का क्रमिक इतिहास भी पूर्णरूप से हमारे सामने नहीं है, फिर भी इस समय इस विषय मे जो कुछ थोडा बहुत हम जानते है उस परसे इतना तो निर्विवाद रूप से कह सकते है कि तत्त्वचिंतन की भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी दिखाई देने वाली चाहे जितनी धाराये हों फिर भी इन सब विचार-धाराओ का सामान्य स्वरूप एक है। और वह यह है कि विश्व के बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूप के सामान्य और व्यापक नियमो का रहस्य ढूढ निकालना।

तत्त्वज्ञान की उत्पत्तिका मूल

कोई एक मनुष्य पहले से ही पूर्ण नही होता परन्तु वह बाल्य आदि विभिन्न अवस्थाओं मे से गुजरने के साथ ही अपने अनुभवों को बढा करके क्रमशः पूर्णताकी दिशा में आगे बढता है। यही बात मनुष्य जाति के विषय में भी है। मनुष्य-जाति की भी बाल्य आदि क्रमिक अवस्थाएँ अपेक्षा-विशेष से होती है। उनका जीवन व्यक्ति के जीवन की अपेक्षा बहुत अधिक लम्बा और विशाल होता है। अतएव उसकी बाल्य आदि अवस्थाओ का समय भी उतना ही अधिक लम्बा हो यह स्वाभाविक है। मनुष्य जाति जब प्रकृति की गोद मे आई और उसने पहले बाह्य विश्व की ओर आख खोली तब उसके सामने अद्भुत और चमत्कारी वस्तुएँ तथा घटनाएँ उपस्थित हुई। एक ओर सूर्य, चन्द्र और अगणित तारामण्डल और दूसरी ओर समुद्र, पर्वत, विशाल नदीप्रवाह, मेघगर्जनाएँ और विद्युत् चमत्कारोने उसका ध्यान आकर्षित किया। मनुष्यका मानस इन सब स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म चितन मे प्रवृत्त हुआ और उसके हृदय मे इस सम्बन्ध मे अनेक प्रश्न उद्भूत हुए। जिस प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क मे बाह्य विश्व के गूढ और अतिसूक्ष्म स्वरूप के विषय मे उसके सामान्य नियमो के विषय मे विविध प्रश्न उद्भूत हुए, उसी प्रकार आन्तरिक विश्व के गूढ और अतिसूक्ष्म स्वरूप के विषय मे भी उसके मनमे विविध प्रश्न उठे। इन प्रश्नो की उत्पत्ति ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्तिका प्रथम सोपान है। ये प्रश्न चाहे जितने हों और कालक्रम से उसमे से दूसरे मुख्य और उपप्रश्न भी चाहे जितने पैदा हो फिर भी उन सब प्रश्नो को सक्षेप मे निम्नप्रकार से सकलित कर सकते है।

तात्त्विक प्रश्न

प्रत्यक्षरूप से सतत परिवर्तनशील यह बाह्य विश्व कब उत्पन्न हुआ होगा ? किसमे से उत्पन्न हुआ होगा ? स्वयं उत्पन्न हुआ होगा या किसी ने उत्पन्न किया होगा ? और उत्पन्न नही हुआ हो तो क्या यह विश्व ऐसे ही था और है ? यदि उसके कारण हो तो वे स्वयं परिवर्त्तन

विहीन नित्य ही होने चाहिए या परिवर्त्तनशील होने चाहिए ? ये कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के होंगे या समग्र बाह्य विश्वका कारण केवल एक रूप ही होगा ? इस विश्व की व्यवस्थित और नियमबद्ध जो सचालना और रचना दृष्टिगोचर होती है वह बुद्धिपूर्वक होनी चाहिए या यंत्रवत् अनादिसिद्ध होनी चाहिए ? यदि बुद्धिपूर्वक विश्व व्यवस्था हो तो वह किसकी बुद्धिकी आभारी है ? क्या वह बुद्धिमान तत्त्व स्वय तटस्थ रह करके विश्वका नियमन करता है या वह स्वय ही विश्वरूप से परिणमता है या आभासित मात्र होता है ?

उपर्युक्त प्रणाली के अनुसार आन्तरिक विश्वके सम्बन्ध मे भी प्रश्न हुए कि जो यह बाह्य विश्वका उपभोग करता है या जो बाह्य विश्वके विषय मे और अपने विषय विचार करता है वह तत्त्व क्या है ? क्या यह अहरूपसे भासित होने वाला तत्त्व बाह्य विश्व जैसी ही प्रकृतिवाला है या किसी भिन्न स्वभाव वाला है ? यह आन्तरिक तत्त्व अनादि है या वह भी कभी किसी अन्य कारणमे से उत्पन्न हुआ है ? अहरूप से भासित होने वाले अनेक तत्त्व वस्तुत भिन्न ही है ? या किसी एक मूल तत्त्व की निर्मितियाँ है ? ये सभी सजीव तत्त्व वस्तुत भिन्न ही है तो क्या वे परिवर्त्तनशील है ? या मात्र कूटस्थ है ? इन सब तत्त्वो का कभी अन्त आने वाला है या वे काल की दृष्टि से अन्तरहित ही है ? इसी प्रकार ये सब देह-मर्यादित तत्त्व वस्तुत. देश की दृष्टि से व्यापक है या मर्यादित है ?

ये और इनके जैसे दूसरे बहुत से प्रश्न तत्त्वचिन्तन के प्रदेश मे उपस्थित हुए। इन सब प्रश्नो का या इनमे से कुछ का उत्तर हम विभिन्न प्रजाओ के तात्त्विक चिन्तन के इतिहास मे अनेक प्रकार से देखते है। ग्रीक विचारको ने बहुत प्राचीन काल से इन प्रश्नो की ओर दृष्टिपात करना प्रारम्भ किया। उनका चिन्तन अनेक प्रकार से विकसित हुआ जिसका कि पाश्चात्य तत्त्वज्ञान मे महत्त्व पूर्ण भाग है। आर्यावर्त के विचारको ने तो ग्रीक चिन्तकोंके पूर्व हजारो वर्ष पहले से इन प्रश्नो के उत्तर प्राप्त करने के लिए विविध प्रयत्न किये जिनका इतिहास हमारे सामने स्पष्ट है।

उत्तरों का संक्षिप्त वर्गीकरण

आर्य विचारको के द्वारा एक-एक प्रश्न के सम्बन्ध मे दिये हुए भिन्न-भिन्न उत्तर और उनके विषय मे भी मत भेद की शाखाये अपार है। परन्तु सामान्य रीति से हम सक्षेप मे उन उत्तरो का वर्गीकरण करे तो इस प्रकार कर सकते है। एक विचार प्रवाह ऐसा प्रारम्भ हुआ कि वह बाह्य विश्व को जन्य मानता था। परन्तु वह विश्व किसी कारण मे से बिलकुल नया ही—पहले हो ही नही, वैसे उत्पन्न होने का निषेध करता था और यह कहता था कि जिस प्रकार दूध मे मक्खन छिपा रहता है और कभी केवल आविर्भाव होता रहता है उसी प्रकार यह सारा स्थूल विश्व किसी सूक्ष्म कारण मे से केवल आविर्भाव होता रहता है और यह मूल कारण तो स्वत अनादि सिद्ध है।

दूसरा विचार प्रवाह यह मानता था कि बाह्य विश्व किसी एक कारण मे से उत्पन्न नही हुआ है परन्तु स्वभाव से ही विभिन्न ऐसे उसके अनेक कारण है और इन कारणो मे भी विश्व दूध मे मक्खन की तरह छिपा रहता नही परन्तु भिन्न-भिन्न काष्ठखण्डो के सयोग से जैसे एक गाडी नवीन ही तैयार होती है उसी प्रकार उन भिन्न-भिन्न प्रकार के मूल कारणो के मूल कारणो के सश्लेषण-विश्लेषण मे से यह बाह्य विश्व बिलकुल नवीन ही उत्पन्न होता है। पहला परिणामवादी है और दूसरा कार्यवादी। ये दोनो विचार प्रवाह बाह्य विश्व के आविर्भाव या उत्पत्ति के सम्बन्ध मे मतभेद रखते होने पर भी आन्तरिक विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध मे सामान्य रूप से एकमत थे। दोनो यह मानते थे कि अह नामक आत्मतत्त्व अनादि है। वह न तो किसी का परिणाम है और किसी कारण मे से उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार वह आत्मतत्त्व अनादि है उसी प्रकार देश और काल दोनो दृष्टिओ से अनन्त भी है। और वह आत्मतत्त्व देहभेद से भिन्न-भिन्न है, वास्तविक रीति से एक नही है।

तीसरा विचार प्रवाह ऐसा भी था कि जो बाह्य विश्व और आन्तरिक जीव जगत् दोनों को किसी एक अखण्ड सत् तत्त्व का परिणाम मानता और मूल मे बाह्य

या आन्तरिक जगत् की प्रकृति अथवा कारण मे किसी भी प्रकार का भेद नही मानता था।

जैन विचारप्रवाह का स्वरूप

ऊपर के तीनो विचारप्रवाहों को क्रमशः हम यहाँ प्रकृतिवादी, परमाणुवादी और ब्रह्मवादी के नाम से पहचानेंगे। इनमे से पहले के दो विचारप्रवाहो से विशेष मिलता-जुलता और फिर भी उससे भिन्न ऐसा एक चौथा विचार प्रवाह भी साथ साथ मे प्रवृत्त था। यह विचार प्रवाह था तो परमाणुवादी, परन्तु वह दूसरे विचारप्रवाह की तरह बाह्य विश्व के कारणभूत परमाणुओ को मूल से ही भिन्न भिन्न प्रकार के मानने की तरफदारी नही करता था; परन्तु मूल मे सभी परमाणु एक समान प्रकृति के है यह मानता था और परमाणुवाद स्वीकार करने पर भी उसमे से केवल विश्व उत्पन्न होता है यह नही मानता था। वह प्रकृतिवादी की तरह परिणाम और आविर्भाव मानता था, इसलिए वह यह कहता था कि परमाणुपुञ्ज मे से बाह्य विश्व अपने आप परिणमता है इस प्रकार इस चौथे विचार प्रवाह का झुकाव परमाणुवादी की भूमिका के ऊपर प्रकृतिवाद के परिणाम की मान्यता की ओर था।

उसकी एक विशेषता यह भी थी कि वह समग्र बाह्य विश्व को आविर्भाव वाला न मान करके उसमे के कितने ही कार्यो को उत्पत्तिशील भी मानता था। वह यह कहता था कि बाह्य विश्व मे कितनी ही वस्तुएँ ऐसी है कि जो किसी पुरुष के सिवाय अपने परमाणुरूप कारणो मे से उत्पन्न होती है। वैसी वस्तुएँ तिलमे से तैल की तरह अपने कारण मे से केवल आविर्भूत होती है; परन्तु बिलकुल नवीन उत्पन्न नही है। जब कि बाह्य विश्व मे बहुत सी वस्तुएँ ऐसी भी है जो अपने जड़ कारणो मे से उत्पन्न होती है परन्तु अपनी उत्पति मे किसी पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा रखती है। जो वस्तुएं पुरुष के प्रयत्न की सहायता से जन्म लेती है, वे वस्तुएँ जड़ कारणो मे तिल मे तैल की तरह छिपी हुई नही रहती है परन्तु वे तो बिलकुल नवीन ही उत्पन्न होती है। जिस प्रकार कोई बढ़ई विभिन्न काष्ठखण्डो को एकत्रित करके उनसे एक घोड़े का निर्माण करता है तब वह घोड़ा काष्ठखण्डो में छिपा नही रहता है जैसे कि तिल मे तैल होता है। परन्तु घोड़ा बनाने वाले बढई की बुद्धि मे वह कल्पनारूप से होता है और वह काष्ठखण्डो के द्वारा मूर्त्तरूप धारण करता है। यदि बढई चाहता तो इन्ही काष्ठखण्डों से घोड़ा नहीं बना करके गाय, गाडी या दूसरी वैसी वस्तु बना सकता था। तिल मे से तेल निकालने की बात इससे बिलकुल भिन्न है। कोई तेली चाहे जितना विचार करे या इच्छा करे फिर भी वह तिल मे से घी या मक्खन तो नही निकाल सकता है। इस प्रकार चतुर्थ विचार प्रवाह परमाणुवाद होने पर भी एक ओर परिणाम और आविर्भाव मानने की बाबत मे प्रकृतिवादी विचार प्रवाह के साथ मिलता था और दूसरी ओर कार्य तथा उत्पत्ति की बाबत मे परमाणुवादी दूसरे विचार-प्रवाह से मिलता था।

यह तो बाह्य विश्व के सम्बन्ध मे चतुर्थ विचार प्रवाह की मान्यता हुई। परन्तु आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे तो इसकी मान्यता ऊपर के तीनो विचारप्रवाहो की अपेक्षा भिन्न थी। वह मानता था कि देह भेद से आत्मा भिन्न है। परन्तु ये सब आत्माएँ देशदृष्टि से व्यापक नहीं है तथा केवल तटस्थ भी नही है। वह यह मानता था कि जिस प्रकार बाह्य विश्व परिवर्तनशील है उसी प्रकार आत्माएँ भी परिवर्तनशील है और आत्मतत्त्व सकोच-विस्तारशील है। इसलिये यह देहप्रमाण है।

यह चतुर्थ विचार प्रवाह ही जैन तत्त्वज्ञान का प्राचीन मूल है। भगवान महावीर से बहुत समय पहले से यह विचार प्रवाह चला आता था और वह अपने ढग से विकसित होता तथा स्थिर होता जाता था। आज इस चतुर्थ विचार प्रवाह का जो स्पष्ट विकसित और स्थिर रूप हमको प्राचीन या अर्वाचीन उपलब्ध जैनशास्त्रों मे दृष्टिगोचर होता है वह अधिक अंश में भगवान महावीर के चिन्तन का आभारी है। जैन मत की श्वेताम्बर और दिगम्बर दो मुख्य शाखाएँ है। दोनो का साहित्य भिन्न-भिन्न है; परन्तु जैन तत्त्वज्ञान का जो स्वरूप स्थिर हुआ है वह दोनो शाखाओं मे थोड़े से फेरफार के सिवाय एक समान है। यहाँ एक बात खास अङ्कित करने योग्य है और वह यह कि वैदिक तथा बौद्धमत के छोटे बड़े अनेक फिरके है। उनमे से कितने ही तो एक दूसरे से बिलकुल विरोधी

मन्तव्य भी रखनेवाले है। इन सभी फिरकों के बीच में विशेषता यह है जब वैदिक और बौद्धमत के सभी फिरके आचार विषयक मतभेद के अतिरिक्त तत्त्वचिन्तनकी दृष्टि से भी कुछ मतभेद रखते है तब जैनमत के तमाम फिरके केवल आचार भेद के ऊपर अवलम्बित है। उनमे तत्त्व-चिन्तनकी दृष्टि से कोई मौलिक भेद हो तो वह अभी तक अंकित नही है। मानवीय तत्त्वचितन का प्रवाह मौलिक रूप से अखण्डित ही रहा हो।

पूर्वीय और पश्चिमीय तत्त्वज्ञान की प्रकृति की तुलना

तत्त्वज्ञान पूर्वीय हो या पश्चिमीय हो परन्तु सभी तत्त्वज्ञान के इतिहास मे हम देखते है कि तत्त्वज्ञान केवल जगत्, जीव और ईश्वर के स्वरूप-चितन मे ही पूर्ण नही होता; परन्तु वह अपने प्रदेश मे चारित्र का प्रश्न भी हाथ मे लेता है। अल्प या अधिक अश मे, एक या दूसरी रीति से, प्रत्येक तत्त्वज्ञान अपने मे जीवन-शोधन की मीमासा का समावेश करता है। अलबत्ता, पूर्वीय और पश्चिमीय तत्त्व-ज्ञान के विकास मे हम थोड़ी भिन्नता भी देखते है। ग्रीक तत्त्वचिन्तन की शुरूवात केवल विश्व के स्वरूप सम्बन्धी प्रश्नो मे से होती है और आगे जाने पर क्रिश्चियानिटी के साथ मे इसका सम्बन्ध होने पर इसमे जीवन शोधन का भी प्रश्न समाविष्ट होता है। और पीछे इस पश्चिमीय तत्त्वचितन की एक शाखा मे जीवन शोधन की मीमासा महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। अर्वाचीन समय तक भी रोमन केथोलिक सप्रदाय मे हम तत्त्वचिंतन को जीवन-शोधन के विचार के साथ सकलित देखते है। परन्तु आर्य तत्त्वज्ञान के इतिहास मे हम एक खास विशेषता देखते है, और वह यह कि मानो आर्य तत्त्वज्ञान का प्रारम्भ ही जीवनशोधन के प्रश्न मे से हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है। क्योकि आर्य तत्त्वज्ञान की वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीन मुख्य शाखाओं मे एक समान रीति से विश्वचितन के साथ ही जीवनशोधन का चिंतन संकलित है। आर्यावर्त्त का कोई भी दर्शन ऐसा नही है कि जो केवल विश्वचिन्तन करके सतोष धारण करता हो। परन्तु उसमे विपरीत हम यह देखते है कि प्रत्येक मुख्य या उसका शाखारूप दर्शन जगत्, जीव और ईश्वर सम्बन्धी अपने विष्टि विचार दिखला करके अन्त में जीवनशोधन के प्रश्न को ही लेता है और जीवनशोधन की प्रक्रिया दिखला करके विश्रान्ति लेता है। इसलिये हम प्रत्येक आर्य दर्शन के मूल ग्रन्थ में प्रारम्भ मे मोक्षका उद्देश और अन्त मे उसका ही उपसंहार देखते है। इसी कारण से सांख्य जिस प्रकार अपना विशिष्ट योग रखता और वह योगदर्शन से अभिन्न है; इसी प्रकार न्याय-वैशेषिक और वेदान्त दर्शन मे भी योग के मूल सिद्धान्त हैं। बौद्ध दर्शन मे भी उसकी विशिष्ट योगप्रक्रिया ने खास स्थान रोक रखा है। इसी प्रकार जैन दर्शन भी योगप्रक्रिया के विषय मे पूरे विचार रखता है।

जीवनशोधन के मौलिक प्रश्नों की एकता

इस प्रकार हमने देखा कि जैनदर्शन के मुख्य दो भाग है। एक तत्त्वचितन का और दूसरा जीवनशोधन का। यहाँ एक बात खास अङ्कित करने योग्य है और वह यह है कि वैदिकदर्शन की कोई भी परम्परा लो या बौद्धदर्शन की कोई परम्परा लो और उसकी जैनदर्शन की परम्पराके साथ तुलना करो तो एक तो एक वस्तु स्पष्ट प्रतीत होगी कि इन सब परम्पराओं में जो भेद है वह दो बातों में है एक तो जगत्, जीव और ईश्वर के स्वरूप-चिंतन के सम्बन्ध मे और दूसरा आचार के स्थूल तथा बाह्य विधि-विधान और स्थूल रहन-सहन के सम्बन्ध में। परन्तु आर्य-दर्शन की प्रत्येक परम्परा मे जीवनशोधन से सम्बन्ध रखने वाले मौलिक प्रश्न और उनके उत्तरों में बिलकुल भी भेद नही है। कोई ईश्वर को माने या नही, कोई प्रकृतिवादी हो या परमाणुवादी, कोई आत्मभेद स्वीकार करे या आत्माका एकत्व स्वीकार करे, कोई आत्मा को व्यापक और नित्य माने या कोई उससे विपरीत माने, इसी प्रकार कोई यज्ञयाग द्वारा भक्ति के ऊपर भार देता हो, या कोई ब्रह्मसाक्षात्कर के ऊपर भार देता हो, कोई मध्यममार्ग स्वीकार करके अनगारधर्म और भिक्षाजीवन के ऊपर भार दे; या कोई अधिक कठोर नियमो का अवलम्बन करके त्याग के ऊपर भार दे; परन्तु प्रत्येक परम्परा में इतने प्रश्न एक समान है—दुःख है या नही? यदि है तो उसका कारण क्या है? उस कारण का नाश शक्य है? यदि शक्य है तो वह किस प्रकार? अंतिम साध्य क्या होना चाहिए? इन प्रश्नों के उत्तर प्रत्येक परम्परा मे एक ही है। चाहे शब्द-भेद हो, संक्षेप या

विस्तार हो; पर प्रत्येक का उत्तर यह है कि अविद्या और तृष्णा ये दुख के कारण है। इनका नाश संभव है। विद्यारे और तृष्णाछेद के द्वारा दुःख के कारणो का नाश होते ही दुःख अपने आप नष्ट हो जाता है और यही जीवनका मुख्य साध्य है। आर्यदर्शनों की प्रत्येक परम्परा जीवन-शोधन के मौलिक विचार के विषय मे और उनके नियमों के विषय मे बिलकुल एकमत है। इसलिये यहां जैनदर्शन के विषय मे कुछ भी कहते समय मुख्यरूप से उसको जीवनशोधन की मीमासा का ही संक्षेप मे कथन करना अधिक प्रासगिक है।

जीवन-शोधन की जैन प्रक्रिया

जैनदर्शन कहता है कि आत्मा स्वाभाविक रीति से शुद्ध और सच्चिदानन्दरूप है। इसमे जो अशुद्धि, विकार या दुःखरूपता दृष्टिगोचर होती है वह अज्ञान और मोहके अनादि कारण से है। अज्ञान को कम करने और विल्कुल नष्ट करने के लिये तथा मोहके विलय करने के लिये जैन दर्शन एक ओर विवेक शक्ति को विकसित करने के लिये कहता है और दूसरी ओर वह रागद्वेष के संस्कारों को नष्ट करने के लिये कहता है। जैनदर्शन आत्मा को तीन भूमिकाओं में विभाजित करता है। जब अज्ञान और मोह के प्रबल प्राबल्य के कारण आत्मा वास्तविक तत्त्वका विचार नही कर सके तथा सत्य और स्थायी सुख की दिशा में एक भी कदम उठाने की इच्छा नही कर सके तब वह वहिरात्मा कहलाता है। यह जीवकी प्रथम भूमिका हुई। यह भूमिका जब तक चलती रहती है तब तक पुनर्जन्म के चक्र के बंध होने की कोई संभावना नहीं तथा लौकिक दृष्टि मे चाहे जितना विकास दिखाई देता हो फिर भी तात्त्विक रीति से वह आत्मा अविकसित ही होता है।

जब विवेकशक्ति का प्रादुर्भाव होता है और जब राग-द्वेष के सस्कारो का बल कम होने लगता है तब दूसरी भूमिका प्रारम्भ होती है। इसको जैनदर्शन अन्तरात्मा कहता है। यद्यपि इस भूमिका के समय देहधारण के लिए उपयोगी सभी सासारिक प्रवृत्ति अल्प या अधिक अंश में चलती रहती है, फिर भी विवेक शक्ति के विकास के प्रमाण में और रागद्वेष की मन्दता के प्रमाण में यह प्रवृत्ति अनासक्तिवाली होती है। इस दूसरी भूमिका में प्रवृत्ति होने पर भी उसमे अन्तर से निवृत्ति का तत्त्व होता है। दूसरी भूमिका के कितने ही सोपानो का अतिक्रमण करने के बाद आत्मा परमात्मा की दशा को प्राप्त होता है। यह जीवनशोधन की अन्तिम और पूर्ण भूमिका है। जैन-दर्शन कहता है कि इस भूमिका पर पहुचने के बाद पुनर्जन्म का चक्र सदा के लिए बिलकुल बन्द हो जाता है।

हम ऊपर के सक्षिप्त वर्णन से यह देख सकते है कि अविवेक (मिथ्यादृष्टि) और मोह (तृष्णा) ये दो ही ससार है अथवा ससार के कारण है। इसके विपरीत विवेक (सम्यग्दर्शन) और वीतरागत्व यही मोक्ष है। यही जीवनशोधन की सक्षिप्त जैनमीमासा अनेक जैन ग्रन्थों मे, अनेक रीति से, सक्षेप या विस्तार मे, विभिन्न परिभाषाओं मे वर्णित है और यही जीवनमीमासा वैदिक तथा बौद्ध दर्शनो मे जगह-जगह अक्षरशः दृष्टिगोचर होती है।

कुछ विशेष तुलना

ऊपर तत्त्वज्ञान की मौलिक जैन विचारसरणी और आध्यात्मिक विकासक्रम की जैन विचारसरणी का बहुत ही सक्षेप मे निर्देश किया है। इस सक्षिप्त लेख मे उसके अति विस्तार को स्थान नही, फिर भी इसी विचार को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ भारतीय दूसरे दर्शनों के विचारो के साथ तुलना करना योग्य है।

(क) जैनदर्शन जगत् को मायावादी की तरह केवल भास या केवल काल्पनिक नहीं मानता है; परन्तु वह जगत् को सत्य मानता है। फिर भी जैनदर्शन सम्मत सत् चार्वाक की तरह केवल जड़ अर्थात् सहज चैतन्य रहित नही है। इसी प्रकार जैनदर्शन सम्मत सत् तत्त्व शाकर-वेदान्तानुसार केवल चैतन्य मात्र भी नही है, परन्तु जिस प्रकार साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमासा और बौद्धदर्शन सत् तत्त्व को बिलकुल स्वतन्त्र तथा परस्पर भिन्न ऐसे जड और चेतन दो भागो मे विभाजित कर डालते है, उसी प्रकार जैनदर्शन भी सत् तत्त्व की अनादिसिद्ध जड़ तथा चेतन ऐसी दो प्रकृति स्वीकार करता है जो कि देश और काल के प्रवाह मे साथ रहने पर भी मूल में बिलकुल स्वतन्त्र हैं। जिस प्रकार न्याय, वैशेषिक और योगदर्शन आदि यह स्वीकार करते है कि इस जगत् का विशिष्ट कार्यस्वरूप चाहे जड़ और चेतन

इन दो पदार्थों से बनता हो फिर भी इस कार्म के पीछे किसी अनादिसिद्ध, समर्थ चेतनशक्ति का हाथ है, इस ईश्वरीय हाथ के सिवाय एसे अद्भुत कार्म का सम्भव नही हो सकता है। जैनदर्शन इस प्रकार से नही मानता है। वह प्राचीन साख्य, पूर्वमीमासा और बौद्ध आदि की तरह मानता है कि जड और चेतन ये दो सत् प्रवाह अपने आप किसी तृतीय विशिष्ट शक्ति के हस्तक्षेप के सिवाय ही चलते रहते हैं। इसलिए वह इस जगत् की उत्पत्ति या व्यवस्था के लिए ईश्वर जैसी स्वतन्त्र अनादि-सिद्ध व्यक्ति स्वीकार नही करता है। यद्यपि जैनदर्शन न्याय, वैशेषिक, बौद्ध आदि की तरह जड सत् तत्त्व को अनादि सिद्ध अनन्त व्यक्तिरूप स्वीकार करता है और साख्य की तरह एक व्यक्तिरूप नहीं स्वीकार करता, फिर भी वह साख्य के प्रकृतिगामी सहज परिणामवाद को अनन्त परमाणु नामक जड सत् तत्त्वो मे स्थान देता है।

इस प्रकार जैन मान्यता के अनुसार जगत् का परि-वर्तन प्रवाह अपने आप ही चलता रहता है। फिर भी जैनदर्शन इतना तो स्पष्ट कहता है कि विश्व की जो-जो घटनाये किसी की बुद्धि और प्रयत्न की आभारी होती है उन घटनाओ के पीछे ईश्वर का नही परन्तु उन घटनाओ के परिणाम मे भागीदार होने वाले ससारी जीव का हाथ रहता है अर्थात् वैसी घटनायें जानमे या अनजान मे किसी न किसी ससारी जीव की बुद्धि और प्रयत्न की आभारी होती है। इस सम्बन्ध मे प्राचीन साख्य और बौद्ध दर्शन जैनदर्शन जैसे ही विचार रखते है।

वेदान्तदर्शन की तरह जैनदर्शन सचेतन तत्त्व को एक या अखण्ड नही मानता है; परन्तु साख्य, योग, न्याय, वैशेपिक तथा बौद्ध आदि की तरह वह सचेतन तत्त्व को अनेक व्यक्तिरूप मानता है। फिर भी इन दर्शनो के साथ जैनदर्शन का थोड़ा मतभेद है और वह यह है कि जैन-दर्शन की मान्यतानुसार सचेतन तत्त्व बौद्ध मान्यता की तरह केवल परिवर्तन प्रवाह नही है तथा साख्य, न्याय आदि की तरह केवल कूटस्थ भी नहीं है। किन्तु जैन-दर्शन कहता है कि मूल मे सचेतन तत्त्व ध्रुव तथा अनादि अनंत होने पर भी वह देश काल की धारण किये बिना नही रह सकता। इसलिए जैन मतानुसार जीव भी जड़ की तरह परिणामिनित्य है। जैनदर्शन ईश्वर जैसी किसी व्यक्ति को बिलकुल स्वतन्त्ररूप से नही मानता फिर भी वह ईश्वर के समग्र गुणो को जीवमात्र मे स्वीकार करता है। इसलिए जैनदर्शनानुसार प्रत्येक जीव मे ईश्वरत्व की शक्ति है। चाहे वह शक्ति आवरण से दबी हुई हो, परन्तु जीव योग्य दिशा मे प्रयत्न करे तो वह अपने मे रही हुई ईश्वरीय शक्ति का पूर्णरूप मे विकास करके स्वयं ही ईश्वर बनाता है। इस प्रकार जैन मान्यतानुसार ईश्वर तत्त्व को भिन्न स्थान नही होने पर भी वह ईश्वर तत्त्व की मान्यता रखता है और उसकी उपासना भी स्वीकार करता है। जो जो जीवात्माये वासनाओ से पूर्णरूप से मुक्त हुई है वे सभी समान भाव से ईश्वर हैं। उनका आदर्श सामने रख करके अपने मे रही हुई पूर्ण-शक्ति को प्रकट करना यह जैन उपासना का ध्येय है। जिस प्रकार शाकर वेदान्त मानता है कि जीव स्वय ही ब्रह्म है है, उसी प्रकार जैनदर्शन कहता है कि जीव स्वय ईश्वर या परमात्मा है। वेदान्त दर्शनानुसार जीव का ब्रह्मभाव अविद्या से आवृत है और अविद्या के दूर होते ही वह अनुभव मे आता है। उसी प्रकार जैनदर्शनानुसार जीव का परमात्मभाव कर्म से आवृत है उस आवरण के दूर होते ही वह पूर्णरूप मे अनुभव मे आता है। इस सम्बन्ध में वस्तुत: जैन और वेदान्त के बीच मे व्यक्ति-बहुत्व के सिवाय कुछ भी भेद नही।

(ख) जैनशास्त्र मे जिन सात तत्त्वो का उल्लेख है उनमे से मूल जीव और अजीव इन दो तत्त्वो की ऊपर तुलना की है। अब वस्तुत. पॉच मे से चार ही तत्त्व अवशिष्ट रहते है। ये चार तत्त्व जीवनशोधन से सम्बन्ध रखने वाले अर्थात् आध्यात्मिक विकासक्रम से सम्बन्ध रखने वाले है, जिनको चारित्रीय तत्त्व भी कह सकते हैं। बध, आस्रव, सवर और मोक्ष ये चार तत्त्व है। ये तत्त्व बौद्धशास्त्रों मे क्रमश. दु ख, दु खहेतु, निर्वाणमार्ग और निर्वाण इन चार आर्यसत्यो के नाम से वर्णित है। साख्य और योगशास्त्र मे इनको ही हेय, हेयहेतु, हानोपाय और हान कह करके इनका चतुर्व्यूहरूप से वर्णन है। न्याय और वैशेषिक दर्शन मे भी इसी वस्तु का ससार, मिथ्याज्ञान, तत्त्वज्ञान और अपवर्ग के नाम से वर्णन है। वेदान्तदर्शन

में संसार, अविद्या, ब्रह्मभावना और ब्रह्मसाक्षात्कार के नाम से यही वस्तु दिखलाई गई है।

जैनदर्शन मे बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा की तीन सक्षिप्त भूमिकाओ का कुछ विस्तार से चौदह भूमिकाओं के रूप से भी वर्णन किया गया है, जो जैन-परम्परा में गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध है। योगवाशिष्ट जैसे वेदान्त के ग्रन्थो मे भी सात अज्ञान की और सात ज्ञान की चौदह आत्मिक भूमिकाओ का वर्णन है। साख्य-योगदर्शन की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच चित्तभूमिकाये भी इन्ही चौदह भूमिकाओं का संक्षिप्त वर्गीकरण मात्र है। बौद्धदर्शन मे भी इसी आध्यात्मिक विकासक्रम को पृथग्जन, सोतापन्न आदि रूप से पाँच भूमिकाओं में विभाजित करके वर्णन किया गया है। इस प्रकार जब हम सभी भारतीय दर्शनों मे ससार से मोक्ष तक की स्थिति, उसके क्रम और उसके कारणों के विषय में एक मत और एक विचार पढते है तब प्रश्न होता है कि जब सभी दर्शनो के विचारो मे मौलिक एकता है तब पंथ-पंथ के बीच मे कभी भी मेल नहीं हो ऐना और इतना अधिक भेद क्यो दिखाई देता है ?

इसका उत्तर स्पष्ट है। पंथ की भिन्नता मे मुख्य दो वस्तुयें कारण है; तत्वज्ञान की भिन्नता और बाह्य आचार-बिचार की भिन्नता। कितने ही पंथ तो ऐसे भी है कि जिनके बाह्य आचार-विचार में भिन्नता होने के अतिरिक्त तत्त्वज्ञान की विचारसारणी में भी अमुक भेद होना है। जैसे कि वेदान्त, बौद्ध और जैन आदि पंथ। कितने ही पंथ या उनकी शाखायें ऐसी भी होती है कि जिनकी तत्त्वज्ञान विषयक विचारसारणी मे खास भेद नही होता है। उसका भेद मुख्यरूप से बाह्य आचार का अवलम्बन लेकर उपस्थित और पोषित होता है। उदाहरण के तौर पर जैनदर्शन की श्वेताम्बर, दिगम्बर और स्थानकवासी इन तीन शाखाओं को गिना सकते है।

आत्मा को कोई एक माने या अनेक माने, कोई ईश्वर को माने या कोई नहीं माने—इत्यादि तात्त्विक विचारणा का भेद बुद्धि के तरतम भाव के ऊपर निर्भर है। इसी प्रकार बाह्य आचार और नियमों के भेद बुद्धि, रुचि तथा परिस्थिति के भेद मे से उत्पन्न होते हैं। कोई काशी जाकर गङ्गा स्नान और विश्वनाथ के दर्शन में पवित्रता माने, कोई बुद्धगया और सारनाथ जाकर कृत-कृत्यता माने, कोई शत्रुजय की यात्रा में सफलता माने, कोई मक्का और कोई जेरुसलेम जाकर धन्यता माने। इसी प्रकार कोई एकादशी के तप और उपवास को पवित्र गिने, दूसरा कोई अष्टमी और चतुर्दशी के व्रत को महत्त्व को प्रदान करे, कोई तप के ऊपर बहुत भार नहीं देकर के दान के ऊपर भार दे, दूसरा कोई तप के ऊपर भी बहुत भार दे, इस प्रकार परम्परागत भिन्न-भिन्न संस्कारों का पोषण ओर रुचिभेद का मानसिक वातावरण अनिवार्य होने से बाह्याचार और प्रवृत्ति का भेद कभी मिटने वाला नहीं है। भेद की उत्पादक और पोषक इतनी अधिक वस्तुयें होने पर भी सत्य ऐसा है कि वह वस्तुतः खण्डित नही होता है। इसीलिए हम ऊपर की आध्यात्मिक विकासक्रम से सम्बन्ध रखने वाली तुलना मे देखते है कि चाहे जिस रीति से, चाहे जिस भाषा मे और चाहे जिस रूप मे जीवन का सत्य एक समान ही सभी अनुभवी तत्त्वज्ञों के अनुभव मे प्रकट हुआ है।

प्रस्तुत वक्तव्य को पूर्ण करने के पहले जैनदर्शन की सर्वमान्य दो विशेषताओं का उल्लेख करना उचित है। अनेकान्त और अहिसा इन दो मुद्दो की चर्चा पर ही सम्पूर्ण जैनसाहित्यका निर्माण है। जैन आचार और सम्प्रदाय की विशेषता इन दो विषयो से ही बतलाई जा सकती है। सत्य वस्तुत एक ही होता है; परन्तु मनुष्य की दृष्टि उसको एक रूप से ग्रहण नहीं कर सकती है। इसलिये सत्यदर्शन के लिये मनुष्य को अपनी दृष्टिमर्यादा विकसित करनी चाहिये और उसमे सत्यग्रहण की संभवित सभी दृष्टियों को स्थान होना चाहिए। इस उदात्त और विशाल भावना में से अनेकान्त विचारसरणीका जन्म हुआ है। इस विचार सरणी की योजना किसी वाद-विवाद में जय प्राप्त करने के लिये या वितण्डावाद की साठमारी—चक्रव्यूह या दावपेच खेलने के लिये या शब्दछलकी शतरंज खेलने के लिये नहीं हुई है; परन्तु इसकी योजना तो जीवनशोधन के एक भाग स्वरूप विवेकशक्ति को विकसित करने के लिये और सत्यदर्शन की दिशा में आगे बढ़ने के लिये हुई है। इसलिये अनेकान्त विचारसरणीका सच्चा

अर्थ यह है कि सत्यदर्शन को लक्ष्य में रख करके उसके सभी अंशों और भागों को विशाल मानस वर्तुल मे योग्य रीति से स्थान देना।

जैसे-जैसे मनुष्य की विवेकशक्ति बढ़ती है वैसे-वैसे उसकी दृष्टिमर्यादा बढने के कारण उसको अपने भीतर रही हुई संकुचितताओ और वासनाओं के दबावो के सामने होना पड़ता है जब तक मनुष्य सकुचितताओ और वासनाओ के साथ विग्रह नही करता तब तक वह अपने जीवन मे अनेकान्त को वास्तविक स्थान नही दे सकता है। इसलिये अनेकान्त विचार की रक्षा और वृद्धि के प्रश्न मे से ही अहिसा का प्रश्न आता है। जैन अहिसा केवल चुपचाप बैठे रहने मे, या उद्योग-धंधा छोड़ देने मे अथवा काष्ठ जैसी निश्चेष्ट स्थिति सिद्धि करने मे ही पूर्ण नही होती; परन्तु वह अहिसा वास्तविक आत्मिक बलकी अपेक्षा रखती है। कोई भी विचार उद्‌भूत हुआ, किसी वासनाने सिर ऊंचा किया अथवा कोई सकुचितता मन मे प्रज्वलित हो उठी वहाँ जैन अहिसा यह कहती है कि—'तू इन विकारो, इन वासनाओं और इन सकुचितताओ से हनन को प्राप्त मत हो, पराभव प्राप्त न कर और इनकी सत्ता अङ्गीकार न कर, तू इनका बलपूर्वक सामना कर और इन विरोधी बलों को जीत।' आध्यात्मिक जय प्राप्त करने के लिये यह प्रयत्न ही मुख्य जैन अहिसा है। इसको फिर संयम कहो, तप कहो, ध्यान कहो या कोई भी वैसा आध्यात्मिक नाम प्रदान करो, परन्तु वह वस्तुतः अहिसा ही है। और जैनदर्शन यह कहता है कि अहिसा केवल आचार नहीं है; परन्तु वह शुद्ध विचार के परिपाक रूपसे अवतरित जीवनोत्कर्ष का आचार है।

ऊपर वर्णन किये गये अहिसा के सूक्ष्म और वास्तविक रूप मे से कोई भी बाह्याचार उत्पन्न हुआ हो अथवा इस सूक्ष्म रूप की पुष्टि के लिये किसी आचारक निर्माण हुआ हो तो उसका जैन तत्त्वज्ञान मे अहिसा के रूप में स्थान है। इसके विपरीत, ऊपर-ऊपर से दिखाई देने वाले अहिंसामय चाहे जिस आचार या व्यवहार के मूल मे यदि ऊपर कुछ अहिसा तत्त्वका सम्बन्ध नही हो तो वह आचार और वह व्यवहार जैन दृष्टि से अहिसा है या अहिसा का पोषक है यह नही कह सकते है।

यहाँ जैन तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विचार मे प्रमेयचर्चाका जान-बूझ कर विस्तार नही किया है। इस विषय की जैन विचारसरणी का केवल सकेत किया है। आचार के विषय मे बाह्य नियमों और विधानो सम्बन्धी चर्चा जान बूझ कर छोड़ दी गई है; परन्तु आचार के मूलतत्त्वो की जीवन शोधन के रूप मे सहज चर्चा की है, जिनकी कि जैन परिभाषा मे आश्रव, सवर, बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्व कहते है। आशा है कि यह सक्षिप्त वर्णन जैन दर्शन की विशेष जिज्ञासा उत्पन्न करने मे सहायक होगा।

जीवन-चरखा

चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना।
पग खूंटे द्वय पालन लागे, उर मदरा खखराना।
छीदी हुई पांखड़ी पसली, फिरै नहीं मनमाना॥
रसना तकली ने बल खाया, सो अब कैसे खूटै।
सबद सूत सूधा नहिं निकसै, घड़ी घड़ी पल टूटै।
आयु माल का नहीं भरोसा, अंग चलाचल सारे।
रोग इलाज मरम्मत चाहै, वैद बढ़ई हारे।
नया चरखला रंगा-चगा, सबका चित्त चुरावै।
पलटा बरन, गए गुन अगले, अब देखै नहिं भावै।
माटौ नहीं कातकर भाई, कर अपना सुरझेरा।
अन्त आग में ईंधन होगा, 'भूधर' समझ सबेरा॥

—कविवर भूधरदास

कविवर वादीभसिंह सूरि और उनकी बारह भावनाएँ

प्रकाश चन्द्र जैन

कविवर वादीभ सिंह सूरि विरचित क्षत्रचूडामणि एक बहुत ही सुन्दर, नीतिशिक्षक, धार्मिक एवं साहित्यिक सौन्दर्य से समन्वित महाकाव्य है। इसमे जीवन्धर स्वामी की जीवन कथा को साहित्य के ढाँचे में ढालकर कविवर ने बहुत ही रोचक और उपदेशक बना दिया है। यह महाकाव्य नीति का एक विशाल सागर है। शायद ही कोई ऐसा उपयुक्त स्थल हो जहा कविवर ने नीतिवर्णन के प्रति उपेक्षा दिखाई हो।

जैनधर्म मे बारह भावनाओ का बहुत महत्त्व है। ये भावनायें आत्मानुशासन एवं वैराग्य वर्द्धन मे बहुत सहायक होती हे। इस महत्त्वपूर्ण विषय को नीतिवर्णन में कटिबद्ध कविवर वादीभसिंह कैसे स्पर्श न करते ? क्षत्र चूडामणि के ग्यारहवे लम्ब मे इन बारह भावनाओ का बहुत ही विस्तार से वर्णन हुआ। अनेकान्त के पाठको की मानस तुष्टि के लिए उस वर्णन का मूलाश हिन्दी रूपान्तर के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

महाराज जीवन्धर जब क्रीड़ा करते-करते थक गये तो समीपवर्ती किसी बगीचे मे जाकर बन्दरो की क्रीडा देख कर मनोरञ्जन करने लगे। उस बगीचे मे जीवन्धर महाराज ने देखा कि किसी एक बन्दर ने किसी दूसरी बन्दरी के साथ सभोग किया, जिससे कि उसकी बन्दरी उससे नाराज हो गई। उस समय बन्दर ने उसे प्रसन्न करने के लिए बहुत उपाय किये, पर वह असफल ही रहा। तब बन्दर मरे हुए के समान बनकर जमीन पर लेट गया। उस समय बन्दरी उसे मरा हुआ समझ कर भयभीत हुई और उलटी बन्दर की खुशामद करने लगी। जैसे ही बन्दरी की खुशामद से प्रसन्न हुए बन्दर ने अपने कपटी वेश को छोडकर बन्दरी को एक कटहल का फल प्रेषित किया, वैसे ही बनमाली ने बन्दर और बन्दरी दोनो की एक डण्डे से खबर ली और वह फल बन्दरी से छीन लिया। उपर्युक्त घटना को देखकर जीवन्धर स्वामी को वैराग्य उत्पन्न हो गया, इसलिए वे निम्न प्रकार बारह भावनाओ का चिन्तवन करने लगे।

अनित्यानुप्रेक्षा

मद्यते वनपालोऽयं काष्ठाङ्गारायते हरिः।
राज्यं फलायते तस्मान्मयैव त्याज्यमेवतत् ॥

महाराज जीवन्धर विचार करते है कि जिस प्रकार इस बन्दर ने कटहर के फल को तोड कर बानरी को दिया, परन्तु वनरक्षक ने शीघ्र ही उसे ताडते हुए फल वापिस छीन लिया, ठीक इसी प्रकार पहिले काष्ठाङ्गार ने येन केन प्रकारेण मेरे पिता महाराज सत्यन्धर से राज्य प्राप्त किया था, परन्तु मैंने इस योग्य बनकर काष्ठाङ्गार का हनन कर उससे वश परम्परागत अपना राज्य वापिस छीन लिया है। अतएव मै तो वनपाल के समान हू, तथा काष्ठाङ्गार बन्दर के समान है और राज्य इस फल के समान है। अत मुझे ही इस राज्य को अवश्य छोड़ देना चाहिए।

जाताः पुष्टाः पुनर्नष्टाः, इति प्राणभृतां प्रथाः।
न स्थिता इति तत्कुर्याः, स्थायिन्यात्मपदेमतिम् ॥

इस संसार मे जितने प्राणी उत्पन्न होते है वे सब थोडे समय तक रहकर अवश्य ही नष्ट हो जाते है—कोई भी स्थिर नही रहता, अतएव बुद्धिमान् प्राणी का कर्तव्य है कि वह जगत की समस्त वस्तुओ को नश्वर जानकर अविनश्वर मोक्ष को प्राप्त करने की चेष्टा करे।

स्थायीति क्षणमात्रं वा ज्ञायते नहि जीवितम्।
कोटेरप्यधिकं हन्त, जन्तूनां हि मनीषितम् ॥

इस जीवन के क्षण भर भी स्थिर रहने का विश्वास नही, परन्तु प्राणियो की इच्छा करोड़ों से भी अधिक है। ऐसी हालत मे उनका पूर्ण हो सकना बिलकुल असम्भव है।

अवश्यं यदि नश्यन्ति, स्थित्वापि विषयाश्चिरम् ।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा ।।

पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय प्राणी को क्षणिक सुख देकर एक न एक समय नष्ट अवश्य हो जाते है। ऐसी हालत मे जो मनुष्य विचार पूर्वक उनका त्याग कर देता है, वह तो पापबन्ध से रहित हो जाता है। किन्तु इससे विपरीत विषय ही यदि जीव का सम्बन्ध छोडकर नष्ट हो जाते है और मनुष्य उन्हे स्वयं ही नही त्यागता है तो उसके ससार परिभ्रमण का कारण पाप का बन्ध होता ही रहता है।

अनश्वर-सुखावाप्तौ सत्यां नश्वरकायतः ।
किं वृथैव नयस्यात्मन्, क्षणं वा सफलं नय ।।

जब कि इस नश्वर-मनुष्य शरीर से अविनश्वर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, तब विवेकियो को अपना समय व्यर्थ खोना उचित नही, मोक्षप्राप्ति के यत्न मे ही उसे खर्च करना लाभदायक है।

अशरण अनुप्रेक्षा

पयोधौ नष्टनौकस्य पतत्रेरिव जीव, ते ।
सत्यपाये शरण्यं न तत्स्वास्थ्ये हि सहस्रधा ।।

हे आत्मन् ! जिस प्रकार समुद्र के बीच मे नौका से रहित हुए पक्षी का कोई रक्षक नही होता, अधिक न उड़ सकने के कारण उसका जीवन वही समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार आपत्ति के आ जाने पर प्राणी का कोई भी रक्षक नही होता। आई हुई विपत्ति का सामना केवल उसे ही करना पड़ता है। किन्तु इसके विपरीत कुशलता के होने पर अपरिचित जन भी मित्रता करने लगते है।

आयुधीयैरति स्निग्धै-र्बन्धुभिश्चाभिसम्वृतः ।
जन्तुः संरक्ष्यमाणोऽपि पश्यतामेव नश्यति ।।

जब प्राणी की मृत्यु का समय आ जाता है, तब उसे बडे-बडे शस्त्रधारी योद्धा और निजी बन्धुजन भी क्यो न घेरे रहे, परन्तु फिर भी वह काल के ग्रास से नही बच सकता। उसके प्राण पखेरू देखने वालो के सामने ही उड़ जाते है।

मंत्र तन्त्रादयो ऽप्यात्मन् स्वतन्त्र शरणं न ते ।
किंतु सत्येव पुण्ये हि, नोचेत्के नाम तैः स्थिताः ।।

इस संसार में मृत्युञ्जय आदिक मंत्र और तरह-तरह के तंत्र पुण्य का उदय रहने पर ही सहायक रहते है। पुण्य क्षीण होने पर नहीं। यदि पुण्योदय न होने पर भी ये मन्त्रादिक प्राणरक्षण मे स्वतन्त्र सहायक हो सकते तो अनेक मान्त्रिक, वैद्य और डाक्टरो द्वारा चिकित्सा करने पर भी प्राणियो की मृत्यु क्यो होती है ?

संसार अनुप्रेक्षा

नटवन्नैक वेषेण-भ्रमस्यात्मन् स्वकर्मणा ।
तिरश्चि निरये पापाद् दिवि पुण्याद्द्वयान्नरे ।।

जिस प्रकार कोई नट अपने कर्म के निमित्त से तरह-तरह के वेशो को बदल कर जगह-जगह घूमा करता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी अपने द्वारा किये गये पुण्य और पाप कर्म के उदय से आठो कर्मो के नाश होने तक योग्यतानुसार चारो गतियों मे घूमा करता है।

पञ्चानन इवामोक्षादसिपञ्जर आहितः ।
क्षणेऽपि दुःसहे देहे, देहि-हन्त कथं वसेः ।।

हे आत्मन् ! जैसे लोहे के पिजड़े मे बन्द किया गया कोई शेर विवश होकर उसमे रहता है, उसी प्रकार क्षण मात्र भी न सहन करने योग्य इस देह रूपी पिजरे मे स्थित रहना तेरे लिए भी उचित नही, तुझे भी मुक्ति के उपाय का अन्वेषण करना चाहिए।

तन्नास्ति यन्नैव भुक्तं, पुद्गलेषु मुहुस्त्वया ।
तल्लेशस्तव किं तृप्त्यै, बिन्दु पीताम्बुधेरिव ।।

हे आत्मन् ! इस ससार मे अनन्त पुद्गल (कार्माण वर्गणा) है उनको यह जीव अनेक बार भोग चुका है। अतएव जैसे समुद्र भर पानी पीने के इच्छुक व्यक्ति को एक बूद जल के पीने से कभी सन्तोष नही होता, उसी प्रकार पुद्गल के कुछ अशो के सेवन से तुझे भी कभी सन्तोष नही हो सकता।

भुक्तोज्झितं तदुच्छिष्टं भोक्तुमेवोत्सुकायसे ।
अभुक्तं मुक्तिसौख्यं त्व-मतुच्छं हन्त नेच्छसि ।।

हे आत्मन् ! तू जिन वस्तुओ को अनेक बार भोगकर उच्छिष्ट कर चुका है, उन्ही को बार-बार भोगने के लिए उत्सुक होता है, परन्तु खेद है कि जिस अविनश्वर और आनन्दप्रद मोक्ष सुख का तुझे एक बार भी स्वाद नही मिला है, उसके पाने की कभी चेष्टा भी नहीं करता।

संसृतौ कर्मरागाद्यैस्ततः कायान्तरं गतः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियद्वारा रागाद्यैश्चक्रकं पुनः ।।

इस संसार मे, रागद्वेषादिक भावों के कर्मबन्ध, से शरीरान्तर की प्राप्ति, शरीरान्तर से इन्द्रियो की उत्पत्ति और इन्द्रियो से राग द्वेषादि सदा ही होते रहते है। इस प्रकार यह ससार-चक्र अनादिकाल से घूमता हुआ चला आ रहा है। और जब तक मोक्ष की प्राप्ति न होगी घूमता रहेगा।

सत्यनादौ प्रबन्धेऽस्मिन्, कार्यकारणरूपके ।
येन दुःखायसे नित्यमद्यैवात्मविमुञ्चतत् ।।

हे आत्मन्! जबकि अनादिकाल से चली आई उपर्युक्त रागादिक की परिपाटी तुझे दुःखित कर रही है, तो तेरा कर्तव्य है कि उसका शीघ्र ही अन्त कर दे।

एकत्व अनुप्रेक्षा

त्यक्तोपात्तशरीरादिः स्वकर्मानिगुणं भ्रमन् ।
त्वमात्मन्नेकएवासि, जनने मरणेऽपिच ।।

हे आत्मन्! तू अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरता है। तेरे द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगने में कोई भी तेरा साथी नही होता।

बन्धवो हि श्मशनान्ता, गृह एवार्जितं धनम् ।
भस्मने गात्रमेकं त्वां, धर्म एव न मुञ्चति ।।

इस ससार मे धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो परभव में भी जीव के साथ जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य सब वस्तुए उसी पर्याय मे नाता तोड देती है। जैसे बन्धुमात्र तो श्मशान तक ही साथ देते है, धन घर मे ही पड़ा रह जाता है और शरीर चिता की भस्म बन जाता है।

पुत्र मित्रकलत्राद्यमन्यवप्यन्तरालजम् ।
नानुभातीति नाश्चयं नन्वङ्गं सहजं तथा ।।

जीवन मे समय समय पर प्राप्त होने वाली वाह्य वस्तुए पुत्र, मित्र, स्त्री, धन और धान्यादि कोई भी पर-भव मे जीव के साथ नही जाती। इसमे कुछ भी आश्चर्य की बात नही है किन्तु जो शरीर नवीन पर्याय के प्रारम्भ में प्राणी के साथ ही पैदा होता है, वह भी परभव में उसके साथ नही जाता यह महान् आश्चर्य की बात है। अथवा जबकि आत्मा के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाला शरीर भी अन्त समय मे प्राणी का साथ नही देता, तब प्रत्यक्ष भिन्न रहने वाले स्त्री, पुत्र, मित्र आदि से क्या आशा की जा सकती है।

त्वमेव कर्मणां भोक्ता, भोक्ता च फलसन्ततेः ।
भोक्ता च तात किं मुक्तौ स्वाधीनायां न चेष्टसे ।

हे आत्मन! शुभाशुभ कर्मो का कर्ता, उनके फलो का भोक्ता और उनका नाशक एक तू ही है, अतएव जबकि तुझमे कर्मों के नाश करने की शक्ति मौजूद है तब तेरा कर्तव्य है कि तू जिसकी प्राप्ति तेरे अधीन है उस मुक्ति को प्राप्त करने की चेष्टा कर।

अज्ञातं कर्मणंवात्मन् स्वाधीनेऽपि सुखोदये ।
नेहसे तदुपायेपु, यतसे दुःखसाधने ।।

हे आत्मन्! तू कर्म के वशीभूत हो अज्ञानी होकर स्वाधीन मोक्ष सुख और उसके उपायों मे तो चेष्टा नहीं करता है, किन्तु इसके विपरीत दुःखो के कारणभूत सांसारिक कार्यों के करने मे मग्न हो रहा है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

देहात्मकोऽहमित्यात्मञ्जातु चेतसिमाकृथाः ।
कर्मतो ह्यपृथक्त्वं ते, त्वं निचोलासिसन्निभः ।।

हे आत्मन्! तू मै शरीर रूप हू, ऐसा विचार अपने मन मे कभी मत कर। क्योकि यद्यपि कर्मबन्ध से तू और तेरा शरीर एकमेक हो रहे है, तो भी जैसे म्यान मे रखी हुई तलवार म्यान से जुदी ही रहती है, उसी प्रकार शरीर मे रहते हुए भी तू शरीर से अलग है।

अध्रुवत्वादमेध्यत्वादचित्त्वाच्चान्यदङ्गकम् ।
चित्त्वनित्यत्वमेध्यत्वै-रात्मन्नन्योऽसि कायतः ।।

हे आत्मन्! जबकि शरीर अचेतन, अनित्य, और अपवित्र है, किन्तु तू सचेतन, नित्य और पवित्र है, तब तुम दोनो में अभेद कैसे हो सकता है।

हेये स्वयं सतीबुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शुभे ।
तद्धेतु कर्म तद्वन्त-मात्मानमपि साधयेत् ।।

बुद्धि के खोटे कार्य मे स्वतः प्रवृत्त होने और अच्छे कार्य मे कोशिश करने पर भी प्रवृत्त न होने मे कारण-भूत पापकर्म, आत्मा को खोटे कार्य में प्रवृत्त करने वाला और करणीय कार्यों मे प्रवृत्ति न करने वाला बना देता है।

अशुचित्वानुप्रेक्षा

मेध्यानामपि वस्तूनां, यत्सम्पर्कादमेध्यता ।
तद् गात्रमशुचीत्येतत् किं नात्मन्मल सम्भवम् ॥

जिस शरीर के सम्पर्क से पवित्र वस्तुएं भी अपवित्र हो जाती है तथा जो रज और वीर्य आदि मलों से उत्पन्न होता है वह शरीर पवित्र कैसे हो सकता है ? किन्तु कभी नही ।

अस्पष्टं दृष्टमङ्गं हि सामर्थ्यात्कर्म शिल्पिनः ।
रम्यमूहे किमन्यत्स्यान्मलमांसास्थिमज्जतः ॥

नाम कर्म जन्म सौन्दर्य आदि के कारण यद्यपि यह शरीर ऊपर से देखने मे सुन्दर मालूम होता है परन्तु वास्तव मे इसके भीतर मल, माँस, हड्डी और चर्बी आदि के सिवाय और कोई अच्छी वस्तु नही है ।

देहादन्तः स्वरूपं चेद् बहिर्देहस्य किम्परंः॥
आस्तामनुभवेच्छेय मात्मन् को नाम पश्यति ॥

यदि किसी प्रकार इस शरीर का भीतरी भाग बाहर दिखने लगे तो इसके भोग की तो बात ही क्या ? मनुष्य इस पर नजर डालने मे भी घृणा करेगे ।

एवं मिशित पिण्डस्य क्षापिणोऽक्षयशंकृतः ।
गात्रस्मात्मन्क्षयात्पूर्व तत्फलं प्राप्य तत्यज ॥

यद्यपि माँस के पिण्डरूप यह मनुष्य शरीर नश्वर है, तथापि वह मोक्ष प्राप्ति का कारण है, अर्थात् इससे धर्म साधन कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है । अतएव हे आत्मन ! जब तक यह नष्ट नही होता है तब तक इससे मोक्ष प्राप्ति के साधनों को एकत्रित कर लेना चाहिए ।

आत्तसारं वपुः कुर्या-स्तथात्मंस्तत्क्षभेऽप्येभीः ।
आत्तसारेक्षुदाहेऽपि, नहि शोचन्ति मानवाः ॥

जैसे मनुष्य ईख से सार के निकाल लेने पर, उसके जलाने मे रज नही करता, उसी प्रकार हे आत्मन् ! तेरा भी कर्तव्य है. कि तू भी इस मनुष्य शरीर से मोक्ष के साधनो को प्राप्त कर उसे निःसार बना, जिससे इसके नाश होने मे तुझे रज भी न हो ।

आस्रवानुप्रेक्षा

अजस्रमास्रवन्त्यात्मन् ! दुर्मोचाः कर्म पुद् गलाः ।
तैः पूर्णस्त्वमधोऽधः स्या, जलपूर्णो यथा प्लवः ॥

हे आत्मन् ! तेरे मे प्रतिसमय पुद् गलमय कर्मो का आगमन हो रहा है । जैसे किसी नौका मे जब छिद्र द्वारा जल आता है, तब वह क्रमशः नीचे जल मे डूबती जाती है, उसी प्रकार तू भी उस कर्मास्रव के कारण अधोगति को प्राप्त होता जा रहा है ।

तन्निदानं तवैवात्मन् ! योगभावौ सदा सनौ ।
तौ विद्धि सपरिस्वन्दं परिणाममशुभाशुभम् ॥

आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बद्ध योग और कषाय ही इस आस्रव के कारण है । इनमे से मन, वचन, और काय के निमित्त से होने वाली आत्मा के प्रदेशों की चंचलता को योग तथा शुभ और अशुभ आत्मा के परिणामों को कषाय कहते है ।

आस्रवोऽयममुष्येति, ज्ञात्यात्मन्कर्म कारणे ।
तत्तन्निमित्तवैधुर्यादथ बाह्योर्ध्वगो भव ॥

हे आत्मन् ! अमुक कर्म के आने का अमुक कारण है, इस प्रकार कर्म और उसके कारणो को जान कर उन्हे अपने से अलग कर दे, जिससे तुझे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाए ।

संवरानुप्रेक्षा

संरक्ष्य समितिं गुप्ति-मनुप्रेक्षापरायणः ।
तपः संयम धर्मात्मा, त्वं स्या जित परीषहः ॥

आस्रव अर्थात् आते हुए नवीन कर्मों का रुकना संवर है । व्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, तप, धर्म और परीषह सब के सब इसी सवर के कारण है । अतएव हे आत्मन् ! तू उस संवर के निमित्त इन सब का पालन कर ।

एवं च त्वयि सत्यात्मन् कर्मास्रव निरोधनात् ।
नीरन्ध्रपोतवद् भूयाः निरपायो भवाम्बुधौ ॥

जैसा नौका के भीतर जल आने का छिद्र रुक जाने पर वह जलाशय मे खतरा रहित हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा मे कर्मों के आगमन का द्वार रुक जाने पर इसे भी ससार सागर मे फंसने का डर नही रहता ।

विकथादिवियुक्तस्त्वमात्म-भावनयाऽन्वितः ।
त्यक्त बाह्यस्पृहो भूया, गुप्ताद्यास्ते करस्थिताः ॥

हे आत्मन् ! तेरा कर्तव्य है कि तू आत्मध्यानी बन विकथा और कषाय आदि प्रमादो से रहित होकर धन धान्यादिक बाह्य पदार्थों से ममता को छोड़ दे । ऐसा

करने से तुझे पूर्वोक्त, गुप्ति, समिति और तप आदिक स्वयमेव ही प्राप्त हो जावेंगे।

एवमक्लेश गम्येऽस्मिन्नात्माधीनतया सदा।
श्रेयो मार्गे मतिं कुर्याः किं बाह्ये तापकारिणि ।।

हे आत्मन् ! सांसारिक कार्यो मे बुद्धि लगाने से आत्मोद्धार नही हो सकता। इसलिए मोक्ष मार्ग मे प्रवृत्ति करना ही सर्वथा उचित है। यह मोक्ष मार्ग स्वाधीन है, अतएव अनायास साध्य भी है।

शुष्क निर्बन्धतो बाह्ये, मुह्यतस्तव हृद्व्यथा।
प्रत्यक्षितैव नन्वात्मन् ! प्रत्यक्षनिरयोचिता ।।

हे आत्मन् ! पर पदार्थो मे मोह करने से तुझे जो मानसिक पीडा होती है, वह नरक प्राप्त कराने वाली प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रही है।

निर्जरानुप्रेक्षा

रत्नत्रय प्रकर्षेण, बद्धकर्मक्षयोऽपिते।
अधमातः कथमप्यग्निर्दाह्यं किं वावशेषयेत् ।।

प्रज्ज्वलित हुई अग्नि सभी दाह्य वस्तुओ को भस्म कर देती है—किसी को भी नहीं छोडती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र पूर्व सचित समस्त कर्मों को निश्चय ही नष्ट कर देते है।

क्षयादनास्रवाच्चात्मन्, कर्मणामसि केवली।
निर्गमे चाप्रवेशे च, धाराबन्धे कुतो जलम् ।।

जैसे किसी जलाशय का पूर्व सचित जल तो निकाल दिया जावे और नवीन जल उसमे नही आ सके तो वह जल किसी समय निर्जल अवश्य हो जाता है,. उसी प्रकार आत्मा मे जब सविपाक और अविपाक निर्जरा के द्वारा पूर्व संचित कर्मो का नाश और संवर के द्वारा नवीन कर्मो का निरोध ही जाता है तब यह भी केवली बन जाता है अर्थात् कर्म रहित हो जाता है।

रत्नत्रयस्य पूर्तिश्च त्वमात्मन्सुलभैव सा।
मोह क्षोभ विहीनस्य परिणामो हि निर्मलः ।।

जहाँ तक मोहनीय कर्म का उदय रहता है वही तक आत्मा के परिणामो मे मलिनता रहती है किन्तु मोह के नष्ट हो जाने पर वे परिणाम अत्यन्त निर्मल हो जाता है। इसलिए हे आत्मन् ! जब तू मोहनीय कर्म से रहित हो जाएगा, तब तेरे लिए रत्नत्रय की पूर्ति का होना भी कठिन नही रहेगा।

परिणाम विशुद्ध्यर्थं तपो बाह्यं विधीयते।
नहि तन्दुलपाकः स्यात् पावकादि परिक्षये ।।

हे आत्मन् ! जैसे चावल और जल के मौजूद रहने पर भी बाह्य कारण अग्नि और बटलोई आदिक न होने पर भी भात नहीं बन सकता, उसी प्रकार परिणामों की विशुद्धि भी बाह्य तप के बिना नही हो सकती। इसलिए परिणामों की विशुद्धि के लिए बाह्य तप करना आवश्यक है।

परिणाम विशुद्धिश्च, बाह्ये स्यान्निस्पृहस्यते।
निस्पृहत्वं तु सौख्यं तद् बाह्ये मुह्यसिकिं मुधा ।।

हे आत्मन् ! बाह्य पदार्थों से इच्छा या ममत्व हटने से ही परिणामों की विशुद्धि होती है। और पर पदार्थो मे इच्छा का हट जाना ही सच्चा सुख है। इसलिए बाह्य पदार्थों से मोह करना उचित नही है।

गुप्तेन्द्रियः क्षणं वा यन्नात्मन्यात्मनात्मना।
भावयन्पश्य तत्सौख्यमास्तां निःश्रेयसादिकम् ।।

हे आत्मन् ! इन्द्रिय विजयी बनकर आत्मा मे आत्मा के द्वारा आत्मा का ध्याप करने से वह निस्पृहत्व सुख सहज ही प्राप्त किया जा सकता है और इसी से मोक्षादिक भी क्रमश. प्राप्त किये जा सकते है।

अनन्तं सौख्य मात्मोत्थ मस्तीत्यत्र हि साप्रमा।
शान्तस्वातन्तस्य या प्रीतिः स्वसंवेदन गोचरा ।।

मनुष्य जब कुछ समय के लिए अपने चित्त को वश मे करके निराकुल हो जाता है तब उसे उस समय अपने ही अनुभव मे आने वाला जो अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, उससे निश्चय ही यह सिद्ध होता है कि आत्म मात्र की अपेक्षा से प्रगट होने वाला सुख अवश्य ही अनन्त है।

लोकानुप्रेक्षा

प्रसारितांघ्रिणा लोकः कटि निक्षिप्त पाणिना।
तुल्यः पुंसोर्ध्वमध्ययोः विभागस्त्रि मरुद्वृत्तः ।।

हे आत्मन् ! यह षड्द्रव्य मय लोक पैरो को फैलाए तथा कमर पर हाथ रखे हुए पुरुष के आकार का है।

इसके ऊर्ध्व-मध्य और अध· तीन भेद है। यह घनोदधि वातवलय, धनवातवलय और तनुवातवलय से वेष्टित है।

जन्म मृत्योः पदे ह्यात्मन्नसंख्यात प्रदेशके।
लोके नायं प्रदेशोऽस्ति यस्मिन्नाभूरनन्तशः॥

हे आत्मन्! यह लोक असख्यात प्रदेशी है, इसका कोई ऐसा प्रदेश बाकी नही है, जिसमे प्राणी ने अनन्त बार जन्म मरण धारण न किया हो।

सत्यज्ञाने पुनश्चात्मन्! पूर्ववत्संसरिष्यति।
कारणे जन्मभावेऽपि नहि कार्य परिक्षयः॥

हे आत्मन्! स्व पर का यदि विज्ञान न होने पर तू हमेशा की तरह इस संसार मे परिभ्रमण करेगा। क्योकि कार्य उत्पादक सामग्री के रहने पर कार्य का प्रादुर्भाव अवश्य ही होता है। इसलिए तू स्व-पर के भेद विज्ञान को प्राप्त कर, जिससे संसार के दुःखो से मुक्त हो सके।

यतस्व तत्तपस्यात्मन्, मुक्त्वा मुग्धोचितं सुखम्।
चिर स्थाय्यन्धकारोऽपि प्रकाशे हि विनश्यति॥

हे आत्मन्! जैसे प्रकाश के होने पर चिरकाल स्थित रहने वाला अन्धकार भी कूच कर जाता है उसी प्रकार तप के करने से प्राणी का ससार परिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है। अतएव ससार से नाता तोड़ने के लिए तुझे तप करना उचित है।

बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा

भव्यत्वं कर्मभूजन्म मानुष्यं स्वङ्गवश्यता।
दुर्लभं ते क्रमादात्मन्! समवायस्तु किम्पुनः॥

हे आत्मन्! रत्नत्रय के आविर्भावजनक शक्तिरूप, भव्यपाना, कर्मभूमि मे जन्म, मनुष्यपर्याय सुन्दर शरीर और उत्तम कुल मे उत्पत्ति। इन पाँचो मे से एक-एक की प्राप्ति होना भी कठिन है, तब एक साथ पाँचो का मिलना तो अत्यन्त कठिन बात है।

व्यर्थः सः समवायोऽपि तदात्मन्धर्मधीर्नचेत्।
कणि शोद्गम वैधुर्ये केदारादि गुणेन किम्॥

हे आत्मन्! कदाचित् भव्यत्व आदि पाँचो की एक साथ प्राप्ति भी हो जावे पर यदि धर्म मे रुचि नही हो तो उनका पाना भी व्यर्थ है। जैसे खेत वगैरह अच्छे भी रहें पर उनमें बीज बोने पर अनाज की उत्पत्ति न हो तो उनकी अच्छाई से क्या लाभ।

तदात्मन्दुर्लभं गात्रं धर्मार्थं मूढ! कल्प्यताम्।
भस्मने दहतो रत्नं, मूढः कः स्यात्परो जनः॥

हे आत्मन्! जैसे भस्म के लिए बहुमूल्य रत्न को जलाने वाला मनुष्य अत्यन्त मूर्ख समझा जाता है, उसी प्रकार केवल सासारिक सुखो के हेतु भोगोपभोग मे शरीर को नष्ट कर देने वाला मनुष्य भी महान् मूर्ख है। इसलिए धार्मिक कार्य करके नर देह को सफल बनाना चाहिए।

भव्यस्या बाह्यचित्तस्य सर्व सत्वानुकम्पिनः।
करणत्रय शुद्धस्य तदात्मन् बोधिरेताम्॥

हे आत्मन्! भव्य बाह्य, पदार्थों से उदासीन, अहिंसा प्रेमी और अध करण अपूर्व करण तथा अनिवृत्ति करण रूप परिणामो से निर्मल तेरे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की वृद्धि होवे।

धर्मानुप्रेक्षा

देवता भविता श्वापि, देवः श्वा धर्म पापतः।
तं धर्मं दुर्लभं कुर्या, धर्मो हि भुवि कामसूः॥

हे आत्मन्! पाप के प्रभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है और धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है इसलिए ऐसे दुर्लभ धर्म को धारण करना प्राणिमात्र का कर्तव्य है। धर्म करने से निश्चय ही सर्व मनोरथ पूर्ण हो जाते है।

पश्यात्म-धर्म माहात्म्यं, धर्मकृत्यो न शोचति।
विश्वैर्विश्वस्यते चित्रं सहि लोक द्वये सुखी॥

हे आत्मन्! धर्म की महिमा अचिन्त्य है धर्म करने वाला मनुष्य शोक और अविश्वास का भाजन नही होता इस भव और पर भव मे सुख एव शान्ति प्राप्त करता है।

तदात्मन्नात्मनीनेऽस्मिन् जैनधर्मेऽतिनिर्मले।
स्थवीयसी रुचिः स्येयादामुक्तेर्मुक्तिदायिनी॥

हे आत्मन्! जबकि धर्मादिक कार्यो के करने से आत्मलाभ प्रत्यक्ष स्पष्ट है, तब इस पवित्र और मुक्तिदायक जैनधर्म मे मुक्ति प्राप्ति पर्यन्त मेरा अटल प्रेम रहे।

—: o :—

एक सामाजिक कथा—

राखी

श्री विष्णु प्रभाकर

रक्षाबन्धन का पर्व होने पर भी उस दिन विश्वनाथ का चित्त बहुत अशान्त था। इसका क्या कारण था यह भी वह स्पष्ट नहीं जानता था। वह सवेरे से किसी वस्तु की तलाश में था पर वह उसे नही मिल रही थी। उसने अलमारी, बक्स, सूटकेश, मेज की दराजें सभी कुछ देख डाला, पर उसकी इच्छित वस्तु नही मिली। वह सोचने लगा उसकी स्मृति इतनी दुर्बल क्यो हो गई है कि सहमा उसे याद आया···कुछ लेख और पत्र अटेची मे भी तो रखे है। बस उसने अटेची को ढूंढ निकाला और व्यग्रता से उसका सामान टटोलने लगा। टटोलते-टटोलते उसके हाथ में एक लिफाफा आ गया। वह जैसे हर्ष से भग उठा···यह लिफाफा।······इसमे क्या है······क्या है···? जैसे वह उसे पहचान रहा था, जैसे उसे कुछ याद आ रहा था······। यह सब पलक मारते जितने समय में हो गया था क्योंकि दूसरे ही क्षण उसने खोल लिया था। और उसके हाथ मे तिरंगे खद्दर की एक राखी थी······।

यह राखी······जैसे वह एक इतिहास की पुस्तक थी। उसके पृष्ठ इतनी तेजी से खुलने शुरू हुए कि विश्वनाथ काप उठा। झुंझलाया सा वह बोला···क्या वाहियात बात है। मनुष्य इतना मोहग्रस्त क्यों है? क्यों मैंने इस राखी को आज तक संजोकर रखा हुआ है? नहीं, नही, मैं इसे नही रखूंगा। एक बात थी जो हो गई। वह हमेशा मुझे क्यो जकड़े रहे। मुझे अपंग क्यो बनाये रहे······।

और यह सोचते-सोचते उसने चाहा वह उस राखी को उठाकर रद्दी की टोकरी में फेंक दे कि सहसा उसे लगा···कोई कमरे में आ गया है और धीमे मधुर स्वर मे कह रहा है···यह राखी मैं इसलिए नही बांध रही कि मै तुमसे रक्षा की याचना करती हूँ बल्कि इसलिए बांध रही हूँ कि तुम अपनी रक्षा कर सको······। विश्वनाथ कांप उठा। दृष्टि उठा कर देखा···कहीं कोई नहीं है। पर उसका हाथ रुक गया उसने राखी को बड़े ध्यान से देखा। स्मृति के पन्ने बड़ी तेजी से हवा में उड़े। उन पन्नों में अनेक सुन्दर और रहस्यमय चित्र थे। उन चित्रो में भावकता थी सजीवता थी और था एक सन्देश···

बहुत पुरानी बात थी। विश्वनाथ तब अविवाहित था। पर विवाह की बात चल रही थी। कहीं पक्की हो चुकी थी। तभी उसके सहपाठी नरेश का पत्र आया··· परिस्थियो ने हमे एक दूसरे से बहुत दूर फेंक दिया है। डाकघर इस सीमा को कब तक छोटा करता रहेगा। कभी कभी तुम्हे आना ही चाहिए। बड़ा अच्छा अवसर है। साहित्य सम्मेलन, संगीत सम्मेलन, इतिहास परिषद आदि कई परिषदें हो रही है। तुम्हे इनमें रुचि है। नीरजा सगीत सम्मेलन मे सरोद ट्यून मे भाग ले रही है। तुम भी तो सितार के प्रेमी हो। इसलिए सोचो मत, चले आओ।

और वह चला गया। उसने आशा के प्रतिकूल सगीत सम्मेलन मे पूरा भाग लिया। उसने सितार पर ही संगीत का प्रदर्शन नही किया बल्कि सरोद ड्यूट मे नीरजा के साथ भाग लिया। यह आश्चर्य जनक बात थी कि वे इतनी जल्दी एक दूसरे को समझ गये थे। विश्वनाथ वैसे तो कई बार नीरजा के साथ सरोद बजा चुका था पर उन बातों को बहुत वर्ष बीत चुके थे। तब वह सीख ही रही थी पर आज उसकी प्रगति को देख कर विश्वनाथ प्रशंसा से भर उठा। जिस बात ने उसे विशेष प्रभावित किया था वह था उसका आत्म विश्वास। तीन बार सरोद का तार टूटा और सहस्रों व्यक्तियो की सभा में नीरजा ने उसे परम शान्ति से ठीक किया और संगीत के रस को भंग नहीं होने दिया। एक बार तो विश्वनाथ उसे देखता ही रह गया था। वह तन्मयता, वह आत्मविभोरता, और

वह आत्मविश्वास······

इसी संगीत समीक्षा में एक सप्ताह के स्थान पर एक माह बीत चला था पर विश्वनाथ दिल्ली लौट ही नही पा रहा था। कभी वे पिकनिक पर जाते, कभी गोष्ठियों मे, कभी किसी मित्र परिवार मे और कभी एकान्त क्षणों मे नरेश की लायब्रेरी उनका विश्राम स्थल बन जाती। वहीं बैठ कर वे सगीत को भूलकर कभी कभी जीवन की बातें करते थे। वे दोनो निर्भीक और स्पष्ट वक्ता थे। दोनों गुत्थियो मे विश्वास नही करते थे। दोनो के पास कही कुछ छिपाने को नही था। वे इतने स्पष्ट थे कि कभी-कभी तो नरेश को चकित रह जाना पड़ता था। विश्वनाथ को याद है कि एक दिन जब वह जाने की चर्चा भर रहा था नीरजा ने उससे पूछा···क्या अब नही रुक सकोगे ?

नही नीरु।

बिल्कुल ।

हाँ, नीरु।

तो जाओ।

नीरु।

कहो।

दुख होता है।

होता है।

क्यों ?

क्योकि मै तुम्हे प्रेम करनी लगी हूँ।

नीरु ।

नीरु झूठ नही बोलती।

फिर कई क्षण तक जैसे वहाँ सन्नाटा छाया रहा था। स्पष्टवादी बहुधा अपनी ही स्पष्टता से अप्रतिभ हो जाते है। कई क्षण बाद विश्वनाथ ने उसी शान्त स्वर में कहा ···एक बात बताओगी ?

पूछो ।

विश्वनाथ ने पूछा···तुम मुझसे प्रेम करती हो या अपने से ?

कैसा अजीब प्रश्न है ? नीरजा चकित सी देखने लगी। विश्वनाथ ने मुस्करा कर कहा···नही समझी ?

जैसे तभी बिजली कौंधी। नीरु विजय से मुस्कराई ···जी हाँ समझी। क्या समझी ?

जो तुमने अपनी कहानी 'मुक्ता' में लिखा है यानी प्रेम पूजी सहेजता नही बखेरता है।

बेशक ।

मुझे वह स्वीकार है।

फिर भी तुम कह सकती हो तुम मुझे प्रेम करती हो।

नीरजा क्षण भर के लिए झिझकी फिर बोली, आज तो ऐसा ही लगता है।

और कल कैसा लगेगा ?

कल आने पर जानूगी।

तो उसे आ लेने दो। तब तक के लिए अच्छा है हम उसकी बात न करें।

नीरजा ने दृढ स्वर मे कहा···आप ठीक कहते है। मुझे अभी बहुत से कल देखने है। उसके बाद ही मैं प्रेम को परख सकूगी।

प्रभावित होकर विश्वनाथ बोला···नीरु। सच कहता हूँ मुझे भी तुमसे प्रेम होता जान पड़ रहा है पर उसे प्रकट करने का समय अभी दूर है। प्रेम की अग्नि परीक्षा आसान नही होती, नीरु।······

तब दोनो हँस पडे थे, पर आज विश्वनाथ को वह घटना स्वप्नवत् लग रही है, क्योकि उसके दो दिन बाद रक्षाबन्धन का त्योहार था और उसी दिन नीरु ने विश्वनाथ के हाथ मे राखी बाँधी थी। बात ऐसे हुई कि जब नीरु नरेश के हाथ मे राखी बांध रही थी तब विश्वनाथ के मुंह से निकल गया···काश कि मेरे भी एक बहिन होती।

पास ही नीरु की माँ खड़ी थी बोली···अरे तो इसमें क्या है ? नीरु तेरी बहिन है। ला तो नीरु एक राखी।

दोनों के हृदय धक-धक कर उठे। विश्वनाथ ने यद्यपि यह बात जान बूझ कर कही थी तो भी वह अपने को ही चकित करता हुआ काँप उठा था। नीरु भी काँपी थी, निष्प्रभ भी हुई थी पर राखी लेकर आगे बढी। बोली··· हाथ बढाओ। प्रकट मे वह बिल्कुल नही झिझकी।

स्वाभाविक अल्हड़ता भरे स्वर मे विश्वनाथ ने कहा ···हाथ बढ़ा सकता हूं पर एक शर्त के साथ।

क्या ?

मैं तुम्हारी रक्षा नही करूँगा। मैं किसी की रक्षा करने में विश्वास नही करता। यह दूसरे को छोटा और दुर्बल समझने की भावना को जन्म देता है।

नीरु ने उसी क्षण कहा···तुमनेयह कैसे समझा कि मैं तुमसे अपनी रक्षा करवाना चाहती हूँ। यह राखी तो इस बात की निशानी है कि तुम अपनी रक्षा कर सको।

क्या मतलव ?

मतलव स्पष्ट है, जो उदात्त विचार तुम्हारे आज है, जिन स्वप्नो का तुम निर्माण कर रहे हो तुम उनको जीतने की शक्ति पा सको।

क्षण भर के लिए वे सब चकित रह गये। दूसरे क्षण नरेश ने खिलखिला कर कहा···शाबाश! नीरु तुमने विश्वनाथ को खूब छकाया। जनाब वड़े हाजिरजवाब बनते थे।

विश्वनाथ हारकर भी मुक्त हँसी हँसा था। आज भी सोचते-सोचते विश्वनाथ हँस पड़ा पर वह मुक्त हँसी नही थी, जैसे उसमे थकान भर गई हो। उसने मुट्ठी खोलकर राखी को देखा और फिर एक बार वही थकी हुई हँसी। उसके कुछ दिन बाद, जब वह वहाँ से चला आया, उसे नीरु का पत्र मिला था। उसमे लिखा था···

··· ··तुम्हारी बात ठीक निकली। आज मै समझ सकी हूँ कि उस दिन तुम्हारे रहते मैंने तुमसे जो प्रेम करने की बात कही थी वह नितान्त सत्य नही थी। आज तुम्हारे स्थान पर एक और व्यक्ति आ बैठा है। क्यो ऐसा हुआ यह बताना अनावश्यक है पर हुआ एक तथ्य है। तथ्य सत्य नही होता पर बहुधा हम उस तथ्य के शिकार हो जाते है। वैसे तो सत्य भी स्वय अखड नही है। पर मैं इस उलझन को बढाना नही चाहती। मै तुम्हारा आदर करती हूँ पर प्रेम विनोद को करती हूं। वह तुम्हारी तरह बुद्धिमान नही है। बात करना भी उसे कम आता है पर उसे जो कुछ आता है वह करना आता है वह मुझसे विवाह का वचन ले गया है। तुम उसें जानते होगे। उस जैसी बाँसुरी कम लोग बजा पाते है।

हम लोग अगले मास की पाँच तारीख को सिविल की सिबिल मैरिज एक्ट के अधीन विवाह कर रहे हैं। तुम्हें आना तो है ही······

विश्वनाथ के ठीक याद है···पत्र पढ़कर उसके अन्तर में पहिली प्रतिक्रिया एक कसक के रूप में हुई थी पर प्रकट मे उसने नीरु को तार द्वारा बधाई भेजी थी। वह बिवाह मे गया था और पूरी ईमानदारी के साथ उसने नीरु को बता दिया था वह उस पर गर्व करता है और सदा करता रहेगा।

नीरु ने हँसकर कहा था···सदा की बात क्यों करते हो ?

ठीक है। मै मानता हूँ। मुझे वर्तमान मे रहना चाहिए, पर नीरु, इस दृष्टि से तो तुम्हारा प्रेम सच्चा था।

उस क्षण था।

विश्वनाथ हँसा···कैसा रहस्य है। एक क्षण का सत्य दूसरे क्षण का असत्य बन जाता है।

अनजाने ही यह कठोर व्यग्य उसके मुँह से निकल गया था। उस क्षण भी उन्होने उसे हँसी मे उडा दिया था। आज भी विश्वनाथ ने हँसना चाहा पर कहानी आगे बढती चली गई। नीरु का विवाह हुआ। सगीत के क्षेत्र मे उसकी ख्याति बढी पर वह कला और पति दोनो को प्रसन्न न कर सकी। कला आगे बढी तो पति पीछे रह गया और जब वह पीछे रह गया था तो उसने उसे अपना अपमान समझ कर नीरु पर हमला किया। नीरु ने चारो ओर देखा ··उस तूफान मे केवल विश्वनाथ ही चट्टान की तरह खडा था।

वह दौड़ी हुई आई बोली ··क्या करूँ विश्वनाथ।

तलाक।

विश्वनाथ। नीरु काँप उठी।

सीधा रास्ता यही है, नीरु। प्रेम दूसरे मार्ग पर नही जा सकती।

फिर क्या करूँगी।

वर्तमान मे जिओ। फिर भविष्य का प्रतीक है। उसे आने दो देखा जायेगा।

और यही हुआ था। नीरु फिर श्रीमती नीरजा शुक्ला से कुमारी नीरजा गुप्ता बन गई। कई दिन तक तो वह दृढता से जीवन की गाड़ी को खीचती रही पर अब रह-रह कर उसे लगता था जैसे वह अकेली है। एक दिन

उसने विश्वनाथ से यही बात कही भी···मुझे लगता है जैसे मुझे कुछ चाहिए।

विश्वनाथ हंसा···यही, यही तो आपत्ति का मूल है।

बिना सुने नीरु बोली···सुनो विश्वनाथ। क्या मै तुम्हारे पास आ सकती हूँ।

क्यो नही। आ सकती हो, पर तुम्हे मेरी पत्नी से आज्ञा लेनी होगी। घर उसका है।

नीरु ने झिझकते हुए कहा···समझती हूँ।

फिर कई क्षण वे दोनो चुप बैठे रहे थे। बाद मे नीरज ने ही उस मौन को भंग किया था बोली···अब क्या करूँ ?

जो मन मे आये।

वह नही हो सकता।

क्या क्या है वह ?

मै तुमसे प्रेम करना चाहती हूं, पर क्या कर सकती हूं।

विश्वनाथ ने दृष्टि उठा कर नीरजा को देखा फिर धीरे से कहा···सच पूछो तो प्रेम करने का अवसर ही अब मिला है।

क्या ?

ठीक कहता हूं। अब तुम मुझे पाने की लालसा के बिना प्रेम कर सकती हो। जहाँ स्वार्थ नही है, वही प्रेम है।

सुनकर नीरजा के नयन भर आये। कई क्षण मौन मूर्तिवत् चित्रकार की तूलिका-सी भावो से भरी वह बैठी रही फिर चली गई। पत्र द्वारा उसने अपना निश्चय विश्वनाथ को लिख भेजा···

······मै अब अपने नगर मे सगीत भवन खोल रही हूँ। मैने देश के लिए जीने का निश्चय कर लिया है। मेरा देश असीम है। दीवारें उसकी सीमा नही है। कल क्या होगा मै नही जानती, जानना भी नही चाहती।

मन करे तो कभी-कभी आना। नरेश मुझसे रूठ गया है, तुम भी रूठ सकते हो पर अब मुझे किसी की चिन्ता नही है।

पुनश्च करके लिखा था···परसों श्रावणी पूर्णिमा है। राखी भेज रही हूँ।

बस···'

विश्वनाथ ने फिर मुट्ठी खोलकर राखी को देखा और से हँस पडा। बोला·· हाय रे दुर्बल मानव। तेरी दुर्बलता ने ही तो ससार को रहस्यमय बना दिया है।

उसने उठना चाहा पर कहानी पूरी होने मे कुछ देर थी। नीरजा की सगीत भारती एक बार फिर विवाह के मंत्रो से गूंज उठी उसने लिखा···' इस बार विवाह अचानक ही हो गया। मैने उसे स्वीकार कर लिया है। काम ठीक चल रहा है। किसी दिन सपरिवार आओ न ?·····'

यही सब सोचकर विश्वनाथ को लगा मनुष्य कुछ भी हो, सहारा चाहता है। उसके बिना खडा होने की शक्ति पाने में उसे अभी बहुत मजिल तय करनी है।

और तब उसका हाथ फिर ढीला पड गया। उसने उसने राखी को फेकने का विचार छोड दिया और वह उसे फिर अपने स्थान पर रखने चला कि तभी कमरे के किवाड खुले, देखा नीरु है। शान्त, प्रसन्न, विश्वास से पूर्ण। चकित विस्मित वह बोल उठा, नीरु।

नीरु हंसी। हाँ मै ही हू। तुम तो आये नही, मुझे ही आना पडा।

क्या बताये। आ नही सका। कोई विशेष बात भी नही थी।

हाँ, विशेष तो कुछ ही नही थी। राखी मै डाक से भी भेज सकती थी पर मुझे लगा चलना चाहिए, सो चली आई।

और फिर बोली··· लो हाथ बढ़ाओ।

विश्वनाथ ने बिना कुछ कहे हाथ बढा दिया। मुट्ठी मे वही राखी थी। देखकर नीरु बोली··· यह किसकी राखी है ?

तुम्हारी।

मेरी ?

हाँ, पहिली बार माँ के कहने पर जो राखी तुमने बाँधी थी वही है।

नीरजा मुस्करा पड़ी··· इसे क्यों रख छोड़ा है ? तुमने ? तुम तो मोह को पाप समझते हो।

विश्वनाथ के मुँह पर यह करारा तमाचा था। वह हतप्रभ-सा हो गया पर साहस करके बोला··· नीरु !

चाणक्य के धर्म पर कथित शोध नई नहीं है

रमाकान्त जैन, बी० ए० साहित्य रत्न

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता के प्रधानमन्त्री श्री कन्हैया लाल दूगड द्वारा प्रचारित तथा मुनि महेन्द्रकुमार प्रथम द्वारा रचित लेख—'ऐतिहासिक नई शोध—क्या चाणक्य जैन था ?'—की साइक्लोस्टाइल प्रति देखने को मिली। जैनभारती, श्वेताम्बर जैन, वीर-वाणी आदि पत्रो मे भी वह लेख प्रकाशित हुआ है।

इस लेख मे मुनि जी ने यह दावा किया है कि चाणक्य के जैन होने की बात और उसे प्रमाणित करके जैन साहित्यिक साधन सामग्री की ओर ध्यान आकर्षित करने का कार्य सर्वप्रथम उन्होने किया है, अन्य किसी जैन विद्वान की दृष्टि इस ओर तक अभी नही गई, अतएव यह उन की ही नई शोध है। इस सम्बन्ध में मै मुनि जी तथा उनके लेख के पाठको का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहूंगा कि गत चालीस वर्षो में कई प्रसिद्ध इतिहास विद्वान इसी प्रसंग पर पर्याप्त प्रकाश पहले ही डाल चुके है, यथा—मुनि श्री न्याय विजय जी अनेकात (वर्ष २, किरण, नवम्बर, १९३८, पृ० १०५-११५) में प्रकाशित अपने लेख 'चाणक्य और उसका धर्म' मे, प्रो० सी० डी० चटर्जी ने बी० सी० लाहा वाल्यूम में प्रकाशित अपने लेख 'अर्ली लाइफ आफ चन्द्रगुप्त मौर्य मे डा० ज्योति प्रसाद जैन ने जैनसिद्धान्त भास्कर, (भा० १५, कि० १, जुलाई १९४८, पृ० १७-२४) में प्रकाशित अपने लेख 'चन्द्रगुप्त-चाणक्य इतिवृत्त के जैन आधार' मे तथा अपनी पुस्तक 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' (भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से प्रकाशित प्रथम संस्करण १९६१, द्वितीय संस्करण १९६६, पृ० ७६-९० और बा० कामता प्रसाद जैन ने १९६४ में (विश्व जैन मिशन अलीगज-एटा से) प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि रिलीजन आफ तीर्थकराज' (पृ० १३३) मे—सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के राजनीति गुरु एव मन्त्री तथा सुप्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' के रचयिता चाणक्य के धर्म तथा उसके सम्पूर्ण इतिवृत्त पर श्वेताम्बर एव दिगम्बर साहित्य मे निवद्ध अनुश्रुतियो के आधार मे प्रभूत प्रकाश पहले ही डाला हुआ है। मुनि श्री महेन्द्र कुमार जी ने भी प्रायः उन्ही सब स्रोतो के आधार से प्रायः उन्ही तथ्यो का निरुपण किया है।

सम्भव है, मुनि श्री की दृष्टि में इस विषय पर उनसे पूर्व अत्यन्त प्रौढ़ विद्वानों द्वारा किया गया कार्य नही आ पाया। शायद इसीलिए उन्होने उसका उल्लेख नही किया और उसे अपना ही आविष्कार एवं 'नई शोध' समझकर प्रचारित किया है। ●

अभी-अभी मुझे भी ऐसा लगा था पर तुम जानती हो यह मेरा रक्षाकवच है।

अब नीरु के निष्प्रभ होने की बारी थी। पर वह मुस्कराती हुई बोली ··· इतने दिन बाद एक सशोधन की बात मुझे सूझती है।

क्या ?

यही कि यह रक्षाकवच नही है।

तो।

स्नेहकवच।

विश्वनाथ एक बार तो जैसे नीरु को देखता ही रह गया। कुछ सूझा ही नही। तब तक नीरु ने उसके हाथ के राखी बॉध दी और पुरानो राखी लेकर बोली ··· यह मै रखूगी। तुम ठहरे निर्मोही। तुम्हे भूत भविष्यत से क्या काम ?

और कहकर नीरु खिलखिला पड़ी। तभी उसके पति और विश्वनाथ की पत्नी ने यहाँ प्रवेश किया। पत्नी बोलो ··· ननद जी। क्या मिला है ?

अमूल्य रत्न।

और तब धूप सी खिलती हुई नीरु ने हाथ आगे बढ़ा कर वह राखी दिखा दी। ●

एक ऐतिहासिक खण्ड काव्य—

अंजना-पवनञ्जय

भंवरलाल सेठी

(१)
अतिशय उज्ज्वल, अतिशय सुन्दर,
परम रम्य है गिरि कैलाश।
एक समय उस पर बैठे थे,
नृप महेन्द्र सद्गुण आवास ।।

(२)
इनके आसपास मन्त्री सब,
बैठे थे चातुर्य–निधान।
नीतिनिपुण, हितचिन्तक. कोविद,
सूक्ष्म–दृष्टि, अच्छे मतिमान् ।।

(३)
महिप 'महेन्द्र' महेन्द्र पुरी के
मंत्री–मडल में भाये।
मानों ताराओं के बिच है,
पूर्णचन्द्र छवि छिटकाये ।।

(४)
सोच रहे थे नृपवर मन में,
दुहिता हुई सयानी है।
किसी योग्यतम राज-तनय को,
इसे शीघ्र परणानी है ।।

(५)
इतने में दोनों कर जोड़े,
बोले मंत्री, "श्री महाराज !
सोच रहे हैं क्या प्रभु मन में ?
जो चाहे फरमावें काज" ।।

(६)
कहा नृपति ने "तुम सब मिलकर,
वर बतलाओ गुण की खान।
राजकुमार अंजना–लायक,
जिसको दूं मैं कन्यादान" ।।

(७)
बोले मंत्री एक एक कर,
अपनी अपनी मति अनुसार।
इन्द्रजीत, विद्युत्प्रभ, आदिक,
गिना गये बहु राजकुमार ।।

(८)
पर प्रधानमंत्री ने सब में,
चुन चुन दूषण लगा दिये।
कहा किसी को, है वह मानी,
वह क्रोधी, वह द्वेष लिये ।।

(९)
विद्युत्प्रभ के लिए कहा "वह,
है यद्यपि रमणीय महान्।
रूपवान्, तो भी वह त्यागी–
होगा जल्दी छोड़ जहान ।।

(१०)
इसी लिए हे भूप शिरोमणि,
विनय ध्यान देसुन लीजे।
बाई का सम्बन्ध सोचकर,
सर्वोत्तम वर से कीजे ।।

(११)
भूपरत्न आदित्यनगर के,
है 'प्रह्लाद' जगद्विख्यात।
उनके तनय मनोज्ञ 'पवनजय',
रूपराशि है, है दृढ़ गात ।।

(१२)
बुद्धिमान हैं श्रुतसागर,
नीति निपुण हैं, हैं बलवान्।
सकल कलाओं में सकुशल हैं,
तेजस्वी हैं, हैं गुणवान् ।।

(१३)
इनके से इस समय नहीं हैं,

भूमंडल में राजकुमार।
राजन् इन्हें अंजना देकर,
सुख पावेगे आप अपार" ।।
(१४)
सुन प्रधान मंत्री की वाणी।
नरपति का मन मुदित हुआ।
सुता पवनंजय को ही दूँगा,
ऐसा दृढ़ संकल्प हुआ ।।
(१५)
सुने पवनजय के गुण गौरव,
हुई अजना खुश मन में।
देख कल्पनादृग से उनको,
बिठा लिया हृदयासन में ।।
(१६)
गये वहाँ से फिर सारे जन,
दर्शन करने श्री जी के।
भक्ति भाव से बड़े चाव से,
निर्मल करने दृग ही के ।।
(१७)
"सपरिवार आदित्यपुरी के,
आये है नृप भी प्रह्लाद।
यात्रा को कैलाशधाम की"
सुना मार्ग में यह संवाद ।।
(१८)
विधि से श्रीजिनवर के दर्शन,
नृप महेन्द्र इत कर आये।
उधर भूप प्रह्लाद दरस पा,
अपने डेरे पर आये ।।
(१९)
दोनों भूपति ने आपस में,
मिलने का सकल्प किया।
राजरीति से मिले, मधुरतम;
बातें कर मन मुदित किया ।।
(२०)
दोनों जाने लगे साथ ही,
श्री जी के दर्शन करने।
शास्त्र सभा में बैठ पास ही,
दोनों शास्त्र लगे सुनने ।।
(२१)
दोनों रम्य शैल की शोभा,
साथ देखने जाते थे।
एक दूसरे का गुण देखे,
मन में खूब लुभाते थे ।।
(२२)
नृप प्रह्लाद चाहता था यह,
"होय अजना साथ विवाह।
मेरे सू नु पवनंजय का तो,
मुझको होवे बड़ा उछाह" ।।
(२३)
रानी भी इसमे राजी है,
राजी है सारा परिवार।
और सुना है सच्चे दिल से,
इसे चाहता राजकुमार ।।
(२४)
स्वयं अंजना बड़ी सुशीला,
सारे सद्गुण वाली है।
शील शिरोमणि मात पिता ने,
शुभ शिक्षा दे पाली है ।।
(२५)
इतने में ही नृप महेन्द्र ने,
अवसर पाय किया प्रस्ताव।
"राजकुमार पवनंजय को मम,
कन्या देने के है भाव" ।।
(२६)
यह महेन्द्र नरपति की वाणी,
आदितपति के मन भाई।
'मेरा भी था यही मनोरथ,'
कह प्रसन्नता दिखलाई ।।
(२७)
बड़े ठाट से शुभ बेला में,
हुई सगाई यह सानद।

पाणिग्रहण मुहूरत ठहरा,
तीसरे दिन का ही सुखकंद ।।
(२८)
बाजे बजने लगे मनोहर,
होने लगा मंगलाचार ।
नहीं समावे मन में ऐसा,
सब पर छाया हर्ष अपार ।।
(२६)
व्योमयान में बैठ शाम को,
सैर पवनंजय करते थे ।
अपने प्रिय प्रहस्त को भी वे,
लिये साथ ही फिरते थे ।।
(३०)
इतने में ही इनके मन में,
उठा मनोरम एक विचार ।
"चलो चलें छुपकर चल देखें,
प्रिया कर रही क्या व्यापार ।।
(३१)
"प्यारी प्यारी सखियों के संग,
वह बातें करती होगी ।
मीठी मीठी बड़ी रसीली,
मिश्री सी घुलती होगी" ।।
(३२)
यों विचार, तज व्योमयान को,
चले बड़े चतुराई से ।
लता वृक्ष की छुपे ओट मे,
खड़े रहे सुघराई से ।
(३३)
लगे देखने जिधर अजना,
बैठी थी सखियों के सग ।
था नख से शिख तक साँचे में,
ढला हुआ सा उसका अग ।।
(३४)
छिटक रही थी रम्य चाँदनी,
कुसुम खिले थे रंग विरग ।
मन्द मन्द मारुत बहता था,
उठती थी मन माहि उमंग ।।
(३५)
देख अजना का मुख-सुन्दर,
मन में चद्र लजाता है ।
इसी लिए क्या बादल भीतर,
बार बार छुप जाता है ।।
(३३)
नख से शिख तक इसका जग में,
कही नही मिलता उपमान ।
इससे बस इसकी सी है यह,
किये पवनजय ने अनुमान ।।
(४७)
सखी अजना से कहती थी,
इसने सुना लगाकर कान ।
तभी सुन पड़ा "सखी अजना,
बड़ा पवनजय है गुणवान्" ।।
(३८)
"धन्य धन्य है भाग्य आप के,
मिला मनोहर वर ऐसा ।
देवाङ्गना बिठा ले जिसको,
अपनी आँखो में ऐसा" ।।
(३६)
सुन सुन ऐसे वचन पवनजय,
प्रमुदित होता जाता था ।
रूप-सुधारस रूपवती का,
पीते नही अघाता था ।।
(४०)
लगी 'मिश्रकेशी' यों कहने,
इतने मे ही बात बनाय ।
"वसन्तमाला ! तू क्या जाने,
पुरुष परीक्षा के सदुपाय" ।।
(४१)
भला पवनजय के भीतर कह,
क्या क्या गुण तू पाती है ।
झूठी बातें बना बनाकर,
बाई को बहकाती है ।।

(४२)
विद्युत्प्रभ को ब्याही जाती,
तो बाई यह सुख पाती।
उसके संग मिलन होता तो,
धन्य धन्य यह कहलाती" ।।
(४३)
ऐसी अपनी निन्दा सुनकर,
हुआ पवनंजय क्रुद्ध महान् ।
और अंजना का दग मूँदे,
लख आपे में जरा रहा न ।।
(४४)
कहने लगा और मन ही मन,
"दुष्टा निन्दा सुनती है।
विषरस भरे कनक घट की सी,
मुझको तो यह दिखती है ।।
(४६)
"इसको सजा मिले सो अच्छा,
उसका है बस यही उपाय"।
पर, इसने बिलकुल नहिं सोचा,
"यह तो मुझ पर रही लुभाय" ।।
(४७)
"प्रथम सखी की वाणी सुनकर,
मेरा ही शुचि ध्यान लगाय।
बाह्य विकार रहित हो बैठी,
रोक इन्द्रियों का समुदाय ।।
(४८)
इससे इसने नही सुने कुछ,
सखी मिश्रकेशी के बेन।
ध्यानमग्न योगीसम इसने,
मूँद लिये हैं दोनो नैन" ।।
(४९)
चले वहाँ से गये पवनजय,
चढ़ विमान पर घर आये।
सारी रात जागे, भ्रमवश हो—
आर्तध्यान कर दुख पाये ।।
(५०)
मानसरोवर के तट ऊपर,
रचा गया मंडप सुविशाल।
उसमें पाणिग्रहण रीति से,
हुआ, हुआ जब शुद्ध सु-काल ।।
(५१)
आनंद हर्ष मनायासबने,
रहे वहाँ फिर दिन दो चार।
गये सभी फिर निज निज घर को,
कर अपना लौकिक व्यवहार ।।
(५२)
अपनी सुता अंजना को भी,
नृप महेन्द्र ने विदा किया।
हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर,
माल-खजाना खूब दिया ।।
(५३)
साथ अंजना पवनजय को,
लेके घर आये प्रह्लाद।
मगल बाजे बजे मनोरम,
घर घर हुए हर्ष के नाद ।।
(५४)
थोड़े दिन तक तो परिजन ने,
पाया नही यही संवाद।
नही अजना को छूता है,
पवनकुमार धार सुविषाद ।।
(५५)
पर धीरे धीरे यह सबको,
जान पड़ा दुख है भारी।
सब सुखयारी समझे जिसको,
वही अजना दुखियारी ।।
(५६)
रहती रात दिवस चिन्ता में,
कब देगे दर्शन स्वामी।
कब होगी पूरी अभिलाषा,
कब पाऊंगी सुख नामी ।।
(५७)
रोती कभी कभी दुख पाती,
लेती कभी दीर्घ निश्वास।

पछताती पछताती दुखिया,
तज देती थी जीवन-आश ।।
(५८)
बरसों बीत गये दुखिया को,
पाये नहि पीके दर्शन ।
छलिया कपटिन पगली कहते,
झुका पवनजय का नहि मन ।।
(५६)
लाख लाख तकलीफ उठाती,
तरुणी हा हा खाती थी ।
नही पवनंजय के मन को वह,
तो भी पिघला पाती थी ।।
(६०)
मन था या अनघड पत्थर था,
लोहा था या वज्जर था ।
प्रेम भिखारिन परम सुन्दरी,
नारी को न जहां स्थल था ।।
(६१)
बरसों बीत गये ऐसे ही,
स्त्री को दुख पाते पाते ।
तो भी रुके न पति के जी में,
दुष्ट भाव आते आते ।।
(६२)
इतने में प्रह्लाद भूप पर,
पत्र लकपति का आया ।
सैन्यसहित सज रण में शामिल,
होने को था बुलवाया ।।
(६३)
कहा पवनजय ने पढ उसको,
पूज्य पिता मै जाऊँगा ।
क्षत्रियसुत कैसे होते हैं,
रण में यह दिखलाऊँगा ।।
(६४)
नृप रावण के सब रिपुओं को,
दल दल मार भगाऊँगा ।
अपना अपने कुल का गौरव ।
जग में पूर्ण जगाऊँगा ।

(६५)
ऐसे विनती कर आज्ञा ले,
सजा सैन्य चढ़ चला कुमार ।
मूर्तिमान जा रहा वीररस,
मानों लिए ढाल तलवार ।।
(६६)
लेकर मंगल द्रव्य मनोरम्,
पतिव्रता सन्मुख आई ।
सती अजना, पर वह पति से,
तिरस्कार भारी पाई ।।
(६७)
चली गई दुखिया महलों में,
व्याकुल करने लगी विचार ।
देखे जय पाकर आते हैं,
कब तक मेरे प्राणाधार ।।
(६८)
दिन भर चल सेना जा ठहरी,
मानसरोवर के शुचि तीर ।
लगे टहलने ले प्रहस्त को,
तीरों तीर पवनजय वीर ।।
(६९)
वहाँ नजर आया चकवे को,
झपट ले गया पक्षी बाज ।
चकवी तड़प तड़प जी देती,
करती हुई आर्त आवाज ।।
(७०)
उड़ती कभी कभी भूतल पर,
गिरती पड़ती चलती थी ।
अपनी छाया को जल में लख,
चकवा जान लपकती थी ।।
(७१)
चकवा कहाँ कहाँ चकवी थी,
चकवा तो तज गया जहान ।
चकवी का दुख लखा न जावे,
थी संकटमें उसकी जान ।।

(७२)
इस घटनासे पवनजयके,
दिलपर असर पड़ा भारी।
लगा कोसने अपनेको ही,
मैं हूँ दुष्ट बड़ा भारी॥
(७३)
मम वियोगमें मेरी प्यारी,
क्या क्या दुख न उठाती है।
इस चकवीसे भी वह ज्यादा,
बार बार बिलखाती है॥
(७४)
हूँ हत्यारा, हूँ मै पापी,
बड़ा घातकी हूँ मैं क्रूर।
जो अवला को दुख देने को,
रहता हूँ उससे अति दूर॥
(७५)
औरों से बाते करता हूँ,
घुल घुल कर प्यारी प्यारी।
पर अपनी सच्ची प्यारी को,
कहता हूँ दुष्टा नारी॥
(७६)
निज को धिक् धिक् कह पछताता,
चला गया प्यारी के पास।
लगा माँगने क्षमा दीन हो,
मन में होता हुआ उदास॥
(७७)
चरणो में गिर पड़ी अंजना,
मेरे जीवन, मेरे प्रान।
मेरे कर्मों का दूषण था,
नही आपका दोष सुजान॥
(७८)
मेरे मोती, मेरे माणक,
चन्दा हो मेरे प्रभु आप।
मेरे सब शृंगार आप हो,
मेरे सब भूषण हो आप॥
(७९)
मैं इन चरणों की दासी हूँ,
मेरे हो प्रभु प्राणाधार।
जीवन धन हो आनँदघन हो,
सरबस हो मेरे सरदार॥
(८०)
भूल चूक अपराध हुए हों,
मुझसे उन्हे क्षमा करिए।
हूँ अबला अनजान मूढ़ मैं,
मेरे दोष न हिय धरिए॥
(८१)
सुनी अंजना की मृदु वाणी,
हुआ पवनजय बड़ा प्रसन्न।
हँसी खुशी में समय बिताया,
मा बापों से रह प्रच्छन्न॥
(८२)
वीर वेश में सजा हुआ था,
जाना था रण को चढ़कर।
पीछे जाने लगा सैन्य में,
तभी अंजना ने नमकर–॥
(८३)
'स्वामी की जय हो जय हो' कह,
जय–कंकण बाँधा कर में।
"तेज नाथ का ग्रहण किया है",
और कहा–"अपने उर में"॥
(८४)
"इसी लिए स्वामी विनती है,
निज मुद्रा मुझको दीजे।
रिपु को जीत नाम पा जल्दी,
दासी की फिर सुध लीजे॥"
(८५)
दासी नही सुन्दरी तू है,
मेरे प्राणों की प्यारी।
चिन्ता न कर शीघ्र आता हूँ,
रिपुबल मर्दन कर प्यारी॥
(८६)
यों कह निज मुद्रा दे खुश हो,
गया पवनंजय निज दल में।
इधर अंजना खुशी हुई अति,
पति प्रेम पाकर दिल में॥

(८७)
थोड़े दिन ही भीतर बातें,
लगी फैलने चारों ओर।
हुई अजना गर्भवती है,
पाप किया इसने अति घोर।।
(८८)
कोई कहने लगा "अंजना,
बड़ी सती थी कहलाती।
पर, ऐसी है, इसी लिए तो,
नही पवनंजय को भाती।।"
(८९)
कहा किसी ने "वाह वाह जी,
क्या ऐसा हो सकता है ?
बड़ी सुशील है वह, उसके
लिए व्यर्थ जग बकता है।।"
(९०)
"तुम हो भोले भाले भाई,
त्रियाचरित तुम क्यों जानो।
जो छल कपट अंजना करती,
कहो उन्हे तुम क्या जानो।।"
(९१)
धीरे धीरे ऐसी बातें,
पहुँची राजा रानी को।
उनको हुआ बड़ा भारी दुख,
हो दुख क्यों नहि मानी को !
(९२)
रानी केतुमती झट आई,
अपनी पुत्रवधू के पास।
गर्भवती जब उसको देखी,
लगी डालने तब निश्वास।।
(९३)
कोप अजना पर कर भारी,
उसको दिया तुरन्त निकाल।
तथ्य कथन, मुद्रा दिखलाना,
उसको इसने माना जाल।।
(९४)
गई कोसती हुई गर्भ को,
दुखिया पापों की मारी।
अपने माता पिता के घर पर,
तिरस्कार पाई भारी।।
(९५)
पा अपमान चली जंगल में,
निराधार दुखिया बाला।
दुख-सुख-संगातिन थी सँग में,
प्यारी सखि वसन्तमाला।।
(९६)
प्रथम गर्भिणी, फिर वह वन-महि,
चला न कुछ भी जाता था।
कठिनाई से राम राम कर,
कुछ कुछ पद उठ पाता था।।
(९७)
धीरे-धीरे शैल-गुफा तक,
पहुंची, पहुँची मुनि के पास।
कुशल पूछ वचनामृत सुनकर,
मन मे बंधा इसे विश्वास।।
(९८)
चैत्र शुक्ल अष्टमी सुतिथि को,
बीती जब थी आधी रात।
हुआ अजना के बलशाली,
तेजस्वी बालक दृढगात।।
(९९)
इतने मे ही सिंहगर्जना,
एकाएक हुई भारी।
प्रतिधुनि से सारे जगल में,
कोलाहल छाया भारी।।
(१००)
चिल्ला उठी अंजना इससे,
भय खाकर अपने मन में।
इतने में ही व्योमयान इक,
आया इसके ढिग पल में।।
(१०१)
उससे उतरे नृप प्रतिसूरज,
पूछा उनने इसका हाल।

बातें कर, जाना यह तो है,
सती अंजना मेरी बाल ।।

(१०२)

अपना परिचय देकर बोले,
तव मामा प्रतिसूरज हूं ।
बेटी, घर को चलो, चले अब,
चलने को मैं उद्यत हूं ।।

(१०३)

'अच्छा चलिए' कह सब बैठे,
जल्दी चलने लगा विमान।
रास्ते के भीतर हाथों से,
छिटक पड़ा बालक बलवान ।।

(१०४)

हा हा कर सब नीचे आये,
देखा तो खुश था बालक ।
चोट न उसको कुछ आई थी,
फूट गया गिरि पत्थर तक ।।

(१०५)

बच्चे को कर प्यार साथ ले,
प्रतिसूरज निज घर आया ।
सती अजना ने निज शिशु का,
यहाँ आय आनद पाया ।।

(१०६)

आनंद मना रही थी कुछ कुछ,
पर यह क्या आया सवाद ।
जिसको सुन हो गई अजना,
मूछित मन में पाय विषाद ।।

(१०७)

"विजयश्री को पाकर आये,
वीर पवनजय निज घर पर ।
नही अजना को जब पाई,
चले गये वन, घर तजकर ।।"

(१०८)

अपनी भगिनी की तनया को,
प्रतिसूरज ने किया सचेत ।
कहा अजना मत घबरा तू,
जाता हूँ मै खोजन हेत ।।

(१०६)

होंगे जहाँ वहाँ से उनको,
ले आऊँगा तेरे पास ।
चिन्ता न कर जरा भी मन में,
प्रभु पर पूरा रख विश्वास ।।

(११०)

यों कहकर प्रतिसूरज नृप ने,
आदितपुर को किया प्रयाण ।
केतुमती प्रह्लाद भूप को,
समाचार जा दिये महान् ।।

(१११)

सती अंजना मेरे घर है,
हुआ पुत्र उसके शुचिगात ।
पर वह पति के दर्शन को है,
अकुलाती रहती दिन रात ।।

(११२)

दीनवदन राजा रानी ने,
कहा, आपका है उपकार ।
भ्रम में पड हमने ही उसका,
किया बड़ा ही है अपकार ।।

(११३)

वह जीती है, पुत्र हुआ है,
अच्छे है सब, अच्छा है ।
मिल जावे अब पवन हमारा,
तब यह जीवन अच्छा है ।।

(११४)

बार बार ऐसा कहकह कर,
पछताते थे नृप प्रह्लाद ।
केतुमती आँसू बरसाती,
रोती थी कर बातें याद ।।

(११५)

हाय शुद्धशीला को हमने,
घर के बाहर दिया निकाल ।

अपने पैरों आप कुल्हाड़ी,
मारी किसको कहिए हाल ।।

(११६)

समझा बुझा इन्हें प्रतिसूरज,
कहने लगा करो मत देर ।
खोज लगावें भली भाँति से,
लावें शीघ्र पवन को हेर ।।

(११७)

सभी चले नृप महेन्द्र को भी,
अपने संग में बुलवाया ।
खोजा जहाँ तहाँ आखिर में,
सघन गहन वन में पाया ।।

(११८)

ध्यान लगाकर उस जगल में,
बैठा था निश्चल होकर ।
प्रिये प्रिये मन में रटता था,
दिखता था कोरा पजर ।।

(११६)

कहा पिता ने प्यारे बेटा,
उठो उठो क्या करते हो ।
माता पिता श्वसुर सब जनका,
दुख क्यों नहि उठ हरते हो ।।

(१२०)

"प्यारी-प्यारी प्रिये अजना,
आ, मिल," सहसा बोल उठा ।
पर जब देखा पूज्य पिता को,
सकुचाया नत होय उठा ।।

(१२१)

माता देखी ससुरा देखा,
मामी-ससुरा भी देखा ।
देखा सब कुछ पर न प्रिया को,
इधर उधर झाँका देखा ।।

(१२२)

प्रतिसूरज ने कहा "कृपाकर,
सब मेरे घर को चलिए ।
वहाँ अंजना बाट देखती—
होगी, उसका दुख हरिए ।।"

(१२३)

हनुद्वीप को सभी गये तब,
हुआ वहाँ पर मंगलाचार ।
मिली अंजना निज स्वामी से,
सुखी हुआ सारा परिवार ।।

(१२४)

बेटा पुत्रवधू पोते को,
पाकर केतुमती-प्रह्लाद ।
कवि की कलम न कह सकती है,
कैसा हुआ उन्हें आह्लाद ।।

(१२५)

प्रतिसूरज त्यों महेन्द्र नृप के,
आनद का कुछ रहा न पार ।
सती अंजना के सतीत्व को,
मान गया सारा ससार ।।

(१२६)

आनदमंगल छाया सब में,
हुआ प्रशसित शीलसिगार ।
सती अजना का अति सुदर,
छाया जग में जयजयकार ।।

—. ० —

उत्थान-पतन

—श्री ठाकुर—

(१)

बुद्धिषेणा ने जब लेटे ही लेटे अगडाई ली तो मानो कक्ष की छाती फाड़कर एक बिजली की रेखा खिच गई। श्रेष्ठी रामभद्र ने जाने कितनी देर से तृषित नेत्रो से उसकी ओर देख रहा था। बुद्धिषेणा ने मञ्जुल हास्य बिखेरते हुए उसकी ओर देखा। गवाक्ष मे लटकी मोतियों की माला में अरुणिमा झाक रही थी। सोम को आज इस अरुणिमा मे एक नयापन अनुभव हुआ अपूर्व और उन्माद कारी। उसे स्मरण हो आया—आज तो मदनपर्व है। तभी बासन्ती बयार ने गवाक्ष के रास्ते से चुपके से प्रवेश किया और बुद्धिषेणा की लटो से खेलने लगी।

सोम ने बधाई दी—देवी। आज मदनपर्व है। मेरी बधाई स्वीकार करें।

बुद्धि गर्व मे भर उठी। नगर की वह सर्वश्रेठ सुन्दरी है, नगर बधू का उसे सम्मानपूर्ण पद प्राप्त है। अयोध्या के सारे युवक उसकी एक मुस्कुराहट के लिए लालायित रहते है। राजकुल के रसिक भौरे उसकी रूप सुगन्धि से आकर्षित होकर रसपान के लिए मंडराया करते है। पाँच वर्ष से वह नगर की हृदयेश्वरी बनी हुई है। उसके जीवन मे अनेको ने स्थान बनाना चाहा और निराश होकर चले गये। किन्तु—

वह सोचने लगी—श्रेष्ठी सोमभद्र के प्रति मेरे मन मे जो एक लगाव, एक मोह जाग उठा है, उसने मुझे चारो ओर से जकड़ लिया है। सचमुच क्या यह आसक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है ?

वह उठी, मदिरा पात्र से रत्न चषक में मदिरा उडेल कर अपने ओठो से लगाई और मुस्कराकर सोम के मुख में लगा दी। सोम की बधाई का ही उत्तर था यह। सोम के प्यासे अधर मधुपान से तृप्त न हो सके। वह अतृप्ति एक आकांक्षा बन कर पुकार उठी। उन्माद मे भर उठा वह, अंग अंग ऐंठने लगे उसके और आवेग मे उसने बुद्धि को अपने भुजपाश मे जकड़ लिया। बुद्धि ने इसका कोई विरोध नही किया, वह सर्वान्त करण से सोम के अंक मे लिपट गई।

भुवन भास्कर ललचाए से देखते रहे, पवन बुद्धि के आँचल से सिर धुनता रहा।

तभी सोम पूछ बैठा—देवी ! तुम अभी क्या सोच रही थी ?

आर्य ! मैं सोच रही थी, क्या किसी के प्रति आसक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है ? उसने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

तो तुम किस निष्कर्ष पर पहुच सकी देवी ?

मै तो जीवन मे जिस एक निर्णय पर पहुची हू, वह यही है जो अब है। मै जीवन का अर्थ समझती हू वासना अतृप्ति, आसक्ति और मदिरा। मै सोच भी नही पाती, क्या इनके सिवाय भी कोई जीवन है ?

किन्तु जीवन की रिक्तताए क्या केवल वासना और मदिरा से ही भर सकती है ? क्या यही एक दिन वितृष्णा न बन जाएगी, सोम ने बुद्धि को टटोलते हुए पूछा। मन की आशका का प्रश्न बन कर-फूट पड़ी।

किन्तु इस प्रश्न ने बुद्धि को चचल कर दिया। उसने सोम को जोर से जकडते हुए कहा—आर्य पुत्र वितृष्णा की बात न करे। इस अक मे स्थान पाकर वितृष्णा कैसी ? जनम जनम की साध के बाद ही मुझे मेरे काम देव मिले है। तब अपने कामदेव से रति को वितृष्णा हो जाए। यह क्या कभी सम्भव हो सकेगा ? और उसने पडे-पडे ही मदिरा पात्र से चषक मे फिर मदिरा उड़ेल कर सोम के मुँह से लगा दी और सोमने भी आँखों मे कामना भरकर अपने हाथों से बुद्धि को एक चषक पान करा दिया।

२

आज वसन्तोत्सव है। अयोध्या के राजपथ और वीथियाँ नर-नारियों से सकुल है। बुद्धिषेणा के प्रासाद ने प्रकोष्ठ में और बाहर असंख्य युवक मल्लिका और यूथिका की मालाएं लिए खड़े है। वे देवी की प्रतिक्षा में अधीर होर रहे है। वे देवी के दर्शनों के लिए आकुल है।

जब देवी बुद्धिषेणा सम्पूर्ण शृंगार के साथ अपने स्वर्णरथ की ओर बढ़ी तो युवक दल ने उस पर पुष्प बरसाये। पुष्प मालाओं से उसका रत्नहार ढक गया। फूलों की मालाओं मे वह ऐसी लग रही थी मानो कोई वाग्देवी ही अवतरित हुई हो।

युवक-दल में रथ खींचने के लिए स्पर्धा सी हो गयी। मार्ग मे लोग देवी का अभिवादन करते और देवी मुस्कुरा कर उसे ग्रहण करती। और यों देवी का रथ राजपथों पर होकर मदन मदिर की ओर जा रहा था।

किन्तु नगर के बाहर मदनोद्यान मे बने मदन मदिर की ओर जाने की बजाय, उस मार्ग पर अधिक भीड़ जा रही थी, जो वन की ओर गया था। देवी को बडा कौतूहल हुआ। आज उसके विजयोल्लास का दिन है। आज वह फिर एक बार नगर की सभी ललनाओं पर अनिन्द्य सौन्दर्य के कारण विजय प्राप्त करेगी। युवक-वर्ग एक बार फिर उसकी मुस्कराहट पर लोट-पोट होगा। राजन्यवर्ग उसके मादक नृत्य से फिर एक बार झूम उठेगा किन्तु वह कौनसा आकर्षण है। जिससे प्रेरित होकर ये नरनारी उसके उत्सव को ठुकराकर निर्जन नीरस बन की ओर अभिमुख हो रहे है। उसके मन पर ईर्ष्या की एक गहरी रेखा खिंच गई। इस रहस्य को सुलझाए बिना उसे चैन न मिलेगा।

उसने अपनी परिचारिका मदन लेखा से इसका कारण जानना चाहा तो मदन लेखा ने ससभ्रम उत्तर दिया—देवी! प्रीतंकर नाम के एक दिगम्बर जैन मुनि वन प्रान्त मे विराजमान है। उसके दर्शन-उपदेश के लिए ही सारा राज परिवार और नागरिक जन उधर जा रहे है।

बुद्धिषेणा के रूप को यह चुनौती थी। उसका आहत गर्व फुकार उठा—ओह! नगटे साधु को मेरे साथ स्पर्धा करने की धोंस। बुद्धिषेणा की सारी रूपराशि व्यर्थ हो जाएगी, यदि वह इस नंगटे को अपने वश मे करके मदन मदिर न ले जा सकी। और तभी उसने आदेश दिया—रथ बन की ओर चलेगा। कामी युवकों के मन पर यह आदेश उल्का पात बनकर टूटा। किन्तु आदेश का पालन किया गया। देवी एक योद्धा की तरह युद्ध विजय की लालसा मन में छिपाए बढ रही थी असीम विश्वास के साथ।

३

शिलातल पर एक दिगम्बर मुनि विराजमान थे। उनके नेत्रों से अनन्त करुणा प्रवाहित हो रही थी। मुख पर वीतरागिता का लावण्य बिखर रहा था और एक दिव्यप्रभा मण्डल प्रभासित था। जिससे दूसरे के मन में आतक नही, किन्तु आश्वासन मिलता था। असख्य श्रोता जन श्रद्धा के साथ उसकी अमृतवाणी का आस्वादन कर रहे थे।

रूप गर्विता बुद्धिषेणा का विश्वास था कि उसके पहुंचते ही सारे नागरिक सम्मान के साथ उठ खड़े होंगे और वह साधु तो—।

किन्तु जब वह पहुची तो वहाँ कोई चचलता न दीख पडी। सब कुछ शान्त था। श्रोताओं ने उसकी ओर लक्ष्य तक न दिया। इससे उसका अभिमान मर्माहित हो उठा।

वह उद्धतभाव से अपने गौरव का स्मरण कर सबसे आगे जा बैठी। एक ओर सबको आशकित करता उच्छृंखल बरसाती नाला बह रहा था और दूसरी ओर गुरु गम्भीर समुद्र सबको अभिभूत कर रहा था। वासना का ऊंट बीतरागता के पहाड़ के नीचे आकर अपनी ऊँचाई नापने मे लगा था।

मुनिराज उपदेश दे रहे थे—मानव जीवन का लक्ष्य क्या है? आपने कहा—मानव जीवन सुलभ और सहज प्राप्य नही है। इसलिए इसका अधिक से अधिक सुन्दर उपयोग करना है। इसका उपयोग वासना मे नही करना भोगो मे नही करना है। इनमे तो मानव जीवन का सारा रस ही सूख जाएगा।

बुद्धिषेणा ने समझा—यह मेरे ऊपर व्यंग्य है। वह अपना आवेग न रोक सकी और बोली—लेकिन वासना मे तो स्पष्ट सुख है। प्रत्यक्ष सुख को छोड़कर अप्रत्यक्ष सुख की कल्पना में कष्ट उठाना तो बुद्धि मानी नहीं है। श्रोताओं के मुख विकृति से सिकुड़ गए।

मुनिराज के सहज शान्ति के साथ उत्तर दिया—भद्रे ! तुम भ्रम मे हो। जिसमे अतृप्ति हो, आकुलता हो उसमे सुख कहाँ ? वासना से क्या कभी किसी को तृप्ति मिल सकी है ? वासना खाज को खुजाते समय सुख मालूम पड़ता है किन्तु क्या वह वास्तिविक सुख है ? सुख वह जिसका परिणाम सुख हो, जिसमे शान्ति हो, सुख हो। क्या वासना का सुख ऐसा ही है ?

बुद्धिषेणा की मूर्खता पर यह करारा तमाचा लगा। वह तिलमला उठी। उसने अपना अन्तिम तीर निकाला। विलास और उल्लास सहज प्राप्य नही है तो उनका भोग ही तो मानव जीवन की चरितार्थता है। इस अवसर को गवाकर ही तो मानव जीवन, का रस सूख जाता है। मानव जीवन मे तब रह ही क्या जाता है। इस लिए जीवन के जो क्षण विलास और वासना मे बीत जाएं। उनको ही मै धन्य समझती हू।

मुनिराज बोले—भद्रे ! गलत समझी हो। वे क्षण सत्य नही। जीवन की यही सबसे बड़ी बिडम्बना है। वे अमर नही, स्थायी नही, क्षण भगुर है। जिस रूप और यौवन पर मनुष्य को गर्व है, वह क्षणिक है। किन्तु मानव जीवन का सत्य क्षणिक सुख नही, अनन्त सुख है। वह वासना के राजपथ से नही। त्याग के विषम मार्ग से चल कर ही मिल सकेगा ?

बुद्धिषेणा का गर्व नष्ट हो गया। मुनिराज ने उसकी आखो में उंगली डालकर उसे सत्य के दर्शन करा दिए थे। और जब वह वापिस लौटी तो उसकी देह पर आभूषण का चिह्न तक न रह गया था। आज उसने जो पाया था, वह अपूर्व था और उस पर उसे सन्तोष था।

(४)

मुनिराज विचित्रमति चर्या के लिए नगर में जा रहे थे। यकायक उसकी दृष्टि बुद्धिषेणा पर जा टिकी। वह खड़ी-खड़ी अपने विराट जीवन का अवलोकन कर रही थी। उसने पाया कि उसके सारे जीवन मे कालिमा-केवल कालिमा ही पुती हुई है। उसके जीवन का लक्ष्य ही उस कालिमा को समेटना रहा है। जब से उसने मुनिराज से सुना कि वासना जीवन का चरम सत्य नही है चरम सत्य है त्याग, तबसे उसके अन्धकारपूर्ण जीवन में प्रकाश की एक पतली-सी रेखा दिखाई पड़ने लगी और उस रेखा के आलोक मे ही वह अपने को भी देख सकी है। पहिले वह विलास के नीचे भी नि सत्व थी और आज ! उस स्तूप को ठुकराकर भी वह वैभव सम्पन्न हो गई है। अब उसने जो पाया है, वह तो जन्म-जन्मान्तर का संचित कोष है। अब इस कोष ने मिलकर उसके रूप को प्रभासित कर दिया है। किन्तु रूप की इस प्रभा में आज स्निग्धता नही, अपितु आतंक व्याप्त हो गया है। अब रूप लुब्ध युवक उसके चारों ओर नही मडराते। अब उसके प्रासाद मे पायलो की झनक और मुद्राओ की खनक नही सुनाई पडती। अब उसने स्वेच्छा से नगर बधू का गौरव त्याग दिया है। किन्तु विचित्रमति मदन की पुकार को न ठुकरा सके। वे आज बुद्धिषेणा के रूप की अग्नि मे शलम बनकर कूद पड़ेगे।

यह रूप ! आह ! मुनि के हृदय से एक नि श्वास निकल गई।

× × ×

आकस्मिक रूप से आए हुए मुनिराज को देखकर बुद्धिषेणा चकरा गई। उसने श्रद्धा से विनत होकर निवेदन किया—मेरे अहो भाग्य है। आज धर्म अप्रत्याशित रूप से मेरे द्वार पर आया है। विराजिए धर्म राज !

किन्तु मोहान्ध विचित्रमति पर इसका कोई प्रभाव नही पडा। वे बोले—मै भिक्षुक हूं। क्या यह भिक्षा भिक्षा मुझे मिल सकेगी।

बुद्धिषेणा इस अकल्पित उत्तर पर सहसा विश्वास न कर सकी—एक मुनिराज ने मुझे नरक से निकालकर—यहा खड़ा किया था और आप मुझे यहा से धकेलकर फिर नरक मे डालना चाहते है। क्या हमारे जीवन का एकमात्र लक्ष्य नरक ही है ?

विचित्रमति ने सुना। वे चौक पड़े—क्या कहा, एक मुनिराज ने तुम्हें नरक से निकाला ? कौन थे वे मुनिराज ?

उनका पवित्र नाम प्रीतकर मुनिराज है। कहते-कहते बुद्धिषेणा ने श्रद्धा से हाथ जोड़कर परोक्ष प्रणाम किया।

क्या कहा, प्रीतंकर मुनिराज ! मेरे गुरु ! मुनि के मुख पर कालिमा पुत गई। पश्चात्ताप से उनका हृदय

अहिच्छत्र

श्री बलिभद्र जैन

स्थिति—अहिच्छत्र उत्तर प्रदेश के बरेली जिले की आँवला तहसील मे स्थित है। दिल्ली से अलीगढ़ १२६ कि० मी० तथा अलीगढ से बरेली लाइन पर (चन्दौसी से आगे) आवला स्टेशन १३५ कि० मी० है। आवला स्टेशन से अहिच्छत्र क्षेत्र १८ कि० मी० सड़क द्वारा है। आवला से अहिच्छत्र तक पक्की सडक है। स्टेशन पर तागे मिलते है। इसके अतिरिक्त इसी रेलवे लाइन पर करेंगी स्टेशन से ८ कि० मी० तथा रेवती बहोड़ा खेडा स्टेशन से ५ कि० मी० दिशा मे पडता है। किन्तु सुविधा आवला स्टेशन से अधिक है। इसका पोस्ट आफिस राम-नगर है।

कल्याणक क्षेत्र—अहिच्छत्र आजकल रामनगर गाव का एक भाग है। इसको प्राचीन काल मे सख्यावली नगरी कहा जाता था। एक बार भगवान पार्श्वनाथ मुनि-दशा मे विहार करते हुए सख्यावली नगरी के बाहर उद्यान मे पधारे और वहा प्रतिभा योग धारण करके ध्यानलीन हो गए सयोगवश सवर नामक एक देव विमान द्वारा आकाश-मार्ग से जा रहा था। ज्योही विमान पार्श्वनाथ के ऊपर से गुजरा कि वह वही रुक गया। उग्रतपस्वी ऋद्धिधारी मुनि को कोई सचेतन या अचेतन वस्तु लाँघकर नही जा सकती। संवर देव ने इसका कारण जानने के लिए नीचे की ओर देखा। पार्श्वनाथ के हाथों हुए अपमान का प्रतिशोध लेने को आतुर हो उठा और अनेक प्रकार के भयानक उपद्रव करके उन्हे त्रास देने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु स्वात्मलीन पार्श्वनाथ पर इन उपद्रवो का रचमात्र भी प्रभाव नही पड़ा। न वे ध्यान मे चल-विचल हुए और न उनके मन मे आततायी के प्रति दुर्भाव ही आया। तभी नागकुमार देवो के इन्द्र धरणेन्द्र और उसकी इन्द्राणी पद्मावती के आसन कम्पित हुए। वे पूर्वजन्म मे नाग-नागिन थे। सवर देव कमठ तपस्वी था। पार्श्वनाथ उस समय राजकुमार थे। जब पार्श्वकुमार सोलह वर्ष के किशोर थे, तब गङ्गा-तट पर सेना के साथ हाथी पर चढ कर वे भ्रमण के लिए निकले। उन्होंने एक तपस्वी को देखा, जो पचाग्नि तप तप रहा था। कुमार पार्श्वनाथ अपने अवधिज्ञान के नेत्र से उसके विडम्बनापूर्ण तप को देख रहे थे। इस तपस्वी का नाम महीपाल था और यह पार्श्वकुमार का नाना था। पार्श्वकुमार ने उसे नमस्कार नही किया। इससे तपस्वी मन मे बहुत क्षुब्ध था। उसने लकडी काटने के लिए अपना फरसा उठाया ही था कि भगवान पार्श्वनाथ ने मना किया 'इसे मत काटो, इसमे जीव है।' किन्तु उनके मना करने पर भी उसने लकड़ी काट डाली। इससे लकडी के भीतर रहनेवाले सर्प और सर्पिणी के दो टुकडे हो गए। परम करुणाशील पार्श्व प्रभु ने अपने असह्य वेदना मे तडपते हुए उन सर्प-सर्पिणी को को णमोकार मन्त्र सुनाया। मन्त्र सुनकर वे अत्यन्त शाँत भावो के साथ मरे और नागकुमार देवो के इन्द्र और इन्द्राणी के रूप मे धरणेंद्र और पद्मावती हुए महीपाल। अपनी सार्वजनिक अप्रतिष्ठा की ग्लानि मे अत्यन्त कुत्सित भावो के साथ मरा और ज्योतिष्क जाति का देव बना। उसका नाम अब सम्बर था। उसी देव ने अब मुनि पार्श्व-नाथ से अपने पूर्व वैर का बदला लिया एव धरणेंद्र और पद्मावती ने आकर प्रभु के चरणों मे नमस्कार किया।

उच्छ्वसित हो उठा—देवी मै राहभ्रष्ट हो गया था, तुमने मुझे राह बता दी। मां! क्षमा करो मुझे! आज कंचन के मोल काच खरीदने चला था। तुमने मुझे बचा लिया। मुझे क्षमा करो कहते हुए विचित्रमणि तेजी से निकल गए।

बुद्धिषेणा गौरव से भर उठी। वह सोचने लगी—जीवन के इस उत्थान-पतन का एकबार फिर उसका भूत-कालीन जीवन चित्रपट की भाति उसकी आखो मे फिरने लगा।

धरणेंद्र ने सर्प का रूप धारण करके पार्श्वनाथ को ऊपर उठा लिया और सहस्र फण का मण्डप बनाकर उनके ऊपर तान दिया। देवी पद्मावती भक्ति के उल्लास मे वज्रमय छत्र तानकर खड़ी हो गई। इससे सवर देव पार्श्वनाथ के साथ-साथ धरणेद्र और पद्मावती के ऊपर भी क्षुब्ध हो उठा। उसने उनके ऊपर भी नाना प्रकार के कर्कश वचनो से प्रहार किया। इतना ही नही, आँधी, जल, वर्षा, उपल वर्षा आदि द्वारा भी घोर उपद्रव करने लगा।

किन्तु पार्श्वनाथ तो इन उपद्रवों, रक्षा प्रयत्नो और क्षमा-प्रसगो से निर्लिप्त रहकर आत्म-ध्यान मे लीन थे। उन्हे तभी केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब चैत्र कृष्णा चतुर्थी का दिन था। इन्द्रों और देवो ने आकर भगवान के ज्ञान कल्याणक की पूजा की। जब इन्द्र ने वहां अपार जल देखा तो उसने इसके कारण पर विचार किया। वह सवर देव पर अति क्रुद्ध हुआ। सवर देव भय के मारे कांपने लगा। इन्द्र ने कहा—तेरी रक्षा का एक ही उपाय है कि तू प्रभु से क्षमा-याचना कर। सवर प्रभु के चरणो मे जा गिरा[1]। तत्पश्चात, इन्द्र की आज्ञा से धनपति कुबेर ने वही पर समवसरण की रचना की और भगवान पार्श्वनाथ का वहाँ पर प्रथम जगत्कल्याणकारी उपदेश हुआ।

नागेद्र द्वारा भगवान के ऊपर छत्र लगाया गया था, इस कारण इस स्थान का नाम सख्यावती के स्थान पर अहिच्छत्र हो गया। और भगवान के केवल ज्ञान कल्याणक की भूमि होने के कारण यह पवित्र तीर्थक्षेत्र हो गया।

—मुनि श्रीचन्द कृत 'कहकोसु' नामक अपभ्रंश कथा-कोष (सन्धि ३३ कडवक १ से ५, पृष्ठ ३३३ से ३३५) मे यहा के एक व्यक्ति की कथा आती है, वह इस प्रकार है—

अहिछत्रपुर नगर मे शिवभूति विप्र रहता था। उसके दो पुत्र थे—सोमशर्मा और शिवशर्मा। छोटे पुत्र का मन पढ़ने मे नही लगता था। इससे पिता उसे कोडो से पीटा करता था। और उसका नाम नारन्तक रख दिया था। शिवशर्मा को इससे इतनी मानसिक ग्लानि हुई कि वह घर से निकल गया और दमवर मुनि के पास निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन गया। एक दिन गुरु से उसने अपनी मृत्यु के सम्बन्ध मे पूछा। गुरु बोले—महिला के निमित्त से तुम्हारी मृत्यु होगी। यह सुनकर शिवशर्मा एकन्त वन में जाकर तपस्या करने लगा। वनदेवियाँ उन्हे आहार देती थी।

एक दिन गगादेव नट अपनी पुत्री मदनवेगा और साथियो के साथ उसी वन मे आकर ठहरा। मुनि की दृष्टि मदनवेगा पर पड़ी। वह देखते ही उस पर मोहित हो गया। मदनवेगा की भी यही दशा हुई। नट ने दोनों का विवाह कर दिया। अब शिवशर्मा नट मण्डली के साथ रहने लगा।

एक बार नट-मण्डली भ्रमण करती हुई अहिच्छत्रपुर आई। सयोग से शिवशर्मा की भेंट अपने पूर्व गुरु मुनि दमवर से हो गई। उन्होने उसे समझाया और जो अनुचित कृत्य किया है, उसके त्याग का उपदेश दिया। गुरु का उपदेश सुनकर उसे भी अपने कृत्य पर पश्चाताप हुआ। वह प्रायश्चित लेकर पुन मुनि बन गया। घोर तप किया। और वराड देश की वेत्तातट पुरी मे जाकर उसे मोक्ष हो गया।

अतिशय क्षेत्र—भगवान पार्श्वनाथ के सिर पर धरणेद्र द्वारा सर्प-फण लगाने और भगवान को केवल ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात्, लगता है, तहाँ की मिट्टी में ही कुछ अलौकिक अतिशय आ गया। यहाँ पर पश्चाद्वर्ती काल मे अनेकों ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाये घटित होने का वर्णन जैन साहित्य मे अथवा अनुश्रुतियो मे उपलब्ध होता है। इन घटनाओ मे आचार्य पात्रकेशरी की घटना तो सचमुच ही विस्मयकारी है। आचार्य पात्रकेशरी का समय छठवीं, सातवी शताब्दी माना जाता है। (स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तार और स्व० प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के मतानुसार आचार्य पात्रकेशरी का आनुमानिक समय छठी शताब्दी का अन्तिम अथवा सातवी शताब्दी का प्रारंभिक काल है।) वे इसी पावन नगरी के निवासी थे। उस समय नगर के शासक अवनिपाल थे। उनके दरबार मे पाच सौ ब्राह्मण विद्वान थे, जो प्रायः तात्विक गोष्ठी किया करते थे। पात्रकेशरी इनमे सर्वप्रमुख थे। एक दिन यहां के पार्श्वनाथ मन्दिर मे ये विद्वान गोष्ठी के निमित्त गये। वहा एक मुनि-जिनका नाम चारित्रभूषण था—आचार्य

१. पासनाह चरिउ

समन्तभद्र विरचित देवागम स्तोत्र का पाठ कर रहे थे। पात्रकेशरी ध्यानपूर्वक उसे सुन रहे थे। उनके मन की अनेक शंकाओं का समाधान स्वत: होता गया। उन्होंने पाठ समाप्त होने पर मुनिराज से स्तोत्र दुबारा पढने का अनुरोध किया। मुनिराज ने दुबारा स्तोत्र पढा। पात्र-केशरी उसे सुनकर अपने घर चले गये और गहराई मे तत्व-चिन्तन करने लगे। उन्हे अन्य दर्शनो की अपेक्षा जैनदर्शन सत्य लगा। किन्तु अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध मे उन्हे अपनी शका का समाधान नही मिल पा रहा था। इससे उनके चित्त मे कुछ उद्विग्नता थी।

तभी पद्मावती देवी प्रगट हुई और बोली—"विप्र-वर्य ! तुम्हे अपनी शका का उत्तर कल प्रात: पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा द्वारा प्राप्त हो जायेगा।" दूसरे दिन पात्रकेशरी पार्श्वनाथ मन्दिर मे पहुचे। जब उन्होने प्रभु की मूर्ति की ओर देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा। पार्श्वनाथ प्रतिमा के फण पर निम्नलिखित कारिका लिखी हुई थी—

अन्यथानुपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥

इस कारिका को पढते ही उनकी शका का समाधान हो गया। उन्होने जैन धर्म को सत्य धर्म स्वीकार करके अङ्गीकार कर लिया। तत्पश्चात् वे जैन मुनि बन गये। अपनी प्रकाण्ड प्रतिभा के कारण जैन दार्शनिक परम्परा के प्रमुख आचार्यो मे उनकी गणना की जाती है।

—आराधना कथाकोश कथा-१

पात्रकेशरी के पश्चाद्वर्ती सभी दार्शनिक जैन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों मे और जैन राजाओ ने शिलालेखो मे इस घटना का बड़े आदर पूर्वक उल्लेख किया है। वादिराज सूरि ने 'न्यायविनिश्चयालंकार' नामक अपने भाष्य मे उक्त कारिका के सम्बन्ध मे लिखा है—उक्त श्लोक पद्मा-वती देवी ने तीर्थङ्कर सीमन्धर स्वामी के समवशरण में जाकर गणधरदेव के प्रसाद से प्राप्त किया था।

श्रवण बेलगोला 'मल्लिषेण प्रशस्ति' नामक शिलालेख में (नं० ५४/६७) जो शक सं० १०५० का है, लिखा है—

महिमा सपात्र केसरि गुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्। पद्मावती सहाया त्रिलक्षण-कदर्थनं कर्तुम् ॥

—उन पात्र केशरी गुरु का बड़ा माहात्म्य है जिनकी भक्ति के वश होकर पद्मावती देवी ने 'त्रिलक्षण कदर्थन' की रचना मे उनकी सहायता की।

यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त कारिका के आधार पर ही आचार्य पात्रकेशरी ने 'त्रिलक्षण कदर्थन' नामक महत्व-पूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की थी।

—इसी प्रकार की एक दूसरी चमत्कार पूर्ण घटना का उल्लेख 'आराधना सार कथाकोष' (कथा ९० में उपलब्ध होता है।

उस समय इस नगर का शासक वसुपाल था। उसकी रानी का नाम वसुमति था। राजा ने एक बार अहिच्छत्र नगर मे बड़ा मनोज्ञ सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण कराया और उसमे पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा विराज-मान कराई। राजा की आज्ञा से एक लेपकार मूर्ति के ऊपर लेप लगाने को नियुक्त हुआ। लेपकार माम भक्षी था। वह दिन मे लेप लगाता था किन्तु रात मे लेप गिर पड़ता था। इस प्रकार कई दिन बीत गये। लेपकार के ऊपर राजा अत्यत क्रुद्ध हुआ और उसने लेपकार को मार-पीट कर भगा दिया। एक दिन अन्य लेपकार आया उसके मन मे स्वत: भावना हुई और उसने किन्ही मुनि के निकट जाकर कुछ नियम लिए, पूजा रचाई। दूसरे दिन से उसने जो लेप लगाया, वह फिर मानो वज्रलेप बन गया।[1]

—यहाँ क्षेत्र पर एक प्राचीन शिखरबन्द मन्दिर है। उसमे एक वेदी तिरवाल वाले बाबा की है। इस वेदी में भगवान पार्श्वनाथ की हरित पन्ना की एक मूर्ति है तथा भगवान के चरण विराजमान है। इस तिरवाल के सम्बन्ध मे बहुत प्राचीन काल से एक किम्बदन्ती प्रचलित है। यह कहा जाता है कि जब इस मन्दिर का निर्माण हो रहा था, उन दिनों एक रात को लोगों को ऐसा लगा कि मन्दिर के भीतर चिनाई का कोई काम हो रहा है। ईंटो के काटने छांटने की आवाज स्पष्ट सुनाई दे रही थी। लोगों के मन मे दु:शंकायें होने लगी और उन्होंने उसी समय मन्दिर खोलकर देखा तो वहाँ कुछ नहीं था।

१. मुनि श्री चन्द्रकृत कहकोषु संधि ६ कडवक भ, पृ. ६६

अलबत्ता एक आश्चर्य उनकी दृष्टि से छिपा नहीं रह सका। वहाँ एक नई दीवाल बन चुकी है, जो सन्ध्या तक नही थी और उसमें एक तिरवाल बना हुआ है। अवश्य ही किन्ही अदृश्य हाथों द्वारा यह रचना हुई थी। तभी से लोगों ने इस वेदी के भगवान का नाम 'तिरवाल वाले बाबा' रख दिया। कहते है, जिनके अदृश्य हाथो ने मिनटों में एक दीवार खडी करके भगवान के लिए तिरवाल बना दिया, वे ही अपने आराध्य प्रभु के भक्तों की प्रभु के दरबार में हाजिर होने पर मनोकामना भी पूरी करते है।

जिस क्षेत्र पर दैवी चमत्कार होते हैं, वहाँ कब, क्या, किसे, कितने चमत्कारों के दर्शन हुए, इस सब का कोई लेखा जोखा नहीं होता। यहाँ के कुएँ में भी बड़ा चमत्कार है। इसके जल से अनेकों रोग शान्त हो जाते हैं। प्राचीन काल में आसपास के राजा और नवाब इस कुएँ का जल मगाकर काम मे लाते थे।

आचार्य जिन प्रभ सूरि ने 'विविध तीर्थ कल्प' के अहिच्छत्र कल्प मे लिखा है—संख्यावती नगरी मे भगवान पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग धारण करके खड़े हुए थे। पूर्व निबद्ध वैर के कारण कमठासुर ने उन्हें नाना प्रकार के उपसर्ग किये। भगवान द्वारा विगत जन्म मे किये हुए उपकार का स्मरण करके नागराज धरणेन्द्र अपनी अग्रमहिषी के साथ वहाँ आया और सहस्र फणमण्डल भगवान के ऊपर उठा लिया। तबसे इस नगरी का नाम 'अहिच्छत्र' पड़ गया। (मम्रो पर तीसे नयरीए अहिच्छत्त ति नामं सजायं।) वहाँ बने हुए प्राकार मे वह उरग रूपी धरणेन्द्र कुटिल गति से जहाँ से गया, तहाँ ईटों की रचना करता गया। कहीं कहीं अब भी यहाँ प्राकार मे ईटों की वह रचना दिखाई पड़ती है। सघ ने वहाँ पार्श्वनाथ स्वामी का एक विशाल मन्दिर बनवाया।

वहाँ की उत्तरानिघाना वावड़ी के जल मे स्नान करने से कुष्ठरोग शांत हो जाता है। इसी प्रकार वहाँ के कुए का जल भी बहुत आरोग्यप्रद बताया है। और वहाँ के उपवन मे अनेको बहुमूल्य औषधियाँ उत्पन्न होती है—जैसे जवंती, नागदमनी, सहदेवी, अपराजिता, सकली, स्वर्णशिला, मूशली, सोमली, रविभक्ता, निर्विषी, मोर शिखा, विशल्या आदि।

पुरातत्व एवं इतिहास—यह नगरी भारत की प्राचीनतम नगरियो मे से एक है। भगवान ऋषभ देव ने जिन ५२ जनपदो की रचना की थी, उसमे एक पाचाल भी था। परवर्ती काल मे पाचाल जनपद दो भागों में विभक्त हो गया—उत्तर पाचाल और दक्षिण पांचाल। पहले सम्पूर्ण पंचाल की ही राजधानी अहिच्छत्र थी। किन्तु विभाजन हो जाने पर उत्तर पचाल की राजधानी अहिच्छत्र रही और दक्षिण पचाल की कम्पिला। जैन साहित्य के इन दो भागो का प्रायः उल्लेख मिलता है। महाभारत काल मे अहिच्छत्र के शासक द्रोण थे और कम्पिला के शासक द्रुपद थे। कही कही इस नगरी का नाम सख्यावती और अहिच्छत्रा भी मिलता है। कौशाम्बी के निकट पवोभोसा क्षेत्र की गुफा मे स्थित एक शिलालेख में इसका नाम अधिचक्रा भी मिला है। वैदिक साहित्य मे इन नामो के अतिरिक्त परिचक्रा, छत्रवती, और अहिक्षेत्र भी मिलते है।

सभवत: विभिन्न कालो में ये विभिन्न नाम प्रचलित रहे। किन्तु दूसरी से लगभग छठवी शताब्दी तक अहिच्छत्रा नाम अधिक प्रचलित रहा। यहाँ की खुदाई मे दूसरी शताब्दी की एक यक्ष प्रतिमा मिली थी तथा गुप्त कालीन मिट्टी की मोहर मिली थी, उन दोनो पर ही अहिच्छत्रा नाम मिलता है।

'अहिच्छत्रा' नगर का यह नाम सर्प द्वारा छत्र लगाने के कारण पड़ा था, इसमे जैन, वैदिक और बौद्ध तीनो ही धर्म सहमत है। किन्तु इन धर्मों ने इस सम्वन्ध मे जो कथानक दिये है, उनमे जैन कथानक अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है। इसके अनेक कारण है। भगवान पार्श्वनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनका प्रभाव तत्कालीन सम्पूर्ण भारत मे विशेषतः उत्तर और पूर्व भारत मे अत्यधिक था। वैदिक साहित्य भी उनके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। उनके प्रभाव के कारण वैदिक ऋषियों की चिन्तन धारा बदल गई और उनके चिन्तन की दिशा हिंसामूलक यज्ञो और क्रिया काण्डो से हटकर अध्यात्मवादी उपनिषदों की रचना की ओर मुड़ गई।

भगवान पार्श्वनाश सम्बन्धी उपर्युक्त घटना की गूज उस काल में ही दक्षिण भारत तक पहुची। इस बात का समर्थन कल्लुर गुड्डु (जिला सीमोगा, मैसूर प्रान्त—सन् ११२९) में उपलब्ध उस शिलालेख से भी होता है, जिसमे गंग वंशावली दी गई है। उसमें उल्लेख है कि जब भगवान पार्श्वनाथ को अहिच्छत्र मे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उस समय यहाँ प्रियबन्धु राजा राज्य करता था। वह राजा भगवान पार्श्वनाथ के दर्शन करने अहिच्छत्र गया।१

१. हरिवंश केतु नेमीश्वर तीर्थ वर्तिसुत्तमिरे गङ्गकुलां।
वर भानु पुट्टिदं भा-। सुरतेजं विष्णुगुप्त नेम्ब नृपालम्॥
आ—धराधिनाथं साम्राज्यपदवियं कैकोण्ड हिच्छत्र-पुरदोलु
सुखमिद्र्दु नेमितीर्थङ्कर परमदेव—निर्वाणकालदोल्
ऐन्द्रध्वजवेम्ब पूजेयं माडे देवेन्द्रनोसेदु
अनुपमदैरावतमं। मनोनुरागदोले विष्णुगुप्तङ्गित्तम्।
जिन-पूजेयिन्दे मुक्तिम्। ननर्ध्यमं पडॆगु मेन्दोडुलिदुदु पिरिदे॥
... ...

ब—अन्ता-प्रियबन्धु सुख-राज्यं गेय्युत्तमिरे तत्समयादोलु पार्श्व भट्टारकग्गे केवलज्ञानोत्पत्ति यागे सौधर्मेन्द्रं नन्दु केवलिपूजयं माडे प्रियबन्धु तानु भक्तिमि बन्दु पूजेयं माडलातन भक्तिनिन्द्रं मेच्चि दिव्य वप्पदु-तोडगेगल कोट्टु निम्मन्वय दोलु मिथ्यादृष्टि गळागलोड अदृश्य-ङ्गलक्कुमेन्दु पेळ्दु विजयपरक्कहिच्छत्रमेम्ब पेसरनिहु दिविजेन्द्रं पोपुदु मित्तलु गङ्गन्वयं सम्पूर्ण-चन्द्रनन्ते पेच्चिमे वर्त्तिसुत्तमिरे तदन्वयदोलु कम्प-महीपतिगे पद्मनाभनेम्न मगं पुट्टि।

—कल्लुरगुड्ड (शिमोगा परगना) में सिद्धेश्वर मन्दिर की पूर्भ दिशा में पड़े हुए पाषाण पर लेख—

(शक १०४३—११२१ ई०)

—जैन शिलालेख संग्रहः भागः द्वितीयः।

माणिकचन्द दिगम्बर जैनग्रन्थमाला समिति पृ. ४०८-९

अर्थ—जब नेमीश्वर का तीर्थ चल रहा था, उस समय राजा विष्णुगुप्त का जन्म हुआ। वह राजा अहिच्छत्र पुर राज्य कर रहा था। उसी समय नेमि तीर्थङ्कर का निर्वाण हुआ। उसने ऐन्द्रध्वज पूजा की। देवेन्द्र ने उसे ऐरावत हाथी दिया।

पार्श्वनाथ सम्बन्धी घटना का एक सांस्कृतिक महत्व भी है। इस घटना ने जैन कला को विशेषतः जैन मूर्ति कला को बडा प्रभावित किया। पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं का निर्माण इस घटना के कारण ही कुछ भिन्न शैली में होने लगा। चौबीस तीर्थङ्करों की प्रतिमायें अपने आसन, मुद्रा, ध्यान आदि दृष्टि से सभी एक समान होती है। उनकी पहचान और अन्तर उनके आसन पर अंकित किये गये चिन्ह द्वारा ही किया जा सकता है। किन्तु केवल पार्श्वनाथ की प्रतिमायें अन्य तीर्थङ्कर-प्रतिमाओं से एक बात मे निराली है। अरहन्त दशा की प्रतिमा होते हुए भी उनके सिर पर सर्प-फण रहता है, जो हमें सदा ही कमठ द्वारा घोर उपसर्ग करने पर नागेन्द्र द्वारा पार्श्वनाथ के ऊपर सर्प-फण के छत्र तानने का स्मरण दिलाता है। इतना ही नही, अनेको पार्श्व प्रतिमाये इस घटना के स्मारक रूप मे धरणेन्द्र-पद्मावति के साथ निर्मित होने लगी और इसीलिये जैन साहित्य में इस इन्द्र-दम्पति की ख्याति पार्श्वनाथ के भक्त यक्ष-यक्षिणी के रूप मे विशेष उल्लेख योग्य हो गई।

यह घटना अपने रूप में असाधारण थी। अवश्य ही इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी व्यक्ति भी वहाँ रहे होंगे। उनके मुख से जब सत्य घटना जन-जन के कानों मे पहुंची होगी, तब उन सबका हृदय निष्काम वीतराग भगवान पार्श्वनाथ के चरणो में श्रद्धा प्लावित हो उठा होगा और उनके दर्शनो के लिये वहाँ असंख्य जन-वाहिनी एकत्रित हुई होगी। और फिर कैसा अलौकिक संयोग कि तभी भगवान का केवल ज्ञान महोत्सव हुआ। उसे सुनकर प्रथम उपदेश को ही सुनकर वे भगवान के उपासक बन गये और जब

............उनके वंश में प्रियबन्धु हुआ। जिस समय वह शान्ति से राज्य कर रहा था, उस समय पार्श्व भट्टारक को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इसी अवसर पर स्वय प्रियबन्धु ने आकर केवलज्ञान की पूजा की। उसकी श्रद्धा से प्रसन्न होकर इन्द्र ने पाँच आभरण उसे दिये। और कहा—अगर तुम्हारे वंश में कोई मिथ्या मत का मानने वाला उत्पन्न होगा तो ये आभरण लुप्त हो जायेंगे। यों कह कर और अहिच्छत्र का विजयपुर नाम रखकर इन्द्र चला गया।

भगवान का वहाँ से विहार हो गया, तब सबने मिलकर प्रभु की स्मृति सुरक्षित रखने के लिये वहाँ एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया।

यहाँ क्षेत्र से दो मील दूर एक प्राचीन किला है, जिसे महाभारत कालीन कहा जाता है। इस किले के निकट ही कटारीखेडा नामक टीले से एक प्राचीन स्तम्भ मिला है। उस स्तम्भ पर एक लेख है। इसमे महाचार्य इन्द्रनन्दि के शिष्य महादरि के द्वारा पार्श्वपति (पार्श्वनाथ) के मन्दिर में दान देने का उल्लेख है। यह लेख पार्श्वनाथ-मन्दिर के निकट ही मिला है। इस टीले और किले से कई जैन मूर्तियाँ मिली है और कई मूर्तियो को ग्रामीण लोग ग्राम देवता मानकर अब भी पूजते हे। संभव है, वर्तमान मे जो पार्श्वनाथ-मन्दिर है, यह नवीन मन्दिर हो और जिस स्थान पर किले और टीले से प्राचीन जैन मूर्तियाँ निकली हैं, वहां प्राचीन मंदिर रहा हो। यदि यहाँ के टीलो और खण्डहरों की जो मीलो में फैले हुए है खुदाई की जाये, तो गहराई में पार्श्वनाथ कालीन जैन मन्दिर के चिन्ह और मूर्तियाँ मिल जाँय।

यह मन्दिर गुप्त काल तक तो अवश्य था। शिला लेखो आदि से इसकी पुष्टि होती है। गुप्त काल के पश्चाद्वर्ती इतिहास मे इसके सम्बन्ध मे कोई सूत्र उपलब्ध नही होता। किन्तु यह तो असदिग्ध सत्य है कि परवर्ती काल में भी शताब्दियों तक यह स्थान जैन धर्म का एक विशाल केन्द्र रहा। इस काल मे यहाँ पाषाण की अनेको जैन प्रतिमाओ का निर्माण हुआ। ऐसी अनेको प्रतिमाये, स्तूपो के अवशेष, मिट्टी की मूर्तियों और कला की अन्य वस्तुऐं प्राप्त हुई है। यहाँ यह उल्लेख योग्य है कि ये सभी प्रतिमाये दिगम्बर परम्परा की है। यहाँ श्वेताम्बर परम्परा की एक भी प्रतिमा न मिलने का कारण यही प्रतीत होता है कि यहां पार्श्वनाथ-काल मे दिगम्बर परम्परा की ही मान्यता प्रभाव और प्रचलन रहा है।

प्राचीन अहिच्छत्र एक विशाल नगरी थी उसके भग्नावशेष आज रामनगर के चारो ओर फर्लांगो मे बिखरे पड़े हैं। चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग के अनुसार इस नगर का विस्तार उस समय तीन मील मे था। तथा यहाँ अनेकों स्तूप भी बने हुए थे।

एक राज्य के रूप में इसका अस्तित्व गुप्त-शासन काल मैं समाप्त हो गया। उससे पूर्व एक राज्य की राजधानी के रूप में इसकी ख्याति रही। यहाँ अनेक मित्रवशीय राजाओ के सिक्के मिले है। इनमे कई राजा जैनधर्मानुयायी थे।

किला—यहाँ मीलो मे प्राचीन खण्डहर बिखरे पड़े है। यहां दो टीले विशेष उल्लेखनीय है। एक टीले का नाम ऐंचुली-उत्तरिणी है और दूसरा टीला ऐंचुभा कहलाता है। ऐंचुभा टीले पर एक विशाल और ऊंची कुर्मी पर भूरे बलुई पाषाण का सात फुट ऊँचा एक पाषाण स्तम्भ है। नीचे का भाग पौने तीन फुट तक चौकोर है। फिर पौने तीन फुट छह पहलू है। इसके ऊपर का भाग गोल है। कहते है, इसके ऊपर के दो भाग गिर गये है। इसका ऊपर का भाग देखने से ऐसा लगता है कि यह अवश्य ही टूट कर गिरा होगा। अधिक सभावना ऐसी लगती है कि यह तोड़ा गया हो। ऊपर का भग्न भाग नीचे पडा हुआ है। इसकी आकृति तथा उस टीले की स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि यह मानस्तम्भ रहा होगा। जन साधारण मे वहाँ ऐसी भी किम्वदन्ती सुनाई दी कि यहाँ प्राचीन काल में कोई सहस्रकूट चैत्यालय था। इस किम्वदन्ती में हमे निश्चय ही कुछ तथ्य दिखाई पड़ता है। यहाँ से अनेक जैन मूर्तियां खुदाई मे उपलब्ध हुई है। सभवतः यहां प्राचीन काल मे अनेक जिन मंदिर और स्तूप रहे होंगे।

कुछ लोग अज्ञानतावश इस पाषाण-स्तम्भ को 'भीम की गदा' कहते है। इस प्रकार के अति प्राचीन पाषाण स्तम्भो के साथ भीम का सम्बन्ध जोड़ने की एक परम्परा सी पड गई है। देवरिया जिले के ककुभ ग्राम (वर्तमान कहाऊँ गांव) में गुप्त काल का एक मान स्तम्भ पाषाण निर्मित है। उसके अधोभाग मे भगवान पार्श्वनाथ की कायोत्सर्गासन प्रतिमा है और शीर्षभाग पर चार तीर्थंकर प्रतिमायें विराजमान है। मध्य भाग मे ब्राह्मी लिपि मे एक शिलालेख है, जिसमे इस मानस्तम्भ की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। इतना होने पर भी लोग इसे 'भीम की लाट' कहते है।

इसी प्रकार ऐंचुआ टीले के इस पाषाण-स्तम्भ को कुछ लोग 'भीम की गदा' कहते सुने जाते है। इससे

सम्बन्धित एक कहानी भी ग्रामीण जनता में प्रचलित है कि अपने अज्ञातवास में पाण्डवों ने इस नगर के एक ब्राह्मण के घर वास किया था। उस समय भीम ने अपनी यह गदा यहां स्थापित कर दी थी। अस्तु।

यहाँ एक जैनमूर्ति का सिर भी मिला था जो क्षेत्र के फाटक के बाहर विद्यमान है। पहले इस टीले के नीचे शिव गंगा नदी बहती थी। अब तो उसकी रेखा मात्र अवशिष्ट है।

यह परकोटा तीन मील के घेरे में था। कहा जाता है कि अपने वैभव-काल में अहिच्छत्र नगर ४८ मील की परिधि मे था। आज के आंवला, वजीरगंज, रहटुइया जहाँ अनेकों प्राचीन मूर्तियाँ और सिक्के प्राप्त हुए है पहले इसी नगर मे सम्मिलित थे। इस नगर का मुख्य दरवाजा पश्चिम मे वर्तमान सपनी बताया जाता है।

यहाँ के भग्नावशेषों मे १८ इंच तक की ईंटे मिलती है।

क्षेत्र-दर्शन—सडक से कुछ फुट की ऊँची चौकी पर क्षेत्र का मुख्य द्वार है। फाटक के बाईं ओर बाहर उस भग्न मूर्ति के सिर के दर्शन होते हैं जो किले से लाकर यहाँ दीवार मे एक आले में रख दिया गया है। फाटक में प्रवेश करने पर चारों ओर विशाल धर्मशाला है। बीच मे एक पक्का कुआ है।

बाईं ओर मन्दिर का द्वार है। द्वार मे प्रवेश करते ही क्षेत्र का कार्यालय मिलता है। फिर खूब लंबा चौड़ा सहन है। सामने बाईं ओर एक छोटे से गर्भगृह मे वेदी है, जिसमें 'तिखाल वाले बाबा' (भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा) विराजमान है। पार्श्वनाथ की यह सातिशय प्रतिमा हरितपन्ना की पद्मासन मुद्रा मे विराजमान है। इसकी अवगाहना ९॥ इंच है। प्रतिमा अत्यन्त सौम्य और प्रभावक है। इसके दर्शन करते ही मन मे भक्ति की तरंगें स्वतः प्रस्फुरित होने लगती हैं। अनेक भक्त जन अपनी मनोकामनायें लेकर यहा आते है और अपने विश्वास के अनुरूप सफल मनोरथ होकर लौटते है। इस प्रतिमा के पाद पीठ पर कोई लेख नही है। सर्प का लांछन अवश्य अंकित है और सिर पर फण-मण्डल है। वेदी के नीचे सामने वाले भाग में सिंह आमने-सामने मुख किये हुए बैठे है।

प्रतिमा के आगे चरण विराजमान है। चरणों का आकार १ फुट×५॥ इंच है। चरणों पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है—

'श्री मूलसङ्घे नन्द्याम्नाये बलात्कार गणे कुन्द कुदाचार्यन्वय दिगम्बराम्नाये अहिच्छत्रनगरे श्री पार्श्वजिन चरणा. प्रतिष्ठापिता.। श्रीरस्तु।

प्रतिमा का निर्माण-काल १०११ वी शताब्दी अनुमान किया जाता है।

इस वेदी के ऊपर लघु शिखर है।

इस वेदी से आगे दाईं ओर दूसरे कमरे मे वेदी में मूलनायक पार्श्वनाथ की श्याम वर्ण पद्मासन १ फुट १० इंच अवगाहना की अत्यन्त मनोहर प्रतिमा है। प्रतिमा के सिर पर सप्त फणावलि का मण्डल है। भामण्डल के स्थान पर कमल की सात लम्बायमान पत्तियाँ और उनके ऊपर निकली हुई बाईं ओर को झुकी पुष्प कलिका है। पत्तियों और कली का अंकन जितना कला पूर्ण है, उतना ही अलंकरणमय है। इससे मूर्ति की सज्जागत विशेषता मे अभिवृद्धि ही हुई। अलंकरण का यह रूप अद्भुत और अदृष्टपूर्व है।

मूर्ति के नीचे सिंहासन पीठ के सामने वाले भाग मे २४ तीर्थंकर कर प्रतिमायें उत्कीर्ण है।

इस प्रतिमा के बाईं ओर श्वेत पाषाण की १० इंच ऊँची पद्मासन पार्श्वनाथ प्रतिमा है।

इससे आगे दाईं ओर एक गर्भगृह मे दो वेदियाँ है। जिनमे आधुनिक प्रतिमायें विराजमान है। उनमे विशेष उल्लेख योग्य कोई प्रतिमा नही है।

अन्तिम पाँचवी वेदी मे तीन प्रतिमायें विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लगभग २० वर्ष पहले बूंदी (राजस्थान) मे भूगर्भ से कुछ प्रतिमायें प्राप्त हुई थी। उनमे से तीन प्रतिमायें लाकर यहाँ विराजमान कर दी गई थीं। इनमे तीनों का रंग हल्का कत्थई है और तीनों शिलपट्ट पर उत्कीर्ण है। बायें से दाईं ओर को प्रथम शिलाफलक का आकार ३॥ फुट है। बीच मे फणालंकृत पार्श्वनाथ तीर्थ-

कर की खड्गासन प्रतिमा है। इसके परिकर में नीचे एक यक्ष और दो यक्षी है जो चवंरवाहक है। उनके ऊपर कायोत्सर्ग मुद्रा मे १० इंच आकार की एक तीर्थंकर प्रतिमा है। तथा उसके ऊपर ७ इंच अवगाहना की एक पद्मासन प्रतिमा अंकित है। इसी प्रकार दाई ओर भी दो प्रतिमायें हैं। यह शिलाफलक पंच बालयति का कहलाता है। पाषाण बलुआई है लेख या लांछन नहीं है।

मध्य में हल्के कत्थई रंग की पद्मासन पार्श्वनाथ प्रतिमा है ऊपर सर्पफण है। अवगाहना २½ फुट है। सिंहासन में सामने दो सिंह जिह्वा निकाले हुए बैठे है। जो कर्म शत्रुओं के भयानक रूप के प्रतीक है। किन्तु चरण तले बैठने का अभिप्राय है कि तीर्थङ्कर ने अपने भयानक कर्म शत्रुओं को चरणों के नीचे दबा कर कुचल दिया है।

यक्षी पद्मावती एक बच्चे को छाती से चिपटाए हुए है, जो उस देवी के अपार वात्सल्य का सूचक है। भगवान के सिरो पार्श्व में दोनों ओर गज उत्कीर्ण है, जो गज लक्ष्मी के प्रतीक है। उनसे कुछ ऊपर इन्द्र हाथों मे स्वर्ण कलश लिए क्षीरसागर के पावन जल से भगवान का अभिषेक करते प्रतीत होते है। फण के ऊपर त्रिछत्र है। उसके दोनों ओर शीर्ष कोने पर देव कुलिकायें बनी हुई है। अलंकरण साधारण ही है किन्तु इसमें कला की जो अभिव्यंजना हुई है, वह दर्शक को वरवस अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

अन्तिम प्रतिमा खड्गासन है। अवगाहना ३॥ फुट है। अधोभाग में दोनों ओर इन्द्र और इन्द्राणी चमर लिए हुए है। मध्य मे यक्ष-यक्षी विनत मुद्रा में बैठे है। मूर्ति के सिरे के दोनों ओर विमानचारी देव। एक विमान में देव और देवी है। दूसरे में एक देव है। छत्र के एक ओर हाथी का अंकन है। भामण्डल और छत्रत्रयी है।

इन तीनों प्रतिमाओं का निर्माण उस युग में किया गया लगता है, जब प्रतिमाओं में अलंकरण और सज्जा का विकास प्रारम्भिक दशा में था। यह भी उल्लेख योग्य है कि इन प्रतिमाओं पर श्रीवत्स लांछन भी लघु आकार में है। पाद पीठ पर लेख या लांछन भी नहीं है। इस प्रकार की शैली गुप्त काल से निकट गुप्तोत्तर काल में प्राप्त होती है। अर्थात् चौथी-पांचवीं शताब्दी से आठवीं-नौमी शताब्दी तक मूर्ति-कला की शैली उपर्युक्त प्रकार की रही है। इस आधार पर इन मूर्तियों का अनुमानित निर्माण काल यही माना जा सकता है।

धर्मशाला के मुख्य द्वार के सामने का मैदान में भी सड़क के दूसरी ओर मन्दिर का है। इस सड़क पर कुछ आगे चलने पर वह विशाल पक्का कुआं या वापिका है, जिसके जल की ख्याति पूर्व काल में दूर दूर तक थी और जिसकी प्रशंसा आचार्य जिनप्रभ सूरि ने भी—'विविध तीर्थ कल्प' में चौदहवी शताब्दी में की थी।

मन्दिर के निकट ही रामनगर गाँव है। गाँव में भी एक शिखरबन्द मन्दिर है। इस मन्दिर में फणफण्डित भगवान पार्श्वनाथ की श्याम वर्ण पद्मासन प्रतिमा है। इसकी अवगाहना ४ फुट है। प्रतिमा अत्यन्त मनोज्ञ है। फणावलि मे 'अन्यथानुपपन्नत्वं' श्लोक भी लिखा हुआ है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा वीर सं० २४८१ वैशाख शुक्ला ७ गुरुवार को श्री महावीर में हुई थी।

मूलनायक के अतिरिक्त २ पाषाण की और २ धातु की प्रतिमायें है।

पहले इस मन्दिर के स्थान पर पद्मावती पुरवाल पंचायत की ओर ला० हीरालाल जी सर्राफ एटा तथा पं० चंपालाल जी पेंठत निवासी का बनवाया हुआ मन्दिर था। फिर उसके स्थान पर समस्त दिबम्बर समाज की ओर से यह मन्दिर बनाया गया।

मन्दिर के बाहर उत्तर की ओर आचार्य पात्रकेशरी के चरण बने हुए है। चरणों की लम्बाई ११" है।

ऐसा विश्वास है कि आचार्य पात्रकेशरी इसी स्थान पर बने हुए मन्दिर में में देवी पद्मावती द्वारा प्रतिबोध पाकर जैनधर्म में दीक्षित हुए थे।

वार्षिक मेला—क्षेत्र का वार्षिक मेला चैत्र कृष्णा अष्टमी से चैत्र कृष्णा त्रयोदशी तक होता है।

—: ० :—

साहित्य-समीक्षा

१. तीर्थंकर वर्धमान—ले. मुनि श्री विद्यानन्द जी, प्रकाशक—श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति ४८, शीतला माता बाजार, इन्दौर-२ (म. प्र., मूल्य तीन रु० ।

प्रस्तुत पुस्तक विद्वान् व कुशल वक्ता श्री मुनि विद्यानन्द जी के द्वारा गम्भीर अध्ययन व अनुसन्धानपूर्वक लिखी गई है। पुस्तक मे भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित जिस महत्त्वपूर्ण सामग्री को उपस्थित किया गया है वह मननीय है, उससे कुछ नवीन तथ्य भी प्रकाश में आये है। वैदिक साहित्य—जैसे पद्मपुराण, भागवत व महाभारत आदि—में जो तीर्थङ्करों के नामोल्लेख पूर्वक उनके चरित्र का चित्रण एवं तपश्चरण आदि का वर्णन किया गया है उसका संकलन भी कुछ प्रस्तुत पुस्तक में हुआ है। उससे जैन धर्म की प्राचीनता का बोध होता है। पटना पुरातत्त्व सग्रहालय से प्राप्त तीर्थङ्कर की प्रतिमा के चित्र से जैन धर्म की ऐतिहासिक प्राचीनता सुनिश्चित है। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार वह प्रतिमा मौर्यकालीन है। इसके अतिरिक्त महावीर कालीन भारत के मानचित्र, जन्मकुण्डली, सौर मास से कालगणना, तीर्थङ्कर महावीर और महात्माबुद्ध के तुलनात्मक अध्ययन मे उपयोगी तालिका तथा अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभगी आदि से सम्बद्ध सुबोध निबन्धों के समावेश से पुस्तक का महत्त्व बढ़ गया है। जीवन्त स्वामी की प्रतिमा का चित्र भी एक नवीन विशेषता का सूचक है। इतनी उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन मे जो प्रूफ संशोधन सम्बन्धी अधिक अशुद्धियां रह गई है वे खटकती है। प्रमाणरूप मे उद्धृत किये गये श्लोक एवं गाथाएं आदि प्राय. सब अशुद्ध है। पुस्तक की छपाई आदि और सब उत्तम है। पूज्य मुनि विद्यानन्द जी की यह कृति स्तुत्य है। वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति ने उसे प्रकाशित करके सराहनीय कार्य किया है।

२. नारी आलोक की नौ किरणे—लेखक मिश्रीलाल जैन एडवोकेट गुना, प्रकाशक उपर्युक्त, मूल्य ३ रु० ।

प्रस्तुत पुस्तक में मुण्डिका, सीता, राजुल, चेलना, प्रभावती, अनन्तमती, काललदेवी, नीली और मनोवती इन नौ महिलाओं के जीवन सम्बन्धी किसी विशिष्ट प्रसंग को लेकर रोचक कथामें लिखी गई है। वीर चामुण्डराय की माता काललदेवी को छोड़कर शेष सभी महिलायें पौराणिक है। यद्यपि उन कथाओं का सम्बन्ध पुराणों से है, फिर भी लेखक ने उन्हें कुछ नया रूप दिया है, इससे वे सभी कथाये रोचक बन गई है। बीच बीच मे कुछ चित्र भी दे दिये गये है। सज्जा व छपाई भी ठीक हुई है। इन कथाओ के लेखक व प्रकाशक धन्यवादार्ह है।

३. भारतीय संस्कृति और श्रमण परम्परा—लेखक डा. हरीन्द्रभूषण जैन, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन, प्रकाशक वीर निर्वाण भारती मेरठ, मूल्य ७५ पैसे।

इस छोटी सी पुस्तिका मे लेखक ने श्रमण की निरुक्ति को प्रगट करते हुए बतलाया है—'श्रममानयति पञ्चेन्द्रियाणि मनश्चेति श्रमण., श्राम्यति ससारविषयेषु खिन्नो भवति तपस्यति वा स श्रमणः' अर्थात् जो इन्द्रियों व मन को श्रान्त करता है, अथवा संसार के विषयो में खेद को प्राप्त होता है, अथवा तपश्चरण करता है, उसे श्रमण कहा जाता है। प्राकृत 'समण' शब्द का वह संस्कृत रूप है। समण का रूप जैसे 'श्रमण' होता है वैसे ही उसका संस्कृत में शमन और समन भी होता है। शमन का अर्थ है कषायो को शान्त करने वाला और समन का अर्थ है समस्त प्राणियो मे समता भाव को रखने वाला। ये सब साधु की ही विशेषतायें है। निरुक्ति के पश्चात् यहाँ प्राकृत आदि १० भाषाओं में श्रमण के रूपों के संग्रह के साथ वैदिक व प्राकृत आदि के आश्रय से उसके पर्यायवाची शब्दों का भी संकलन किया गया है। स्थानांग में श्रमण को सर्प और पर्वत आदि की उपमा दी गई है उनका विश्लेषण करते हुए श्रमण के भेद व परम्परा आदि का अच्छा विवेचन किया गया है। इस प्रकार विद्वान् लेखक ने श्रमण के सम्बन्ध मे सप्रमाण सुन्दर विचार किया है। पुस्तक पठनीय व संग्राह्य है। इस कृति

के लेखक व प्रकाशक धन्यवाद के पात्र है।

४. **तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर**—लेखक डा. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, प्रकाशक पूर्वोक्त, मूल्य १ रु. ५० पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक में सर्वप्रथम वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ से रामधारी सिंह दिनकर विरचित 'वैशाली' शीर्षक कविता उद्धृत की गई है। पश्चात् तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर के नाम, जाति एवं गोत्र आदि की निर्देशक एक उपयोगी तालिका दे दी गई है। आगे महावीर के पंचकल्याण विषयक एक संस्कृत कविता है। पश्चात् महावीर का जो विशेष परिचय आदि दिया गया है वह सब प्रायः पूज्य मुनि विद्यानन्द विरचित 'तीर्थङ्कर वर्धमान के अन्तर्गत है। यहां प्रसिद्ध विद्वान् राहुल साकृत्यायन, डा. राजबली पाण्डेय और डा. योगेन्द्र मिश्र के अभिमतानुसार सठियांव फाजिलनगर—पावा को भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि माना गया है। मुख पृष्ठ पर जो जीवन्त स्वामी की प्रतिमा और दीक्षित महावीर का तिरगा चित्र दिया गया है वह विशेष आकर्षक है। इस प्रकार पूर्वोक्त 'तीर्थङ्कर वर्धमान' से इसमें कुछ विशेषतायें भी है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक और प्रकाशक को साधुवाद है। पुस्तक का मुद्रण और साज-सज्जा भी सराहनीय है।

५. **जैन शासन का ध्वज**—सम्पादक डा. जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल एम. ए., एम. एल. बी, पी-एच. डी., प्रकाशक वीर निर्वाण भारती मेरठ। मूल्य एक रुपया।

समस्त जैन समाज मे अभी तक किसी एक रूप में झण्डे का प्रचलन नही था, वह अनेक रूपो मे देखा जाता था। श्री मुनि विद्यानन्द जी, मुनि कान्तिसागर जी, मुनि सुशीलकुमार जी और मुनि महेन्द्रकुमार जी इन चारों सम्प्रदायों के सन्तो ने परस्पर विचार विनिमय के साथ झण्डे की एकरूपता का निर्धारण किया है। यह झण्डा पाच रंगों की पांच पट्टियों से निर्मित है। सबके मध्य में सफेद, उसके ऊपर पीली और उसके ऊपर लाल तथा नीचे हरी और उसके नीचे नीली पट्टियां है। ये पाच रंग पाच परमेष्ठियों के बोधक है—अरहंत का धवल, सिद्ध का लाल, आचार्य का पीला, उपाध्याय का श्याम और साधु का आकाश के समान नीला रंग माना गया है। इनमे मध्यगत पट्टी पर बीच में स्वस्तिक का चिह्न अकित है। इस स्वस्तिक के ऊपर तीन बिन्दु और उसके ऊपर अर्ध चन्द्र है। चार कोणो वाला वह स्वास्तिक चार गतियो का सूचक है। ऊपर के तीन बिन्दुओं से रत्नत्रय अभिप्रेत है। तथा अर्ध चन्द्र से ईषत्प्राग्भार नामक सिद्धक्षेत्र अभिप्रेत है, जो अर्ध चन्द्र या उत्तान धवल छत्र के समान है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि चतुर्गतिमय संसार मे परिभ्रमण करने वाला मुमुक्षु जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय का आश्रय लेकर उस ससार से मुक्ति पा लेता है। इस प्रकार इस झण्डे का उक्त स्वरूप बहुत विचार-विमर्श के साथ निश्चित किया गया है जो दिगम्बर, मूर्तिपूजक श्वेताम्बर, स्थानकवासी और तेरापथी इन चारों ही जैन सम्प्रदायों के अनुकूल है तथा उन सबमें एकता को स्थापित करने वाला है।

प्रस्तुत पुस्तिका में इसी झण्डे के स्वरूप को दिखलाते हुए उसके फहराने आदि का भी विवेचन किया गया है। प्रसंगवश यहां धर्मचक्र का निर्देश करते हुए अन्यत्र उल्लिखित आदि तीर्थङ्कर ऋषभ देव और भरत चक्रवर्ती के नाम पर प्रसिद्ध भारत की भी चर्चा की गई है। इस प्रकार पुस्तक उपयोगी व पठनीय है। प्रत्येक जैन गृह में उस झण्डे के साथ यह पुस्तक रहना चाहिए। ऐसी उत्तम पुस्तक के लेखक और प्रकाशक का आभार मानना चाहिए।

—बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

विषय-सूची

क्र०	विषय	पृ०

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —व्यवस्थापक

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानो के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी **अनुवाद**, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। -७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित -७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दी की महत्त्व की रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित -२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... -२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य -१६

अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दो अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

5213/5

द्वै मासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त



वर्ष २६

किरण ६

फरवरी १९७४

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

विषय-सूची

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —व्यवस्थापक

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २६ किरण ६ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर-निर्वाण संवत् २४६६, वि० सं० २०३० | फरवरी १६७४

सिद्धस्तुतिः

सूक्ष्मत्वादणुदर्शिनोऽवधिदृशः पश्यन्ति नो यान् परे,
यत्संविन्महिमस्थितं त्रिभुवनं खमस्थं भमेकं यथा ।
सिद्धानामहमप्रमेयमहसां तेषां लघुर्मानसो,
मूढात्मा किमु वच्मि तत्र यदि वा भक्त्या महत्या वशः ॥
निःशेषामरशेखराश्रितमणिश्रेण्यर्चिताङ्घ्रिद्वया,
देवास्तेऽपि जिना यदुन्नतपदप्राप्त्यै यतन्ते तराम् ।
सर्वेषामुपरि प्रवृद्धपरमज्ञानादिभिः क्षायिकैः,
युक्ता न व्यभिचारिभिः प्रतिदिनं सिद्धान् नमामो वयम् ॥

सूक्ष्म होने से जिन सिद्धों को परमाणुदर्शी दूसरे अवधिज्ञानी भी नहीं देख पाते हैं तथा जिनके ज्ञान में स्थित तीनों लोक आकाश में स्थित एक नक्षत्र के समान स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं उन अपरिमित तेज के धारक सिद्धों का वर्णन क्या मुझ जैसा मूर्ख व हीन मनुष्य कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता। फिर भी जो मैं उनका कुछ वर्णन यहां कर रहा हूं वह अतिशय भक्ति के वश होकर ही कर रहा हूँ। जिनके दोनों चरण समस्त देवों के मुकुटों में लगे हुए मणियों की पंक्तियों से पूजित हैं। अर्थात् जिनके चरणों में समस्त देव भी नमस्कार करते है, ऐसे वे तीर्थङ्कर जिनदेव भी जिन सिद्धों के उन्नत पद को प्राप्त करने के लिए अधिक प्रयत्न करते हैं। जो सबों के ऊपर वृद्धिगत होकर अन्य किसी में न पाए जाने वाले ऐसे अतिशय वृद्धिगत केवल ज्ञानादि स्वरूप क्षायिक भावों से संयुक्त हैं, उन सिद्धों को हम नमस्कार करते हैं।

वर्तना की सर्जना : एक अध्ययन

सन्मतकुमार जैन

'वर्तना' जैन सिद्धांत का एक पारिभाषिक शब्द है। कालके दो भेदों[1] में परमार्थकाल का लक्षण वर्तना बतलाया गया हैं।[2] वर्त्यते वर्तनमात्रवा वर्तनेति' या वर्तनशीला वर्तना यह वर्तना का अर्थपरक विभाजन है। √ वृत्ति 'धातु से कर्म या भाव में 'युट्' प्रत्यय करने पर वर्तना शब्द बनता है। ऐसी आचार्य पूज्यपाद की मान्यता है[3] परन्तु परवर्ती आचार्य अकलंक देवके अनुसार युट् प्रत्यय के स्थान पर युच् प्रत्यय करके वर्तना शब्द बनता है।[4] प्रत्यय भेद की तीसरी मान्यता आचार्य विद्यानन्द की है। इन्होने 'वृत्ति' धातु से कर्म में 'युक्' प्रत्यय करने पर तथा तच्छील अर्थ में युच् प्रत्यय करने पर वर्तना की सर्जना मानी है।[5]

एक ही परम्परा के आचार्यों मे प्रत्यय भेद क्यो हुआ ? क्या व्याकरण के ग्रन्थो मे युक्, युच् अथवा युट् तीनों प्रत्यय वर्तना शब्द की सिद्धि कर सकते है ? क्या युक्, युच् अथवा युट् प्रत्यय हस्तलिखित पुस्तक लिखते समय विद्वानों की भूल से परिवर्तित हो गये ? सर्वार्थसिद्धि मे जब आचार्य पूज्यपाद युट् प्रत्यय मान चुके थे तब परवर्ती अकलंक देव और विद्यानन्द ने युट् प्रत्यय क्यों नहीं माना ? क्या आ० पूज्यपाद का प्रयोग गलत था ? इत्यादि नाना प्रश्न मस्तिष्क में अनायास ही उद्भूत हो जाते हैं।

उपर्युक्त प्रश्नों पर जब गूढ़ दृष्टि डाली जाती है तो यह तो निश्चित हो जाता है कि युच् प्रत्यय अकलंक देव और विद्यानन्द दोनों को मान्य है। युट् प्रत्यय न मानने का एक मात्र कारण यही हो सकता है जैसा कि अकलंक ने एक तटस्थ आचार्य की, जो संभवतः पाणिनि व्याकरण से सम्बन्धित थे, शङ्का के माध्यम से कहा है कि युट् में टित् होने से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय प्राप्त होता है[6]। ङीप प्रत्यय प्राप्त होने पर वर्तना के स्थान पर वर्तसी शब्द बनेगा, जबकि युच् अथवा युक् प्रत्यय मानने पर ऐसा नही होता तो फिर आचार्य पूज्यपाद का युट् प्रत्यय वाला प्रयोग अनुचित सिद्ध होता है ? नही ? आचार्य पूज्यपाद का प्रयोग अनुचित तब होता जब कर्म और भाव के स्थान पर करण अथवा अधिकरण में युट् प्रत्यय किया जाता और उसका विग्रह वर्ततेऽनया अस्या वा वर्तना हो जाता परन्तु आचार्य पूज्यपाद ने ऐसा नहीं किया है।

इस प्रकार अकलंक देव ने यद्यपि आचार्य पूज्यपाद का समर्थन करके उनके प्रयोग को स्पष्ट कर दिया है तथापि 'णिजन्ताद्युचि वर्तना' वार्तिक बनाकर युट् की सशयात्मक वृत्ति को सदा के लिए समाप्त भी कर दिया है। इस प्रकार आचार्य पूज्यपाद के परवर्ती अकलंक देव तो 'युट् प्रत्यय से परिचित थे, परन्तु उनके परवर्ती आचार्य विद्यानन्द ने युट् के सम्बन्ध में कोई चर्चा नही चलाई है तो फिर इन्होंने युक् प्रत्यय क्यो माना ? संभवत 'युक्' प्रत्यय 'युट्' प्रत्यय ही होना चाहिए जो कि हस्तलिखित पुस्तक मे किसी विद्वान् की लेखनी से लिख गया होगा क्योंकि 'वर्तनशीला वर्तना' वाले विभाजन में आ० विद्यानन्द को युच् प्रत्यय मान्य है ही। 'युक्' प्रत्यय व्याकरण में होता है या नही तथा इसके द्वारा वर्तना शब्द बनता है या नहीं यह व्याकरण ग्रन्थों में खोज का विषय है।

यह 'वर्तना' की सर्जना के सम्बन्ध मे एक संक्षेप रूप अध्ययन है।

---

१. कालो हि द्विविधः परमार्थकालो व्यवहारकालश्च सर्वार्थसि. ५।२२.

२. परमार्थकालो वर्तना लक्षणः। वही. ५।२२.

३. वृत्तेर्णिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि स्त्रीलिंगे वर्तनेति भवति वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना" वही. ५।२२.

४. णिजन्ताद्युचि वर्तना रा वार्तिक ५।२२।२

५. वृत्तेर्ण्यन्तात्कर्मणि भावे वा युक् त. श्लो. वा. ५।२२.

६. करणाधिकरणयोर्वर्तनेति चेत्; युटि सति ङीप्रसङ्ग:" राजवा. ५।२२।१ भाष्य।

महावीर निर्वाण संवत्

मुनि विद्यानन्द जी

भगवान् महावीर का निर्वाण कब हुआ, इस सम्बन्ध में जैनों में गणना की एक अभेद्य परम्परा विद्यमान है और वह श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरों से समान ही है। "तित्थो गालीय पन्ना" में निर्वाण काल का उल्लेख करते हुए लिखा है—

तं रयणि सिद्धि गओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणि अवंतीए, अभिसित्तो पालओ राया॥ ६२०
पालग रण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णंदाणम्।
मुरियाणं सट्ठिसयं, पणतीसा पूस मित्ताणं (तस्स)॥६२१
बलमित्त भाणुमित्ता, सट्ठा चत्ताय होंति णहसेणे।
गद्दभ सयमेगं पुण, पडिवन्नो तो सगो राया॥६२१
पंच य मासा पंच य, वासा छच्चेव होंति वाससया।
परि निव्वु अस्सऽरिहतो, तो उप्पन्नो (पडिवन्नो) सगोराया॥६२३

(जिस रात मे अर्हत् महावीर तीर्थङ्कर का निर्वाण हुआ, उसी रात (दिन) मे अवन्ति में पालव का राज्याभिषेक हुआ।)

६० वर्ष पालक के, १५६ नन्दों के, १६० मौर्यों के, ३५ पुष्यमित्र, ६० बलमित्र, भानुमित्र के, ४० नय:सेन के और १०० वर्ष गर्द भिल्लों के बीतने पर शक राजा का शासन हुआ।

अर्हन् महावीर को निर्वाण हुए ६०५ वर्ष और ५ मास बीतने पर शक राजा उत्पन्न हुआ।)

यही गणना अन्य जैन ग्रन्थों में भी मिलती हैं। हम उनमें से कुछ नीचे दे रहे हैं :—

१. **श्री वीर निर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः।**
शाक संवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत्॥

मेरु तुगाचार्य रचित विचार श्रेणी (जैन साहित्य संशोधक—खंड २, अंक ३-४ पृ० ४।

२. **छहिं वासाण सएहिं पंचहिं वासेहिं पंच मासेहिं।**
मम निव्वाण गयस्सउ उपाज्जिस्सइ सगो राया।

नेमिचन्द्र रचित 'महावीर परिचय' श्लो. २१६६ पत्र ६४-१

६०५ वर्ष ण मास का यही अन्तर दिगम्बरों में भी मान्य है। हम यहां तत्सम्बन्धी कुछ प्रमाण दे रहे हैं—

(१) **पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गीयम वीरणिव्वुइदो।**
सगराजो तो कक्की चदुणव-तियमहिय सगमासम्॥

—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती रचित त्रिलोकसार

(२) **वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासं पचकम्।**
मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्॥६०-५४१

—जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराण।

(३) **णिव्वाणे जिणे छव्वास सदेसु पंचविरिसेसु।**
पण मासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा॥

—तिलोय पण्णत्ति भाग १, पृ० ३४६

(४) **पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वायसया।**
सगकालेण य सहिया थावे यव्वो तदो रासी॥

धवला (जैन सि० भवन आरा) पत्र ५३७

वर्तमान ईस्वी सन् १९७३ में शक संवत् १८९४ है। इस प्रकार ईस्वी सन् और शक संवत्सर में ७९ वर्ष का अन्तर हुआ। भगवान् महावीर का निर्वाण शक संवत् से ६०५ वर्ष ५ मास पूर्व हुआ। इस प्रकार ६०३ में से ७९ घटा देने पर महावीर का निर्वाण ईस्वी पूर्व ५२७ में सिद्ध होता है।

केवल शक संवत् से ही नहीं, विक्रम संवत् से भी महावीर निर्वाण का अन्तर जैन साहित्य में वर्णित है।

तपाच्छ पट्टावलि में पाठ आता है—

जं रयणि कालगओ, अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणि अवणि वई, अहिसित्तो पालओ राया॥१
वट्ठी पालय रण्णो ६०, पणवण्णसयं तु होइ नंदाणम्।
अट्ठ सयं मुरियाणं १०८, तीसच्चियं पूसमित्तस्स ३०॥२
बलमित्त माणुमित्त सट्ठी ६०, वरिसाणी चत्तन हवाणे।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस १३ वरिस सगस्स चउवरिसा॥

श्री विक्रमादित्यश्च प्रतिबोधितस्तद्राज्यं तु श्री वीर सप्तति: चतुष्टये ४७० संजातं।

[६० वर्ष पालक राजा, १५५ वर्ष नवनन्द, १०८ वर्ष मौर्यवंश, ३० वर्ष पुष्यमित्र, बलामित्र भानुमित्र ६०, वहपान ४० वर्ष। गर्दभिल्ल १३ वर्ष, शक ४ वर्ष कुल मिला कर ४७० वर्ष बाद हुआ।]

—तीर्थङ्कर महावीर विजयेन्द्र सूरि।

ईसा पूर्व ५२७ वर्ष भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् दिगम्बर आम्नायानुसार केवली श्रुतकेवली और दशपूर्वधरों की सूची—

केवली—३

१	गौतम गणधर	१२ वर्ष
२	सुधर्म	१२ वर्ष
३	जम्बू स्वामी	३२ वर्ष

श्रुतकेवली—५

१	विष्णु नन्दी	१४ वर्ष
२	नन्दिमित्र	१६ वर्ष
३	अपराजित	२२ वर्ष
४	गोवर्धन	१९ वर्ष
५	भद्रबाहु	२९ वर्ष
		१६२ वर्ष

दिगम्बर आम्नाय के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात् श्रुतकवली का लोपमाना गया है—

(ई० पू० ३६५)

एकादश गणधर :—

इन्द्रभूतिरग्निभूतिर्वायुभूतिः सुधर्मकः।
मौर्यमौऽयौ पुत्रमित्रावकम्पन सुनामधृक्॥
अन्धवेलः प्रभासश्च रुद्रसंख्यान् मुनीन् भजे।
गौतमं च सुधर्मं च जम्बूस्वामिन मूर्ध्वगम्।
श्रुतकेवलिनोऽन्यांश्च विष्णुनन्द्यपराजितान्।
गोवर्धनं भद्रबाहुं दशपूर्व धरं यजे—

—आचार्य जयसेन प्रतिष्ठा पाठ

चन्द्रगुप्तमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्विणाम्।
सर्व संघाधिपो जातो विशाखाचार्य संज्ञकः॥

—हरिषेण रचित, कथाकोष ३९।

दश पूर्वधरों मे प्रथम चन्द्रगुप्त मुनि शीघ्र ही विशाखाचार्य नाम से सर्वसघ अधिपति हुए।

विशाख प्रोष्ठिल क्षत्रीयजय नाग पुरासरान्।
सिद्धार्थ धृतिषेणाह्वौ विजयं बुद्धिबलं तथा॥
गंगदेवं धर्मसेनमेकादश तु सुश्रुतान्।
नक्षत्रं जयपालाख्यं पाण्डुश्च ध्रुवसेनकम्।
कंसाचार्यं पुरोडीभि ज्ञानार प्रजयेऽन्वहम्।
सुभद्रश्च यशोभद्रं यशोबाहुं मुनीश्वरम्।
लोहाचार्यं पुरा पूर्वज्ञान चकधरं नुमः॥

दश पूर्वधर—११

१	विशाखाचार्य	१० वर्ष
२	प्रोष्ठिल	१९ वर्ष
३	क्षत्रिय	१७ वर्ष
४	जयसेन	२२ वर्ष
५	नागसेन	१८ वर्ष
६	सिद्धार्थ	१७ वर्ष
७	धृतिषेण	१८ वर्ष
८	विजय	१३ वर्ष
९	बुद्धिवल्ल	२० वर्ष
१०	गंगदेव	१४ वर्ष
११	धर्मसेन	१६ वर्ष
		१८४ वर्ष

एकादशांगधारी—

१	आचार्य नक्षत्र	२२० वर्ष
२	आचार्य जयपाल	
३	आचार्य पाण्डु	
४	आचार्य ध्रुवसेन	
५	कंसाचार्य	

आचारांग धारी—

१	आचार्य सुभद्र	११२ वर्ष
२	आचार्य यशोभद्र	
३	आचार्य यशोबाहु	
४	आचार्य लोहाचार्य	

सम्पूर्ण योग - ६४२ वर्ष

प्रभावक आचार्य—

१ आचार्य गुणधर (कषाय पाहुड) विक्रम सं० १६।
२ आचार्य कुन्दकुन्द (समयसार) विक्रम सं. ३५।
३ आचार्य उमास्वामी (तत्वार्थ सूत्र) वि. सं० १५०।
४ आचार्य समन्तभद्र (रत्नकरण्ड) वि. स. बीसवीं शती।
५ आचार्य सिद्धसेन (सन्मति सूत्र) वि. सं. पाँचवीं शती।

स्याद्वाद एक : अध्ययन

रामजी, एम० ए०

जैन न्याय की सबसे बड़ी देन भारतीय नैयायिक विचार को उनका 'स्याद्वाद' संबंधी सिद्धांत है। उसमें सविकल्प मानवीय ज्ञान की अल्पता की अनुभूति कुट-कूट कर भरी है, साथ ही समन्वयवाद की भी। स्याद्वाद, दो शब्दों के योग से बना है। स्यात्+वाद=स्याद्वाद। सामान्य अर्थ में स्यात् शब्द का अर्थ शायद, किंचित् तथा सम्भावना आदि से लिया जाता है। वास्तव मे सम्भावना के शाब्दिक अर्थ के रूप मे स्याद्वाद का प्रयोग नही किया जाता। सम्भावना के द्वारा सन्देहवाद का भी बोध होता है, किन्तु जैन दर्शन को हम सन्देहवादी नही कह सकते; क्योंकि अशेष ज्ञान को सिखानेवाला कभी सन्देह को सिखाएगा, यह सम्भव नही है। हमारी समझ मे अशेष ज्ञान केवल ज्ञान को दिखाने का प्रयत्न, इस सिद्धांत में किया गया है। कभी-कभी स्यात् शब्द का अनुवाद 'किस प्रकार' किया जाता है जिससे अज्ञेयवाद का बोध होता है, किन्तु यह मत अज्ञेयवादी नहीं है। स्याद्वाद शब्द का प्रयोग सापेक्षता के रूप मे किया गया है और स्याद्वाद का उचित अनुवाद सापेक्षवाद (Theory of Relativity) ही हो सकता है, इसलिए सापेक्षावाद भी कहा जाता है। स्याद्वाद अनेकान्तवाद के ऊपर आधारित है यह एक प्रकार से जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धांत है, जिसके द्वारा जैन दार्शनिकों की उदारता का पता लगता है। अत. इस सिद्धात का जैन दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। स्याद्वाद को स्याद्वादमन्जरी मे इस प्रकार परिभाषित किया गया है, स्याद्वादोऽनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति" अर्थात् स्याद्वाद अनेकान्तवाद को कहते है; जिसके अनुसार एक ही वस्तु मे नित्यता अनित्यता आदि अनेक धर्मो की उपस्थिति मानी जाती है और प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक मानी जाती है।[1] The judgement about an object possessing many characteristics is called Syadvada जैन दार्शनिकों का मत है कि किसी भी वस्तु के पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उस वस्तु के सभी सम्बन्धो का ज्ञान प्राप्त करना होगा। सम्बन्ध केवल भावात्कक ही नही होता अभावात्मक भी होता है। इसलिए वस्तु के ज्ञान के लिए सभी सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसलिए एक वस्तु को समझने के लिए विश्व की सभी वस्तुओ को भली भाति समझना पड़ेगा।

एकोभावः सर्वथा येन दृष्टः।
सर्वेभावाः सर्वथा तेन दृष्टाः॥
सर्वेभावाः सर्वथा येन दृष्टाः।
एकोभावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

अर्थात् जो व्यक्ति एक वस्तु को सभी प्रकार से समझ लेता है, वह सभी वस्तुओं को सभी प्रकार से समझ सकता है। यदि सभी वस्तुओ को समझ लिया गया है तो, एक वस्तु को भलीभाति समझा जा सकता है।

इस प्रकार जैन दर्शन का विचार है कि एक वस्तु को देखने की अनेक दृष्टिया हो सकती है, किन्तु सम्पूर्ण सत्य क्या है, इसको देखने के लिए सब दृष्टियो का सश्लेषण आवश्यक है। यही तात्पर्य अनेकान्तवाद को 'सम्पूर्ण आदेश' या 'सफल आदेश' कहने का है। सब कुछ यहा संसार मे 'विकल' ही विकल आदेश हैं, सविकल्पक, खण्ड-खण्ड है। सकल आदेश यहां एक दृष्टियों के मिलाने से बनता है जिसका अनेकात प्रतीक है।[2] किसी वस्तु की सत्ता या असत्ता के विषय मे हम केवल यही कह सकते है :

(१) **स्यादस्ति**—आपेक्षिक रूप में घड़ा सत्य है। अपने उपादान, स्थान, समय और स्वरूप के

१. अनन्त धर्मक वस्तु—षड्दर्शन समुच्चय, पृष्ट-५५

२. भरतसिंह उपाध्याय—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-२, पृष्ट-८४७,

दृष्टिकोण से घड़ा विद्यमान है अर्थात् अपना अस्तित्व रखता है। मिट्टी से बना हुआ घड़ा, इस समय मेरे पास विद्यमान है। जो अमुक आकार व माप का है।

(२) **स्यान्नास्ति**— आपेक्षिक रूप में घड़ा असत्य है। अपने उत्पादान, स्थान, समय और स्वरूप के दृष्टिकोण से घड़ा विद्यमान नही है, अर्थात् वह अपना अस्तित्व नहीं रखता है। सोने से बना हुआ घड़ा इस समय मेरे पास विद्यमान नहीं है; जो अमुक आकार व माप का हो।

(३) **स्यादस्तिनास्ति**— आपेक्षिक रूप में घड़ा सत्य है और असत्य है, दोनो है। अपने विशेष अर्थ में घड़ा है, और एक दूसरे विशेष अर्थ में घड़ा नहीं है। हम यहा कह सकते है कि विशेष अर्थ मे घड़ा है और एक विशेष अर्थ में घड़ा नहीं है।

(४) **स्याद् अवक्तव्यं**—आपेक्षिक रूप में घड़ाअवक्तव्यनीय है (Indiscribable) जबकि ऊपर हमने कहा कि वस्तु विशेष के रूप में घड़ा है और वस्तु विशेष के रूप में घड़ा नहीं है; तो यह सब कथन एक साथ करना सम्भव नही है। इसलिए वस्तु अवर्णनीय है। जबकि घड़े में इसके अपने विशेष रूप मे है और विशेष वस्तु के रूप में नही है, तो भी हम से उस वर्णित नही कर सकते।

(५) **स्यादस्ति च अवक्तव्यं**— आपेक्षिक में घड़ा सत् भी है और अवक्तव्यनीय भी है। भावात्मक दृष्टिकोण से वस्तु है और नही भी है और हम उसका वर्णन भी नही कर सकते। यहां पर हम उस घड़े की सत्ता और अनिर्वचनीयता दोनों को एक साथ परिलक्षित करते है।

(६) **स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं**—आपेक्षित रूप में घड़ा असत् है और अवक्तव्यनीय भी है। यहां पर, अभावात्मक वस्तु के दृष्टिकोण से और इसके साथ ही साथ वस्तु विशेष केदृष्टिकोण से वह घड़ा नही है। यहा पर हम उस घड़े की असत्ता और अनिर्वचनीयता को परिलक्षित करते है।

(७) **स्यादस्ति च नास्ति अवक्तव्यं**— आपेक्षिक रूप में घड़ा सत्य, असत्य और अवक्तव्यनीय है। अपने से विशेष अर्थ में और भावात्मक दृष्टिकोण से और साथ ही साथ स्थानविशेष व समय विशेष के कारण घड़ा है, नहीं भी है और अनिर्वचनीय भी। यहा पर हम एक घड़े की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन करते हैं और इसके साथ ही साथ यह मिट्टी का घड़ा है सोने का घड़ा नहीं है इसका भी प्रतिपादन करते है।

जैन दार्शनिकों का ऐसा विचार है कि यहां जो सामने काला घड़ा है वह स्थान, समय विशेष स्वरूप व उपादान विशेष के कारण सत्य है और अपने स्थान विशेष, समय-विशेष, स्वरूप विशेष व उपादान विशेष के कारण असत्य भी है। अर्थात् दोनों है इसलिए जब हम घड़ा कहें तो पहले उसमें स्याद् शब्द का प्रयोग करें।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि विचारों को दोष रहित बनाने के लिए स्यात् शब्द का प्रयोग करना चाहिए। सरल भाषा मे अगर किसी को काना कहना हो तो, उसको काना कहने की अपेक्षा "भाई सम्पूर्ण देखने के लिए दो आंखों के तेज की आवश्यकता है।" ऐसा कहना ही स्याद्वाद है। जैन दर्शन का स्याद्वाद सभी दार्शनिक सिद्धांतों को अपने में समेटे हुए है, इसी कारण यह स्याद्वाद का सिद्धांत सभी दार्शनिकों को मान्य भी है। लेकिन जैन दर्शन का स्याद्याद, जो समन्वयवाद, जो समन्वयात्मक दृष्टि कोण रखता है वह शंकर के अद्वैत वेदान्त के समन्वयात्मक दृष्टिकोण से भिन्न है। जैन दर्शन का स्याद्वाद भौतिक समन्वयात्मक है; जबकि शकर का अद्वैतवाद आध्यात्मिक समन्वयात्मक है। जैन दर्शन स्याद्वाद की बात तो करता है, लेकिन पूर्णज्ञान को कौन निर्धारित करेगा, इसके उत्तर में वह सबको समान दर्जे पर रखता हैं; जबकि शंकराचार्य उस सामान्य से उठकर ब्रह्म को स्थापित करते है। जैन दार्शनिक यह है कि आप आंशिक ज्ञान को पूर्णज्ञान कहते हैं, तो यह धर्मनिष्ठा है। यहीं पर दर्शन के विचार की उदारता में विश्व में सबसे अधिक मशहूर है। सच्चे एवं महान दार्शनिक की परीक्षा अनुयायियों की संख्या के बल पर तथा उदारता पर निर्भर है।[3] इस संसार कोई भी बात झूठी नहीं है, सबको समझने की सच्ची दृष्टि होनी चाहिए, वह झूठी न हो। अगर दृष्टि ही झूठी हो तो सृष्टि की कोई भी चीज सच्ची नहीं है।[4]

---

३. सूरीश्वर जी, जैन दर्शन की रूप रेखा, पृष्ठ-३३
४. " " पृष्ठ-३८

जैन दर्शन में जो विरोध देखने को मिलता है जैसे—पापी और पाप दोनों बिल्कुल भिन्न है। पाप और पापी दोनों एक ही हैं।

जैन दर्शन में से परस्पर विरोधी बातें वगैर स्यादवाद के समझ में नहीं आ सकती। जब कोई पापी सामने आता है तब देखना चाहिए कि पापी और पाप भिन्न हैं, इसलिए पापी को मारने से क्या? परन्तु अब हमसे कोई पाप का आचरण होता है तो सोचना चाहिए कि मैं और पाप दोवों भिन्न नहीं बल्कि एक ही है। इसलिए जितना ही मैं अधिक कष्ट सहूगा उतना ही मेरे पाप का बोझ हल्का होता जाएगा। यहां पर जैन दार्शनिक अपने को अत्यन्त अहिसा की कोटिपर पहुचा देते है जबकि बौद्ध मंज्झिम मार्ग का अनुसरण करते हैं।

दर्शन में ज़ो गति और स्थिति, एक और अनेक, नित्य और अनित्य, द्वैत, और ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद आदि दार्शनिक तत्वों को लेकर जो पचड़े खड़े होते है उनका भी समाधान स्याद्वाद से हो जाता है। जैन परिकल्पना के आधार पर वस्तु के निरूपण की कठिनाई दूर हो जाती है; क्योकि इस सिद्धात के अनुसार पदार्थ के रूप में उद्देश्य और विधेय समान है और रूपभेद और दृष्टिभेद के कारण भिन्न दिखलाई पडते है। यथार्थ सत्ता का गतिशील स्वरूप व स्थिर स्वरूप केवल सापेक्ष और सोपधिक निरूपण के साथ ही मेल खा सकता है। प्रत्येक सिद्धांत की स्थापना कुछ विशेष अवस्थाओ मे और विशेष काल मे या परिकल्पित रूप मे ही सत्य है और असत्य भी है।

जैन दार्शनिक स्याद्वाद को लेकर इतने उदार है कि भारतीय दर्शन मे जो विरोध पाया जाता है कि तप से मोक्ष की प्राप्ति होगी, भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति होगी, ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होगी या योग से मोक्ष की प्राप्ति होगी और समाज सेवा धर्म है, इन सभी का समन्वय स्याद्वाद मे हो जाता है। स्याद्वाद को लेकर यहा पर जैनियों का मत होगा कि इसमे कोई भी तप एव कर्म झूठा नही है, इतना ही है कि वे परस्पर की बात माने और उसको स्थान विशेष, समय विशेष की दृष्टि से सत्य या असत्य का निर्णय करें तो उनमें किसी प्रकार का विरोध या भेद-भाव उत्पन्न नही होगा। यही कार्य जैनियों का स्याद्वाद करता है। जैन दार्शनिकों का ऐसा विचार है यह जो सामने काला घडा है वह स्थान विशेष व समय विशेष के कारण सत्य है और स्थान विशेष समय विशेष के कारण असत्य भी है, अर्थात् दोनों है। इसलिए केवल अपने मत को सत्य कहना अन्य मत को असत्य कहना ठीक नही है।

अन्त मे हम यही कह सकते हैं कि जैन दार्शनिको की उदारता का मुख्य स्रोत स्याद्वाद ही रहा है। इस बात को ठीक प्रकार से समझने के लिए हम उनकी मान्यताओं को अन्य दार्शनिको की मान्यताओं से करके देख सकते।

(१) किसी भी आत्मा में मोक्ष की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होने पर वह एक दिन अवश्य मोक्षावस्था को प्राप्त होगा।

(२) मोक्षावस्था की भावना जैन को ही हो यह आवश्यक नहीं।

(३) जैन दर्शन से घृणा होने पर भी यदि उसमे मोक्षेच्छा की तीव्रता हो तो वह अंत में मोक्ष को प्राप्त होगा।

(४) मोक्ष प्राप्त करने के लिए, जैनधर्म का ही अनुकरण करें यह जरूरी नही।

(५) जैनधर्म को माननेवाला ही स्वर्ग में जाएगा अन्य नरक मे जाएगे; ऐसे जैन दार्शनिकों की मान्यता नही है।

(६) जैन कुल मे उत्पन्न होने पर भी यदि पात्र अयोग्य हो तो नर्क में जाएगा, जबकि जैन विरोधी कुल में उत्पन्न होने पर भी यदि पात्र योग्य हो तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

जैन दार्शनिक इतना उदार होते हुए भी जैनियों की सख्या बहुत कम है, तो इसके लिए कोई आश्चर्य की बात नही है। इसके लिए आचार्य विनोबा भावेजी के शब्द काफी हैं :—

"जैनियों मे दूसरे दार्शनिकों की अपेक्षा संख्या बहुत कम है। मुझसे लोग पूछते है कि आज जैनियों की सख्या बहुत कम क्यों है? मैं कहता हूं कि कम

संख्या बुद्धिमानी की निशानी है शक्कर मीठी है यह पानी में घुल मिल जाती है तो अपना अस्तित्व व्यापक बना देती है। शक्कर के मिल जाने पर लोग कहते है 'जल मीठा है' पर वास्तविक बात तो यह है कि शक्कर की मिठास है। जैन भी अन्यो मे घुल कर उनमे चुपचाप मधुरता भरते रहते हैं।"[5]

स्याद्वाद जैन दर्शन का अजेय किला है; जिसमे वादी प्रतिवादी के मायामय गोले प्रविष्ट नहीं हो सकते। ●

५. आचार्य विनोबाभावे, जैन भारती, वर्ष-१५, अंक-१६

कलिंग जिन

—श्री ठाकुर—

(१)

कलिंग प्रजा अपने युवक सम्राट् खारवेल से अत्यन्त सन्तुष्ट है। प्रजा रंजन के लिए उन्होने लक्ष-लक्ष पण लगाकर अनेकों सुख सुविधायें प्रदान की थीं। पैंतीस लक्ष पण से खिविर सागर से एक कुल्या बनवाई। जिससे सारे जानपद अति सन्तुष्ट है। ७५ लाख पण लगाकर रत्न जड़ित चार स्तम्भ बनवाए। महा विजय प्रसाद का सौन्दर्य और कला मानों दर्शको से मौन संलाप करता है। वहाँ के मदनोद्यान, राजकीयोद्यानादि अनेकों उपवनों में प्रकृति इठलाती फिरती है। प्रजा को खारवेल के रूप मे सौन्दर्य मिला, समृद्धि मिली, कला मिली, न्याय मिला और सन्तुष्टि मिली।

किन्तु कलिंग की प्रजा जब 'जयकलिंग जिन पुकारती तब उसके मन मे दबी हुई वेदना उभर आती। कलिंग जिन उसके आराध्य देवता थे। उस देवता के चरणों मे उसने धर्म पाया था, आत्म प्रतीति पाई थी, कर्म पाया था और जग की सुषमा पाई थी। इस जगत की नश्वरता में सब कुछ ही तो नश्वर था। किन्तु एक मात्र अविनश्वर की वह कलिंग जिन की विमुग्धकारी मूर्ति जो कलिंग की सारी प्रजा के मन में, सम्पूर्ण आत्मा मे ऊँचे आसन पर न जाने कब मे विराज रही है। उस भव्य प्रतिमा से उन्होने जब जो चाहा, मिला–अन्धकार में दीप्ति, निराशा में सम्बल, हार में प्रेरणा और विषाद में आश्वासन। वह उनके हृदय में गहरे विश्वास की तरह जम गई थी। और वही एक मात्र कड़ी थी कि कलिंग की ३५ लाख प्रजा का एक ही विश्वास और एक ही मार्ग बन गया था। किन्तु विश्वास का वह देवता उनके पास न था। नन्दराज कलिंग विजय के उपहार के रूप में उस प्रतिमा को उठा ले गया था। पराजय के व्रणकाल ने भर दिये थे, किन्तु जब उनके विश्वास का एक मात्र सम्बल ही उनके पास न रह गया, छीन लिया गया तो धैर्य और सन्तोष का स्थान भी रिक्त हो गया। लगता था, निरन्तर बढ़ती हुई समृद्धि के प्रति उनकी वितृष्णा दूर न होगी, जब तक मन का वह देवता अपने सूने देवालय मे न आन विराजे।

× × ×

और सम्राट् खारवेल ?

उनका कुल देवता छिन गया था। उनके वंश का भारी अपमान हुआ था। कलिंग के विद्यापीठ में जब मे उन्होने पढा था कि दक्षिण कौशल से आकर उनका प्रतापी पूर्व सम्राट् महामेघवाहन ने कलिंग में ऐलचेदि वंश का प्रभाव स्थापित किया और उसका पराभव मगध सम्राट् नन्दराज ने किया, इतना ही नहीं, उनके कुल-देवता को भी मानों वह सम्राट् उठा ले गया, तब से ही खारवेल खार खाये बैठा था। क्षत्रिय होकर वह अपने वंश के पराभव का प्रतिशोध लेना ही कुल देवता की कलिंग में पुनः प्रतिष्ठा किए बिना उसका प्रतिशोध निरर्थक होगा। और यों युवक सम्राट् के जीवन की साधना अपने वंश के अपमान का प्रतिशोध लेने की बजाय अपने कुल देवता की प्रतिमा को पुनः कलिंग में लाना यह हो गई। कलिंग जिनकी वह रत्नमय प्रतिमा केन्द्र बन गई, जिसके चारों ओर अपमान का प्रतिकार, प्रजा

का रंजन, साम्राज्य का विस्तार, और चक्रवर्ती पद मंडराने घहराने लगे।

(२)

मगध सम्राट् ब्रहद्रथ को मारकर उनका महामंत्री पुष्यमित्र मगध-साम्राज्य का भोग और विस्तार कर रहा था। अश्वमेध यज्ञ करके चक्रवर्ती पद प्राप्त कर लिया था।

वाल्हीक का यवन नरेश दैमेत्रिय चक्रवर्ती के बनने की महत्त्वाकांक्षा में निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा था। वह शौरसेन, पांचाल और साकेत विजय करके मगध साम्राज्य को निगलता हुआ पाटलीपुत्र तक पहुच चुका था।

सम्राट् खारवेल ने गम्भीरता से सोचा—क्या इस अवसर पर यह उचित होगा कि एक आर्य वंश को पराभूत करके अपने अपमान का प्रतिशोध लू। मेरे इस प्रतिशोध में भारतमाता की पराधीनता निहित है। अपने सम्राट् स्वामी का वध करने वाले पुष्यमित्र का चक्रवर्ती पद उसके बल में नहीं, छल में छिपा है। उस छल का जाल समय पर तोड़ा जा सकेगा। किन्तु यदि यवनराज दैमेत्रय को मगध पर अधिकार करने का अवसर मिल गया तो भारत की आर्य सम्यता यवन साम्राज्य की ज्वाला में भस्मसात् हो जाएगी। तब भारत माता के चरणों को कोटि-कोटि भारतीयों का अर्घ्य नहीं, यवनों की लोह बेड़ियाँ सजायेंगी। क्या मेरा शौर्य, मेरा प्रभाव और मेरी यह विशाल चतुरंगिणी विदेशी यवनों की आकांक्षापूर्ति का साधन होगी।

सम्राट् ने सोचा, फिर सोचा। एक ओर वे देख रहे थे—उनकी विजय वैजयन्ती प्रतापशाली सात बाहन वंशी शातकर्णि के प्रासादों पर फहरा रही है, मूषिक, राष्ट्रिक, योजक सब राजा छत्र और भिरंगार हीन भूमि पर लोट रहे हैं। सारे दक्षिणपथ में 'जय कलिंग जिन' का नाद हो रहा है। दूसरी ओर उन्होंने देखा—शौरसेन, पांचाल और साकेत के विशाल देवालय भूमिसात् हो रहे हैं। देव प्रतिमाएँ सिंहासनों के पाये बन रही है। आर्य संस्कृति कन्धार और वाल्हीक की ओर मुंह फाड़े दीन भाव से देख रही हैं।

उनके अन्तर से जोरों की हूक उठी—"नहीं, यह कभी न होगा। देव प्रतिमाओं का स्थान देवालय ही हैं। आर्य संस्कृति में आज भी विश्व को देने की क्षमता है। तब वह याचक क्यों बने। भारत की गरिमा अक्षुण्ण रहेगी। यवनराज को भारत छोड़ना ही होगा, छोड़ना ही होगा। उसे भारत की महानता को, पवित्रता को कलंकित करने की धृष्टता का फल भोगना ही होगा। और बत्तीस वर्ष के युवक सम्राट् की चतुरंगिणी जब झारखण्ड के मार्ग से होकर मगध पहुची, यवन-सेना में एक भयंकर भूचाल आ गया। दंमेत्रिय ने जब सुना कि राजगृही, गोरथगिरि दुर्गों पर खारवेल का पताका फहरा रही है, उस पर भयानक रूप से आतंक छा गया। दूसरे क्षण वह और उसकी यवन सेना भारत विजय का स्वप्न छोड़, कठोर सत्य का दर्शन करके न केवल मगध से अपितु भारत की सीमा से निकल गई।

सम्राट् खारवेल अपनी विजय की सुरभि से मगध वासियों को आकर्षित करके जब लौटे तो भारत माँ ने उनकी आरती उतारी, देवताओं ने उनके मार्ग फूलों से भर दिए।

(३)

ठीक चार वर्ष बाद—

चक्रवर्ती पुष्यमित्र ने अपने पराभव की वेदना के चिन्ह और परिजनों में व्याप्त अवहेलना को मिटाने के लिए दुबारा अश्वमेध यज्ञ किया। विभिन्न राज्यों के राजाओं द्वारा भेंट किंवा ग्रहण करके पुनः चक्रवर्ती पद धारण किया। वह अपने राज्य की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान देने लगा। और राज्य का पुनर्गठन करके अपने आठों पुत्रों को उपरिक बनाकर विभिन्न नगरों का दायित्व सौंप दिया। प्रजाजन को सन्तुष्ट करने के लिए धर्म के नाम पर शासन करने लगा। उसने राज्य की सीमाओं पर चर भेज दिए। आयुक्तकों के अधीन एक-एक अक्षौहिणी कर दी। सीमान्त दुर्गों का उद्धार करके भटाश्वपतियों के अधीन कई-कई अक्षौहिणी भेज दी। दिन रात युद्धाभ्यास होने लगा। लगता था मानों सारा मगध साम्राज्य एक विशाल युद्ध शिविर बन गया है।

युद्ध कला के मर्मज्ञ सम्राट् खारवेल से विश्वस्त चरों द्वारा इन युद्धाभ्यासों और सतर्क तैयारियों का पता

लग रहा था। वे अब पुष्यमित्र को अधिक अवसर देना उचित नहीं समझते थे। और एक दिन कूंच के ढोल बज ही उठे।

× × ×

वे प्रभंजन के वेग से चले। जो सामने आया, वह टिक न सका। वे जिस ओर भी गये, राजा भेंट लेकर खड़े मिले। समय की तरह दुर्विचार और काल की तरह दुर्दान्त। कौन था जो उसके सामने पड़ने का साहस करता। सारा उत्तरा पथ काँप उठा उनके शौर्य से, सारा उत्तरापथ आतंकित हो उठा उनकी रणचातुरी से। सारे नृप करद माण्डलिक बन गए।

जब यकायक उन्होंने अपना मार्ग बदल दिया। अग्रगामी दल के साथ दो अक्षौहिणी को मुख्य मार्ग से मगध की ओर भेजा और शेष वाहिनी को लेकर स्वयं हिमालय की उपत्यकाओं के कठिन किन्तु गुप्त मार्ग से पाटलिपुत्र की ओर रवाना हुए।

और एक दिन पाटलिपुत्र की जनता के उषाकाल में अत्यन्त विस्मय और भय के साथ देखा—

कलिंग सेना सुगङ्गप्रासाद को घेरे खड़ी है। विजयी सम्राट् खारवेल हाथी पर शौर्य और ओज की धारा बहाते से सस्मित मुद्रा में बैठे हैं। पाटलीपुत्र की पावन तोया जाह्नवी खारवेल की सेना के हाथियों को मार्ग देती बह रही है। और असल्य वाहिनी निरन्तर पाटलीपुत्र में प्रवेश कर रही है।

चक्रवर्ती पुष्यमित्र की कुछ सेना सीमांत पर कलिंग की अग्रगामी सेना से जूझ रही है जो सोन के मार्ग से आई थी और शेष सेना पाटलीपुत्र मे कलिंग सेना के समक्ष अपने सारे आयुध समर्पण कर चुकी है। स्वयं पुष्यमित्र वन में महर्षि पातञ्जलि को अपने पराभव का बृतान्त सुना रहे है। और इधर पाटलीपुत्र के प्रमुख उपचरिक वहसातिमित्र समभ्रम कलिंग जिनकी प्रतिमा सम्राट् खारवेल को समर्पित कर रहे है।

जब सम्राट् खारवेल ने अपने कुलदेवता की प्रतिमा श्रद्धा और सम्मान के साथ ग्रहण की, तो कलिंग की असंख्य वाहिनी के कण्ठ से 'जय कलिंग जिन' का तुमुल जयघोष निकल पड़ा।

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य ब्योरे के विषय में

प्रकाशन का स्थान	'वीर सेवा मन्दिर' भवन, २१, दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्वैमासिक
मुद्रक का नाम	श्री बालकिशन
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	रूप वाणी प्रिंटिंग हाऊस २३, दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	ओम प्रकाश जैन (सचिव)
राष्ट्रीयता	सभी भारतीय
पता	वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली
सम्पादको का नाम	डा० आ० ने० उपाध्ये, कोल्हापुर; डा० प्रेमसागर, बड़ौत; श्री यशपाल जैन, दिल्ली; प्रकाशचन्द्र जैन, दिल्ली।
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	मार्फत : वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली
स्वामिनी संस्था	वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागज, दिल्ली

मैं ओमप्रकाश जैन घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

१७-२-७४ ह० ओमप्रकाश जैन

आदर्श महिला

शील की प्रतिमूर्ति अनन्तमती

श्री मिश्रीलाल जैन

अयोध्या के एक जिनालय में संस्कृत के सरस एवं पावन श्लोक गूंज रहे थे।

भिन्नात्मनमुपास्यैव परो भवति तादृशः।
वर्ति दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥

(परमात्मा की उपासना करके उन्ही के समान अर्हन्त सिद्ध स्वरूप परमात्मा हो जाता है जैसे कि दीपक की बाती से भिन्न होकर भी दीपक की उपासना से दीपक स्वरूप हो जाती है।)

सहसा एक नारी का करुण स्वर सुनाई पड़ा—माँ आश्रय दो! स्वाध्याय रुक गया। गूँजता हुआ श्लोक मौन पड़ गया। करुण पुकार ने आर्यिका पद्मश्री के हृदय को द्रवित कर दिया। पद्मश्री उठी, देखो द्वार पर एक थकी-हारी युवती खड़ी है। युवती ने पुनः कहा—माँ आश्रय दो! और आर्यिका पद्मश्री का हाथ बरबस युवती के माथे पर चला गया। आर्यिका पद्मश्री ने कहा—भय मुक्त हो बेटी! क्या कष्ट है तुझे? किन्तु इतना सब कुछ सुन पाने की शक्ति उस युवती में कहाँ थी? युवती का अचेतन शरीर पृथ्वी पर गिरने लगा। आर्यिका ने आश्रय दिया। शीतल जल युवती के मुख पर सीचा, तब कहीं युवती को सुध आयी। चेतना लौटते ही युवती उठी। उसने आर्यिका पद्मश्री की चरण रज मस्तक पर चढ़ायी और कहा—मा नमोऽस्तु। आर्यिका पद्मश्री ने युवती के मस्तक पर अपना वरदानी हाथ रखा और शान्त, संयत, गम्भीर स्वर मे कहा—धर्म चिरन्तन आस्था हो, सुखी रहो। कौन हो बेटी तुम? क्या कष्ट है तुम्हे?

युवती के दोनो हाथ श्रद्धा से जुड़ गए, मस्तक झुक गया। उसे ऐसा लगा जैसे प्रकृति ने उसकी रचना मे सब कुछ लगा दिया है। वह बड़े ही करुण स्वर में बोली—माँ मुझ अभागन का परिचय जानकर क्या करेंगी? भगवान महावीर ने अनुग्रह से आपका आश्रय मिल गया, यही मेरा अहोभाग्य और परिचय है।

आर्यिका पद्मश्री ने कहा—बेटी यह जैन चैत्यालय है। यहाँ भगवान महावीर के चरणों मे सभी आश्रय पाते है। संसार मे ऐसा कौन-सा पाप है, जिसका प्रायश्चित्त न हो? तेरी गम्भीर वाणी मुख मण्डल से झाँकती हुई पावनता इस बात का प्रमाण दे रही है कि तुझमें अपूर्व आत्मिक शक्ति का विकास हुआ है। स्वर्ण जितना तपता है, उतना ही निखरता है। भय मुक्त होकर अपनी व्यथा सुना बेटी, अब तू आर्यिका पद्मश्री के संरक्षण में है।

माँ, मैं अनन्तमती हूँ। चम्पापुर नगर-सेठ की इकलौती पुत्री। कर्मो के संयोग से इतने कष्ट हुए कि अब जीवन के प्रति कोई ममता शेष नहीं रही है। नारी को सौन्दर्य देकर प्रकृति ने सबसे बड़ा छल किया है। सौन्दर्य के कारण मैंने इतने कष्ट उठाए है कि सत्य भी स्वप्न सा लगता है। कुछ माह पूर्व चम्पापुर के एक उद्यान में अपनी सहेलियो के साथ प्रभु नेमिकुमार से सम्बन्धित एक लोक गीत गा रही थी:—

मोह तजो, ममता तजो,
उनने तजे हैं सकल परिवार जी।
अन ब्याही राजुल तजी,
वो तो जाए चढ़े गिरनार जी।

किन्तु स्वप्न जल्दी ही बिखर गए। भविष्य अन्धकरमय है। होनहार होकर रहती है। उसी समय एक आकाशगामी विमान उतरा और एक बलिष्ठ पुरुष अनेक सहेलियो के बीच से मुझे उठा ले गया। जब सूर्य की लालिमा अस्ताचल में सिमट रही थी, वह मुझे एक निर्जन वन में छोड़ गया, जाते समय उसने कहा—मैं विद्याधरों के राज्य किन्नरपुर का स्वामी हूँ। किन्नरपुर समीप है।

राज्य के निवासी, सामन्त परिवार के सभी सदस्य मेरे स्वागत की प्रतीक्षा में होंगे। मैं नहीं चाहता कि तू मेरे अगौरव का कारण बने। मैं शीघ्र ही लौट कर आऊँगा और तुझे ले जाऊँगा। और इस तरह मुझे किन्नरपुर के निकट निर्जन वन में छोड़कर चला गया। सम्भव है उसने सोचा हो, इस निर्जन वन मेंमेरी प्रतीक्षा के अतिरिक्त और मार्ग ही क्या हो सकता है? पर दुःखो की कोई सीमा नहीं होती माँ। कुछ समय बाद मैंने एक दैत्याकार श्यामवर्ण मानव को देखा। वह मृगया के शस्त्रों से लैस था। उसके पीछे उसी के आकार जैसे अनेक व्यक्ति थे। मैं भय से कांपने लगी। भाग भी न सकी। इतने में उसने मुझे पकड़ लिया और कन्धे पर टाँग लिया। किन्तु अन्धकार में से ही प्रकाश की किरण फूटती है। रात्रि के पश्चात् भोर होता हैं। वह मुझे अपने गाँव ले गया। भील की पत्नी भील से भी भयंकर थी, किन्तु माँ उसकी भयंकरता के कारण ही मेरी पावनता की रक्षा हो सकी। भील पत्नी ने कहा–इस घर में सौत नही रहेगी। उसने मुझे सुरक्षा में लिया। बहुत स्नेह दिया। भीलनी का व्यवहार स्नेह देखकर मुझे लगा कि इस श्याम तन पर अनेक सौन्दर्य न्योछावर किये जा सकते है। भीलों का राजा सींगों आदि तथा चन्दन की लकड़ियों का व्यापार करता था। एक दिन एक प्रौढ़ व्यक्ति कई सेवकों के साथ लकड़ी खरीदने आया। भीलनी ने उसे बुलाकर कहा—यह एक शीलवती युवती है। इसे कोई निकट की सघन अटवी में हरण करके छोड़ गया है। तुम इसे ले जाओ। प्रतिज्ञा करो कि इसे पुत्री के समान रखोगे तथा सुविधा पाकर इसके माता-पिता के पास पहुँचा दोगे।

मैंने उस व्यापारी की ओर देखा। उसके चेहरे के पीछे से झांकती वासना मेरी दृष्टि से छिपी न रह सकी। मैं भयभीत हुई। मैंने कहा—माँ मैं तुम्हारे पास ही सुखी हूँ। किन्तु इसके पूर्व भीलनी कुछ कहती, वणिक बोला —में पुष्पसेन हूं। मेरी प्रौढ़ावस्था है। तुम्हारी उम्र की पुत्र-पुत्रियों से मेरा आंगन सदैव गूजता रहता है, मैं भय मुक्त हुई और उसके साथ चल दी। मार्ग में पुष्पसेन का व्यवहार बहुत सुखद रहा। मुझे उसने विश्वास दिलाया कि वह शीघ्र ही मुझे मेरे माता-पिता के पास पहुँचा देगा। मार्ग में मुझे पिता के समान व्यवहार किया और कहा—बेटी तू चिन्ता न कर। यदि लोकापवाद के कारण तेरे माता-पिता तुझे स्वीकार नहीं करेंगे तो तू मेरी पुत्री तो है ही। मैं तेरा विवाह किसी उत्तम कुल के युवक से कर दूँगा।

मैंने कहा—धर्म पिता, मेरे विवाह का प्रश्न ही नही उठता। पुष्पसेन ने आश्चर्य से कहा—अभी यौवन काल का प्रारम्भ है। तुझे जीवन के अनेक यौवन-बसन्त देखने हैं। इस वय में विरक्ति? मैं कुछ समझ नहीं पाया। मैंने कहा—बाल्यकाल में अष्टाह्निका पर्व के समय चम्पापुर में एक जैन श्रमण आये थे। मेरी माँ और पिता जी ने अष्टाह्निका पर्व में ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। मैंने भी अनजाने में कहा—पिता जी मैं भी ब्रह्मचर्य लूंगी। पिता हँसी में बोले—तू ले ले बेटी। मैंने जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य स्वीकार कर लिया। बाल्यकाल की स्मृति यौवन की देहरी तक आते-आते मस्तिष्क पर दृढ़ता से छा चुकी है। मैं प्रति वर्ष अष्टाह्निका पर्व पर अपने बाल्यकाल की स्मृति में इस संकल्प को दोहरा लेती हूँ। भगवान महावीर और महासती चन्दनबाला के पावन चरित्र मेरे मस्तिष्क में सदैव गूँजते रहते हैं। ये नित नयी प्रेरणा और शक्ति देते हैं, यदि मुझे मेरे माता-पिता स्वीकार न करें, तो हे धर्म पिता आप मेरे जीवन का भार उठाइये। मुझे किसी जैन आर्यिका के चरणों में स्थान दिला दीजिये। पुष्पसेन ने मेरे कथन पर अट्टहास किया।

तीन दिन गए। मैंने सोचा था अब मेरे दुःखों का अन्त निकट आ गया है। किन्तु दुर्भाग्य ने पीछा नहीं छोड़ा। जिसे मैं धर्म पिता समझी थी, उसने एक दिन अत्यन्त घृणित प्रस्ताव प्रस्ताव रखा—अनन्तमती धर्म और शील की बात छोड़। मैं तुझे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी बना दूंगा। मानव जीव बार-बार नहीं मिलता। यौवन के सुखद क्षण फिर नहीं आते। यौवन का उपभोग करो। यौवन की मादकता का अभी तुझे अनुभव नहीं है। एक बार इन भोगों को प्रारम्भ कर दिया था छोड़ने का नाम भी नही लोगी। धर्म की बाते निस्सार है।

मैंने कहा—धर्म पिता, मानव जीवन बार-बार नहीं

मिलता। भोगे हुए भोगों में तृप्ति कहां ? मानव जन्म अनेक भवों में भटकने के बाद मिलता है। यह जीवन भी संसार के प्रपंचों और विलासिता में बीत गया, तो सब कुछ कौड़ी के मोल बिक जाएगा। पुष्पसेन ने कहा —पगली, ज्ञान की बातें रहने दो। खुशी-खुशी समर्पण नहीं किया, तो मुझे बलपूर्वक अपनी वासना पूर्ति करनी पड़ेगी। मैं तुझे दो दिन की अवधि देता हूं। यदि इस बीच तूने अपना निर्णय नहीं बदला, तो मुझे बल प्रयोग करना पड़ेगा।

मैंने भगवान महावीर का स्मरण कर अन्न-जल छोड़ दिया और यह प्रण किया कि जब तक इस उपसर्ग का निवारण नहीं हो जाएगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगी। भूख-प्यास और मानसिक उत्पीड़न से दो दिन में शरीर की कान्ति क्षीण हो गई। मूर्छा आने लगी। दो दिन बाद पुष्पसेन आया। मेरे शरीर की दशा देखकर घबराया। बोला—तुझे तेरे पिता के पास भेज दूंगा, तू अन्न-जल ग्रहण कर ले।

मैं अपने निश्चय पर अडिग रही। तीसरे दिन वह एक प्रौढ़ा को लेकर आया और बोला—मैंने तुझे घर भेजने की व्यवस्था कर दी है। तू भोजन कर ले और इस महिला के साथ आनन्द पूर्वक अपने घर जा। मैंने कुछ फल-दूध आदि स्वीकार किया। मैं उस महिला के साथ चल दी। किन्तु दुर्भाग्य से वह एक गणिका थी और पिशाच पुष्पसेन ने मुझे उसके हाथों इसलिए सौंपा था कि वह मुझे उसकी वासना पूर्ति के लिए विवश करे। शाम तक मुझे यह ज्ञान न हो सका कि देवसेना एक गणिका है। किन्तु रात्रि के प्रथम प्रहर में अश्लील गीतों की धुनें, पायलों की झंकारें और अट्टहासों ने मुझे सोचने पर विवश कर दिया कि देवसेना एक प्रसिद्ध एवं धनिक गणिका है। रात्रि के प्रथम प्रहर में घुंघरुओं की झंकारें, तबले की थापें, रात्रि के तीसरे पहर थमी। मैं एक पल भी न सो सकी। सुबह-सुबह देवसेना ने एक स्वस्थ धनिक युवक से मेरा परिचय कराया और कहा कि यह बहुत चरित्रवान् व्यक्ति है। इसका आश्रय स्वीकार करो। मैं जानती थी कि मुझे बेचा जा रहा है। किन्तु मैं विवश थी। मैंने सोचा—पहले इस कुट्टनी के घर से मुक्ति प्राप्त करूं। अतः मैं उस पुरुष के साथ चल दी। गणिका के भवन के आगे एक सुसज्जित रथ खड़ा था, उसी में मेरी नूतन यात्रा आरम्भ हुई। रथ एक दुर्ग के आगे रुका और मुझे इसकी चारदीवारी में बन्द कर दिया गया। लम्बी यात्रा के कारण अंग-अंग टूट रहे थे। थकान में पलकें बोझिल थीं। किन्तु प्रकाश की एक किरण सम्बल बन गई। हृदय ने कहा, बुद्धि ने उसका अनुमोदन किया कि जिस अदृश्य शक्ति ने बाल्यकाल में ब्रह्मचर्य अंगीकार करने की प्रेरणा दी थी, वही शक्ति मुझे जीवन के द्वन्द्वों से छुटकारा देगी। मैंने वीर प्रभु का स्मरण किया।

इस पुनीत स्मरण से मेरा सुषुप्त विश्वास लौट आया। मुझे लगा जैसे कोई अज्ञात अलौकिक शक्ति मेरे भय को दूर खींच ले गई है। हृदय को शान्ति मिली, साहस मिला। सहसा किसी के आने की पदचाप सुनाई दी। मैंने देखा कि वही बलिष्ठ राजपुरुष मादकता में बढ़ा चला आ रहा है। उसके चेहरे पर क्रूर वासना खेल रही थी। मैंने णमोकार मंत्र का जप आरम्भ कर दिया। मंत्र का चामत्कारिक प्रभाव हुआ। उसके बढ़ते हुए कदम रुक गए। उसकी वासना न जाने कहां विलीन हो गई। न जाने किस अदृश्य शक्ति ने इतनी जल्दी उसके विचारों में परिवर्तन ला दिया। वह बोला—बहिन क्षमा करना। मैंने अनेक युवतियों के साथ बलात्कार किया है। मेरे इस कक्ष की दीवारें उस पाप की साक्षी है। मेरे कानों में उनकी चीत्कारें आज भी गूंज रही है। आज के पहले कभी मेरे हृदय में दया नहीं आयी। आज मैं तुझे सच्चे हृदयसे बहिन कह कर पुकार रहा हूँ। मुझे अपने शब्दों का अपमान करना नहीं आता है। प्राण भले ही चले जायें, पर बहिन तेरी पावनता पर कोई दाग नहीं आएगा। मैं भगिनी-विहीन हूँ। एक बार मुझे भाई कह कर पुकार।

अनायास ही मेरे हृदय से निकल पड़ा—भैया ! मुझे उसकी वाणी मे प्रायश्चित्त की झलक मिली, किन्तु मैं दूध से जल चुकी थी। मैंने कहा—भैया यदि तुम सच्चे हृदय से प्रायश्चित्त कर रहे हो, यदि तुम क्षत्रिय हो, तो मुझे मार्ग दो ! मुझे इसी समय मुक्त कर दो। वह मार्ग

वीतराग की पूजा क्यों ?

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार

जिसकी पूजा की जाती है वह यदि उस पूजन से प्रसन्न होता है, और प्रसन्ता के फलस्वरूप पूजा करने वाले का कोई काम बना देता अथवा सुधार देता है तो लोक में उसकी पूजा सार्थक समझी जाती है। और पूजा से किसी का प्रसन्न होना भी तभी कहा जा सकता है जब या तो वह उसके बिना अप्रसन्न रहता हो, या उसमें उसकी प्रसन्नता में कुछ वृद्धि होती हो अथवा उससे उसको कोई दूसरे प्रकार का लाभ पहुंचता हो; परन्तु वीतराग देव के विषय में यह सब कुछ भी नहीं कहा जा सकता—वे न किसी पर प्रसन्न होते हैं; न अप्रसन्न और न किसी प्रकार की इच्छा ही रखते हैं; जिसकी पूर्ति-अपूर्ति पर उनकी प्रसन्नता अप्रसन्नतानिर्भर हो। वे सदा ही पूर्ण प्रसन्न रहते हैं—उनकी प्रसन्नता में किसी भी कारण से कोई कमी या वृद्धि नही हो सकती। और जब पूजा अपूजा से वीतराग देव की प्रसन्नता या अप्रसन्नता का कोई सम्बन्ध नहीं। वह उसके द्वारा संभाव्य ही नहीं। तब यह तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता कि पूजा कैसे की जाए, कब की जाय, किन द्रव्यों से की जाय, किन मंत्रों से की जाय, और उसे कौन करे—कौन न करे ? और न यह शंका हो की जा सकती है कि अविधि से पूजा करने पर कोई अनिष्ट घटित हो जागगा। अथवा किसी अधर्म अशोभन, अपावन मनुष्य के पूजा कर लेने पर वह देव नाराज हो जाएगा। और उसकी नाराजगी से उस मनुष्य तथा समूचे समाज को किसी दैवी कोप का भाजन बनना पड़ेगा; क्योंकि ऐसी शंका करने पर वह देव वीतराग ही नहीं ठहरेगा—उसके वीतराग होने से इनकार करना होगा, और उसे भी दूसरे देवी देवताओं की तरह रागी द्वेषी मानना पड़ेगा। इसी से अक्सर लोग जैनियों से कहा करते हैं कि जब तुम्हारा देव परम वीतराग है, उसे पूजा उपासना की कोई जरूरत नहीं। कर्ता धर्ता न होने से किसी को कुछ देता-लेता भी नहीं। तब उसकी पूजा वन्दना क्यो की जाती है ? और उससे क्या नतीजा है।

इन सब बातों को लक्ष्य में रखकर स्वामी, समन्तभद्र जो कि वीतराग देवों की सबसे अधिक पूजा के योग्य समझते थे और स्वयं भी अनेक स्तुति स्तोत्रों के द्वारा उनकी पूजा मे हमेशा सावधान एवं तत्पर रहते थे, अपने स्वयंभू स्तोत्र में लिखते हैं—

न पूजार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दयानाथ नितान्त वैरे।
तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥

अर्थात् हे भगवान् पूजा वन्दना से आपका कोई प्रयोजन नही है, क्योकि आप वीतरागी है—राग का अंश भी आपके आत्मा मे विद्यमान नही है, जिसके कारण किसी की पूजा वन्दना से आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दा से भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है। कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालिया दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नहीं आ सकता, क्योंकि आपकी आत्मा से वैरभाव द्वेषांश बिलकुल निकल गया है। वह उसमे विद्यमान भी नही है। जिससे क्षोभ तथा प्रसन्नता आदि कार्यों का उद्भव हो सकता। ऐसी हालत में निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिए समान है। उनमें आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। यह सब ठीक है। परन्तु फिर

से हट गया, मैं उसी क्षण चल दी और निरन्तर चलती हो रही।

यह है मेरी आत्म-कथा माँ, मुझे आश्रय दो। संसृति के अपावन कोलाहल ने मेरी शान्ति, मेरी आस्था छीन ली है। मुझे भगवान ऋषभ देव की अमृतवाणी का पान कराओ।

आर्यिका पद्मश्री ने अनन्तमती की अनन्त व्यथा को पहिचाना।

वह पद्मश्री का आश्रय पाकर निहाल हो गई। ●

भी हम जो आपकी पूजा वन्दनादि करते है उसका दूसरा हीं कारण है, वह पूजा वन्दनादि आपके लिए नही— आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना, या उसके द्वारा आपको कोई लाभ पहुचाना, यह सब उसका ध्येय नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्यगुणों का स्मरण भावपूर्वक अनुचिन्तन—जो हमारे चित्त को—चिद्रूप-आत्मा को—पापमलो से छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इम तरह हम उसके द्वारा अपने आत्मा के विकास की साधना करते हैं। इसी से पद्य के उत्तरार्ध में यह सैद्धान्तिक घोषणा की गई है कि आपके पुण्य गुणो का स्मरणहमारे पापमल से मलिन आत्मा को निर्मल करता है—उसके विकास मे सचमुच सहायक होता है।

यहाँ वीतराग भगवान् के पुण्यगुणों से स्मरण से पापमल से मलिन आत्मा के निर्मल होने की जो बात कही गई है वह बड़ी रहस्यपूर्ण है और उसमें जैनधर्म के आत्मवाद और कर्मवाद, विकासवाद और उपासनावाद जैसे सिद्धान्तों का बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्म रूपों में सन्निहित है। इस विषय में मैंने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी उपासना तत्त्व और सिद्धि सोपान जैसी पुस्तको मे किया है—स्वयम्भू स्तोत्र की प्रभावना के भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि रहस्य नामक प्रकरण से भी पाठक उसे जान सकते हैं। यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्र ने वीतराग देव के जिन पुण्य गुणों के स्मरण की बात कही है वे अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि आत्मा के असाधारण गुण है, जो द्रव्यदृष्टि से सब आत्माओं के समान होने पर सबकी समान सम्पत्ति है और सभी भव्य जीव उन्हे प्राप्त कर सकते है। जिन पापमलों ने उन गुणों को आच्छादित अर रखा है वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, योगबल से जिन महात्माओं ने उन कर्म मलों को दग्ध करके आत्मगुणों का पूर्ण विकास किया है वे ही पूर्ण विकसित, सिद्धात्मा एवं वीतराग कहे जा सकते हैं। शेष सब संसारी जीव अविकसित अथवा अल्पविकसितादि दशाओं में है—वे अपनी आत्मनिधि को प्रायः भूले हुए है सिद्धात्माओं के विकसित गुणों पर से वे आत्मगुणों का परिचय प्राप्त करते हैं और फिर उनमें अनुराग बढ़ाकर उन्ही साधनों द्वारा उन गुणों की प्राप्ति का यत्न करते है, जिनके द्वारा उन सिद्धात्माओं ने किया था। और इस लिए वे सिद्धात्मा वीतराग देव आत्म-विकास के इच्छुक संसारी आत्माओ के लिए आदर्शरूप होते हैं। आत्मगुणों के परिचयादि मे सहायक होने से उनके उपकारी होते है और उस वक्त तक के उनके आराध्य रहते है जब तक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूप से विकसित न हो जाए इसी से स्वामी समन्तभद्र ने "ततः स्वनिःश्रेय-संभावना परैर्बुधप्रवेकैर्जिन शीतलेड्यसे। (स्व० ५०) इस वाक्य द्वारा उन बुध जन-श्रेष्ठों तक के लिए वीतराग देव की पूजा को आवश्यक बतलाया है। जो अपने निःश्रेयस की—आत्माविकास की भावना में सदा सावधान रहते है। और एक दूसरे पद्य 'स्तुतिः स्तोतुः साधोः' (स्व० ११६) मे वीतराग देव की इस पूजा भक्ति को कुशल-परिणामो को हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्ग का सुलभ तथा स्वाधीन होना तक लिखा है। साथ ही, उसी स्तोत्रगत नीचे के एक पद्य में वे योग बल से आठों पापमलों को दूर करके संसार में न पाए जाने वाले ऐसे परम सौख्य प्राप्त हुए सिद्धात्माओं का स्मरण करते हुए अपने लिए तद्रूप होने की स्पष्ट भावना भी करते है जो कि जो कि वीतराग देव की पूजा-उपासना का सच्चा रूप है :—

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमययोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्भवतु ममाऽपि भवोपशान्तये।

स्वामी समन्तभद्र के इन सब विचारों से यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वीतराग देव की उपासना की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है।

दीवान रूपकिशोर जैन की सार्वजनिक साहित्यसेवा

—अगरचन्द नाहटा

प्राचीन जैन साहित्यकारों ने जो विविध भाषाओं में एवं अनेक विषयों का साहित्य रचकर भारतीय साहित्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया है, उसकी तो कुछ जानकारी प्रकाश मे आई है। पर गत सौ पचास वर्षों में भी जो अनेक जैन साहित्यकार हुए हैं, उनकी साहित्य सेवा का परिचायक कोई ग्रन्थ तैयार नही किया गया। आधुनिक कुछ जैन कवियों की कविताओं का संग्रह तो भारतीय ज्ञानपीठ से निकला है। यद्यपि वह काफी अपूर्ण है फिर भी कुछ प्रतिनिधि कवियों की जानकारी उससे मिल जाती है। पर गद्य की अनेक विधाओं जैसे—कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि भी कई जैन लेखकों ने अच्छी सख्या मे रचे है, उनके सम्बन्ध मे हमारी जानकारी बहुत ही कम है। अत. आवश्यकता है—गत सौ वर्षों में जो भी जैन साहित्यकार हुए है उनका संक्षिप्त परिचय और उनकी रचनाओ की सूची वाला एक संग्रह ग्रन्थ शीघ्र ही तैयार करके प्रकाशित किया जाए।

आधुनिक जैन साहित्यकारों के साहित्य को मुख्यतया चार-पांच भागो मे विभक्त किया जा सकता है। जैसे साधु-साध्वियों, चाहे ये किसी भी सम्प्रदाय या गच्छ के हों तथा अन्य त्यागी वर्ग में से जिन जिन ने उल्लेखनीय रचनाएँ की हैं, उनका एक विभाग रखा जा सकता हैं। इसी तरह भाषा की दृष्टि से प्राकृत, संस्कृत गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, मराठी, कन्नड आदि भाषाओं में जिन जिन जैन लेखकों ने साहित्य निर्माण किया है उनका दूसरा एक विभाग रखा जाय। उसी तरह साहित्य की अनेक विधाओं जैसे महाकाव्य, प्रबन्ध काव्य, फुटकर कविता, जीवन चरित्र, प्रवचन व उपदेशिक साहित्य, प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद व टीका विवेचन तथा कथा, कहानी, एकांकी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, शोध आदि प्रबन्ध आदि विविध विषयों के साहित्य का परिचय एक स्वतन्त्र विभाग में हो। विद्वान कवि व लेखक गृहस्थ जैन श्रावक-श्राविकाओं के साहित्य के भी दो विभाग किए जा सकते हैं। एक में जैन सम्बन्धी साहित्य और दूसरा सार्वजनिक साहित्य।

जैन साहित्यकारों ने गत सौ वर्षों में जो भी साहित्य निर्माण किया है उनमें से प्रकाशित साहित्य की जानकारी तो प्राप्त करना सुगम है पर अप्रकाशित साहित्य की जानकारी का पता लगाना अत्यन्त कठिन है। प्रकाशित जैन ग्रन्थों की जो-जो उल्लेखनीय सूचियां छपी हैं उनसे तथा प्रमुख प्रकाशकों और बुकसेलरों के सूची पत्रों से तथा जैन जैनेतर ग्रंथालयों व शास्त्र भण्डारों आदि से जैन ग्रन्थकारों और उनके रचनाओं की सूची तैयार की जानी चाहिये। उन ग्रंथकारों का परिचय कुछ तो जैन पत्र-पत्रिकाओं से एवं कुछ हिन्दी, गुजराती के साहित्यकार परिचय सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों में से संग्रहीत किया जा सकता है। पर यह सब कार्यवाही सामर्थ्य और द्रव्य मे साध्य है फिर भी करने योग्य ही है।

अभी-अभी प्रसिद्ध हिन्दी पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का अभिनन्दन ग्रन्थ जो "प्रेरक-साधक" के नाम से सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित हुआ है, देखने मे आया। उसमे श्री 'हरिहरस्वरूप विनोद' लिखित दीवान-रूपकिशोर जैन की साहित्य सेवा सम्बन्धी एक लेख प्रकाशित हुआ है। उससे दीवान रूपकिशोर जैन ने जो सर्वजनोपयोगी ९० पुस्तकों की रचना की है उसका कुछ विवरण ज्ञात हुआ। उसे अन्य जैन बन्धुओं के लिए भी उपयोगी समझकर यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

उनके लेख में दी हुई रचनाओं की सूची में जैन सम्बन्धी कोई ग्रन्थ नहीं है। हां वीर आदि जैन पत्रों का सम्पादन उन्होंने अवश्य किया था। ९० वर्ष की आयु में १२ दिसम्बर को उनका देहांत हुआ अतः उनके

वंशजों से उनकी अप्रकाशित और जैन सम्बन्धी रचनाओं का पता लगाना चाहिए। उनकी जीवनी के सम्बन्ध मे भी खोज करने पर बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें उनके वंशजों और साथियों से मिल सकती है, उनको भी प्रकाश मे लाना चाहिए। अन्तिम दिनो मे वे अपने पुत्रों के पास दिल्ली चले आये और वहीं रहते थे अतः दिल्ली मे उनके पुत्रों से सम्बन्ध स्थापित करने पर नई और ज्ञातार्थ जानकारी अवश्य ही सहज रूप से प्राप्त हो सकती है। आशा है इस ओर शीघ्र ध्यान दिया जायगा।

दीवान रूपकिशोर जैन

हिन्दी के शैशवकाल मे जिन साहित्यकारों ने उसे जन-जन तक पहुंचाया और अनुवाद एवं मौलिक ग्रन्थों की रचना कर उसे समृद्ध बनाया, उनमें 'अलिफलैला' के प्रथम हिन्दी अनुवाद दीवान रूपकिशोर का नाम भी उल्लेखनीय है। स्व० दीवान रूपकिशीर, मुशी प्रेमचन्द के समकालीन थे। उर्दू 'जमाना' पर प्रेमचन्द 'नवाबराय' उपनाम से लिखते थे। उसी पत्र मे दीवानजी की 'किशोर' नाम से लिखा करते थे। जिस प्रेम्चन्द ने उर्दू से हिन्दी जगत मे आकर ख्याति प्राप्त की, उसी प्रकार दीवानजी ने भी पहले उर्दू मे और फिर बाद मे हिन्दी मे लिखा और आजीवन हिन्दी की सेवा में जुटे रहे।

दीवान रूपकिशोर का जन्म अलीगढ़ जिले के एक प्रसिद्ध कस्बे विजयगढ में १३ जून १८८४ को हुआ। उनके पिता दीवान इन्द्रप्रसाद जिले के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे और उनकी गणना ताल्लुकेदारों मे होती थी। बालक रूपकिशोर ने १८६० मे पढ़ना आरम्भ किया। उन्हे अरबी और फारसी सिखाई गई। १८६७ में उन्होने हिन्दी पढ़ना आरम्भ किया और कुशाग्र बुद्धि होने के कारण शीघ्र ही उनमे दक्ष हो गये।

तत्कालीन परिस्थितियो और उच्च घरानों की परम्परा के अनुसार उनकी शिक्षा घर पर ही अधिक हुई। मिडिल पास करने के बाद वे निरन्तर स्वाध्याय में लगे रहे और उन्होने अरबी, फारसी तथा हिन्दी का सम्यक ज्ञान अर्जित किया। शरत और टैगोर का अध्ययन करने क लिए उन्होंने बंगला भाषा सीखी। इस प्रकार कुल मिलाकर वे दस भाषाएँ जानते थे।

प्रत्येक भाषा मे उनकी लिखावट बहुत सुन्दर होती थी। सम्पन्न जमींदार का पुत्र होने के कारण उन्हें सब प्रकार की सुविधाएं प्राप्त थीं, इसलिए उनका सारा जीवन लिखने-पढने में ही बीता। उन्होने १६०६ मे आयुर्वेद का अध्ययन किया और १७०७ मे फोटोग्राफी भी सीखी। एक प्रकार से वे एक कुशल चित्रकार थे। आयुर्वेद उन्होंने पीड़ित वर्ग को औषधि देने के लिए सीखा था।

दीवान रूपकिशोर का हृदय बडा संवेदनशील था। कहते हैं कि एक बार एक किसान को बेदखल किया गया। क्योंकि उस पर दस हजार रुपया बकाया था। वह अपने पूरे परिवार के साथ विजयगढ़ आ गया और गिड़गिड़ाने लगा। दीवानजी ने न केवल उसे माफ ही कर दिया, बल्कि एक गाय देकर उसे बिदा किया। उसके बाद उन्होंने किसी किसान पर जोर जबर्दस्ती नहीं की।

जमीदारी के कार्य की देखभाल के साथ-साथ उनका साहित्य सृजन चलता रहा। उन्होंने कुल मिलाकर ६० पुस्तकों की रचना की। कहानियाँ, नाटक, उपन्यास सम्बन्धी सभी क्षेत्रो में कलम उठाकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। १६०६ मे उन्होने 'चारुबाला' नामक उपन्यास उर्दू भाषा मे लिखा जो अप्राप्य है। इसी वर्ष 'गुलशन ए किशोर' लिखा। उनके द्वारा हिन्दी भाषा में १३ उपन्यास बताये जाते है, जो सुनील कन्या (१६१४), सूर्यकुमार सम्भव (१६१५), भारतीय वीरांगणा, शील प्रबोध, अवंति कुमारी, कुदसियर बेगम, घूघट वाली तथा श्रीदेवी। फारसी भाषा की प्रसिद्ध पुस्तक जो एक हजार पृष्ठों की बताई जाती है। 'अलिफ लैला का हिन्दी मे अनुवाद किया। यह अनुवाद काफी लोकप्रिय हुआ।

'बारहमासी' रूपकिशोर नामक काव्य और 'किशोर पूर्णिमा' कहानी संग्रह भी उन्हीं की रचनाएं है। उन्होंने कुलल्लु वैद्यराज (रूपक) और सब्जपरी, गुलफाम (स्वांग) भी लिखे। ज्योतिष, शरीर विज्ञान आदि पर भी उनकी रचनाएं मिलती है। इस प्रकार १६०६ से लेकर १६२५ तक उन्होंने लिखना जारी रखा। उनके लेख उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में स्थान पाते रहे।

(शेष पृ० २३२ पर)

तत्त्व क्या है ?

आचार्य तुलसी

मानव की आत्मा में अमित प्रकाश है। उसमें अन्वेषण और पथप्रदर्शन की शक्ति है। ज्ञान-विज्ञान का अक्षय कोष मानव बुद्धि का सुफल है। मानव की वाणी और विचारों ने साहित्य, दर्शन और विज्ञान को जन्म दिया। इसीलिए मानव शक्ति और अभिव्यक्ति का केन्द्र माना गया है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों का स्रष्टा मानव है। बाह्य दृष्टियो वाले व्यक्तियो ने चेतन सत्ता को भुलाकर जड़ शक्ति में विश्वास किया और आत्मा का अस्तित्व मानने वाले बाहरी शक्तियो का अनुभव करते हुए भी अन्तरंग अन्वेषण से विमुख न हुए।

जीवन क्या है, हम क्या है, संसार क्या है, प्रश्न उठे और समाहित हुए। समाधान में दोनों वादों ने भाग लिया। भौतिकवादी वर्ग जड़ शक्ति का प्राधान्य मानकर सब कुछ सुलझाने की चेष्टाएं कर रहा है। आत्मवादियो का दृष्टि बिन्दु आत्मा पर टिका हुआ रहा है और वे उस अचेतन अरूपी सत्ता के सहारे जटिल गुत्थियाँ सुलझाते हैं।

भौतिकवाद की जड़ मे वर्तमान जीवन का ही मूल्य आँका जाता है अतः वहाँ मुड़कर आगे बढ़कर दृष्टि दौड़ाने की आवश्यकता नहीं रहती। अध्यात्मवाद की भित्ति आत्मा है। आत्मा के साथ जन्मान्तर, कर्म, स्वर्ग, नरक और मोक्ष की कड़ियां जुड़ी हुई है। अतीत के जीवन भुलाए नहीं जा सकते और भविष्य जीवन की ओर से आँखें नही मूदी जा सकतीं।

आध्यात्मिक क्षेत्र मे धर्म-कर्म कल्पना की सृष्टि नही, वे तात्विक तथ्य है।

आज के युग का प्रमुख दृष्टिकोण जड़वादी है। उसमें त्याग और संयम की प्रमुखता नहीं है। त्याग का प्रयोग किया जाता है पर संयम के लिए नही। भोगों की वृद्धि के लिए। भोग सामग्री की कमी हो, जीवन के उपयोगी साधन सबको सुलभ नहीं। उसी दशा में दूसरों के लिए अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग करना उनका लक्ष्य है। आध्यात्मिक त्याग का उद्देश्य आत्मसंयम है। विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख-साधनों से फलीभूत हो, ऐश्वर्य से दब रहा हो' धन वैभव से लद रहा हो तो भी आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए भोगमय सुख-साधनों को ठुकराता हुआ आत्मसंयम के मार्ग पर अग्रसर होता है।

भौतिकवाद मे समानता की भावना है। फिर भी उसमे अहिंसा के लिए कोई स्थान नही। समानता भी भौतिकता तक सीमित है। आत्मवादी भौतिक समानता के उपरान्त भी हिंसा के दोष से बचना चाहता है। इन दोनों में क्या और कितना भेद है ? इसका पूर्व दर्शित प्रणाली के अनुसार सरलता से पता लगाया जा सकता है।

आज का युग विज्ञान के इंगित पर चल रहा है। उसकी हाँ की ओर ना कि प्रतिध्वनि में ही लोग अपना श्रेय समझते है। मुझे विज्ञान अप्रिय नहीं और न मैं उसे घृणा की दृष्टि से देखता हूं। फिर भी उसमे जो त्रुटि है, वह तो कहनी ही चाहिए। दोष अन्ततः दोष ही है। चाहे वह कहीं भी क्यों न हो ? वर्तमान विज्ञान भौतिकवादी दृष्टिकोण के सहारे पनपा है इसलिए वह जड़ तत्त्वो की छानवीन में लगा हुआ है। आत्मा अन्वेषण से उदासीन है। यदि यह बात न होतो तो आज इतना संघर्ष न हुआ होता। भौतिकता स्वार्थमूलक है। स्वार्थ साधना में संघर्ष हुए बिना नही रहते। आध्यात्मिकता का लक्ष्य परमार्थ है—इसलिए वहाँ संघर्षों का अन्त होता है। यह सच है कि संसारी प्राणी पौद्गलिक वस्तुओं से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता फिर भी उन पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। धर्म के अतिरिक्त अन्य

कोई तत्त्व नियन्ता नही हो सकता।

धर्म विशाल हृदय है। अहिंसा उसकी आत्मा है—प्राणीमात्र के साथ विरोध न करो, उनको आत्मवत् समझो। हिंसा मृत्यु है मोह बन्धन है, बैर है। जो दूसरे की हिंसा करता है, वह अपना बैर बढ़ाता है। विज्ञान के बड़े-बड़े घातक और डरावने अस्त्र-शस्त्र उत्पन्न किए है। उनसे भय बढ़ा, आतंक बढ़ा और आशंकाएं बढी। एक समान दूसरे समाज को, एक जाति दूसरी जाति को और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को संदिग्ध दृष्टि से निहार रहा है। हिंसा ने संसार का सारा खाका ही बदल डाला। सिंह भय के मारे भागा जा रहा है कि कही काले माथे वाला मुझे मार न दे। मनुष्य इस भय से मरा जा रहा है कि कहीं बाघ मुझे खा न जाये। आज के संसार की भी यही मनोदशा है। इस स्थिति मे कौन अभय दे सकता है। आशंका की लपट में झुलसते आए जगत को कौन उबार सकता है। इस ओर जनता ध्यान दे, सोचे और समझे।

सन्तोष धर्म का जीवन है। इच्छा आकाश के समान अनन्त है। उसे सीमित करो। संग्रह भावना मत रक्खो। अधिक सग्रह से जीवन अधिक दुखी बनेगा। परिग्रह के साथ माया, कपट, अभिमान, दण्ड और दुर्भावनाए बढ़ती है। सारे लोक में परिग्रह के समान दूसरी निबिड जंजीर कोई नहीं: अर्थलोलुपता आज चरम सीमा पर पहुंची हुई है। दुनिया के बड़े-बड़े मस्तिष्क अर्थोपार्जन की व्यायाम विधि से संलग्न है। एक दूसरे को हड़पना चाहता है। निगलना चाहता है। भूमि उतनी कृपण नही बनी है, जितनी मानव की जठराग्नि तेज बनी है। वह अनन्त धनराशि को पचा सकती है। सामग्री अल्प है। भोक्ता अधिक है। संचय की भावना उनसे भी अधिक है। इस लिए तो वर्ग युद्ध छिड रहा है। नये-नये बाद जन्म ले रहे है। स्पर्धा और संघर्ष की चिनगारियाँ उछल रही है। आश्चर्य है, दुनिया इस ओर ध्यान नहीं देती कि धन केवल जीवन निर्वाह का साधन है। साध्य नहीं। साध्य तो कुछ और ही है। सब प्राणी सुख चाहते है। वह उनका साध्य है। सुख आत्मा का धर्म है। शरीर का नहीं। वह सन्तोष से पैदा होता है, धन से नहीं, चेतो अब भी चेतो। शुष्क बुद्धिवाद में जीवन की बहुमूल्य घड़ियाँ यों ही मत खोओ।

लोग कहते हैं—यह तर्कवादी युग है। मुझे लगता है यह युग अनुकरण प्रेमी है। अनुकरण और तर्क की जोड़ नहीं बनती। भेड़ उक पशु हैं। उसकी अनुकरण क्रिया क्षम्य हो सकती है। एक भेड़ के पीछे अनेक भेंड़े बोलें, यह नही अखरता। बुद्धिशील मानव बिना सोचे-समझे, किसी की हाँ में हाँ मिलाये यह अखरने जैसी बात है। कुछ भौतिकवादियों ने धर्म को अफीम कहा तो बहुत सारे लोग प्रवाह में बह चले। धर्म अफीम क्यों है ? धर्म अनावश्यक क्यों है ? यह भी कभी सोचा ? यदि सोचा तो उसमें अफीम जैसी क्या वस्तु मिली। रोग सोहन के है और इलाज मोहन का किया जाए, यह विफल चेष्टा है। धर्म से न तो खून की नदियाँ बहीं और न लड़ाइयाँ हुई। धर्म ने न तो धन के कोष जमा किये और न गगन-चुम्बी अट्टालिकायें खड़ी की। यह सब स्वार्थ की काली करतूतें है। स्वार्थियों के हथकण्डे हैं। उन्होंने धर्म को अपनी स्वार्थसिद्धि का साधन बनाया और उनके नाम पर बडे अन्याय और अत्याचार किए। उनके स्वार्थ सधे धर्म बदनाम हुआ। लोगों की उस पर से आस्था हटी। धर्म हिंसा और परिग्रह का सबसे बड़ा विरोधी है। उससे हमें शान्ति, सद्भावना और विश्व मैत्री का संदेश मिला है। धर्म वाक्यों ने परिग्रह की जितनी भर्त्सना की है, उतनी किसी भी वाद ने नहीं की। सभी वाद धन लोलुप हैं। धर्म को धन की चाह नहीं। धन तुम्हारी रक्षा नही कर सकता। धन दुख का दाता है, अनर्थ का मूल है। ये वाक्य धार्मिक क्षेत्र के सिवाय और कही भी नही मिल सकते। धर्म से घृणा मत करो—डरो नहीं। धर्म के नाम पर जो विकार फैला हुआ है, उसकी शल्य चिकित्सा कर डालो। धर्म सोना है, उसे उठा लो। वह उपेक्षा की वस्तु नहीं।

परोक्ष रूप से धर्म का स्वरूप कई बार आ चुका है। प्रत्यक्षतः उसका पारिमाणिक रूप जान लेना चाहिए। "आत्मशुद्धि साधनं धर्मः"—आत्मशुद्धि के साधन—अहिंसा, समय और तपस्याएं ये धर्म ही हैं। व्यवहार में धर्म, अहिंसा, सत्य, आचार्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन

पाँच रूपों में अवतरित होता है। क्षमा, सहिष्णुता, नम्रता आदि गुण इसके परिवार हैं। धर्म व्यक्तिनिष्ठ है। धर्म का चरम लक्ष्य मोक्ष है। इसका अर्थ यह नहीं कि वर्तमान जीवन में उसका कुछ फल ही सहीं होता। धर्मनिष्ठ व्यक्ति अपना जीवनस्तर ऊंचा उठा सकता है। मैं उस जीवन स्तर को ऊँचा मानता हूँ, जो अधिक से अधिक त्यागपूर्ण और सन्तोषमय हो। जिनकी जीवन आवश्यकताएं बढ़ी नहीं है, जिन्हें योग साधन अधिक उपलब्ध हैं, मैं उनका जीवन स्तर ऊँचा नहीं मानता क्योंकि वस्तुतः वे सुखी नहीं है। अधिक आवश्यकताओ में सुख कम होता है और कम आवश्यकताओं में सुख की मात्रा बढ़ती है। अधिक आवश्यकता वाला व्यक्ति राष्ट्र या समाज के शोषक हुए बिना नही रह सकते।

धर्म के विषय में मनुष्य जितना भ्रान्त है। उतना सम्भवतः अन्य विषयों में नहीं है। इसलिए धर्म के कुछ अंगों का सूत्र रूप में संकलन करना उचित होगा। जो आत्मशुद्धि का साधन है, वह धर्म है। धर्मस्वरूप है—त्याग और तपस्या। धर्म व्यक्ति से पृथक् नही है। धर्म का आश्रय वह व्यक्ति है, जी अहिंसक और सन्तुष्ट है। धर्म से आचरण पवित्र होते है। धर्म प्रेम या स्नेह से ऊपर की वस्तु है। वह समता से ओत-प्रोत है। धर्म का लक्ष्य भौतिक सुख प्राप्ति नही, आत्म विकास है। धर्म प्रत्येक भौतिक कर्तव्य को सीमित करता है। धर्म परलोक के लिए नही जीवन के प्रत्येक क्षण को सुधारने के लिए धर्म धनिक एवं उच्च वर्ग वालो के लिए ही नही अपितु सबके लिए है। धर्म सबके लिए एक है। उसमे तन-मन का भेद नही है। धर्म साधना के लिए धन की आवश्यक नहीं। शुद्ध भावना एवं सरलता आवश्यक है। ऊपर भी पंक्तियों में मैंने जिस धर्म का उल्लेख किया है, वह स्थायी है, उपकारी है, दीन-हीन के लिए आदरणीय है।

वर्तमान का राजनीतिक जीवन अति विषाक्त है। उसका विषैला धर्म सब क्षेत्रो को छू रहा है। धर्म भी उससे वंचित नही है। स्वार्थ की भूमिकाओं में पले जिसे राजनीतिकवाद धर्म का नाश करने पर तुले हुए हैं।

भौतिक सुख समृद्धि के लिए आत्मा का अस्तित्व मिटाने का दृढ़ संकल्प किए हुए है, वास्तिकता के काले बादल अतीत की अपेक्षा आज अधिक घने और गहरे हैं। इस दशा में यदि धार्मिकों ने धर्म की मौलिकता पर ध्यान न दिया तो उन्हें भयंकर विपत्तियाँ झेलनी पड़ेंगी। जनता में धर्म की आस्था है, धर्म बहुत प्रिय है पर रोटी का प्रश्न सुलझाने की ओर में जो नास्तिकता का प्रचार किया जा रहा है, धर्म पर गूढ़ प्रहार किया जा रहा है। वह उपेक्षा की वस्तु नही है।

मैं उह राजनीतिज्ञों को भी एक चेतावनी देता हू कि वे हिसक क्रान्ति ही सब समस्याओ का समुचित साधन है, इस भ्रान्ति को निकाल फेंकें। अन्यथा उन्हे स्वयं कटु परिणाम भोगना होगा। स्थायी शान्ति के शान्ति के साधन अहिसा, क्षमता और हृदय परिवर्तन है। हिसक क्रान्तियों से उच्छृङ्खलता का प्रसार होता है।

आज के हिंसक से कल का हिंसक अधिक क्रूर होगा, अधिक सुख लोलुप होगा। फिर कैसे शान्ति रह सकेगी —यह कम समझने की बात नहीं है। स्थिति चक्र परिवर्तनशील है। अहिंसा हीन कोई भी बाद सुखद नही हो सकता यह निश्चित है। वर्ग संघर्ष जैसी विकट समस्या अहिसा और सन्तोष का समन्वय किए बिना स्थायी रूप से सुलझ नहीं सकती। यह भी निश्चित है। हिसावादी हिंसा छोड़ें और परिग्रहवादी अर्थ-लोभ छोडें, तभी स्थिति साधारण ही सकती है। प्राणी मात्र को अब अहिसा और अपरिग्रह की मर्यादा समझनी है। हिसा और परिग्रह का अभियान करते-करते आज का मानव थक चुका है। अब उसे विश्रान्ति की आवश्यकता है। शान्ति की इच्छा है।

मानव सुख का आर्थी है। तो आत्मा को पहिचाने। अशान्ति को हेतुभूत भौतिक लालसाओं को त्यागे, धर्म का अन्वेषण करे। क्षणिक सुख-सुविधाओ के लिए शाश्वत तत्त्व को भुला देना बुद्धिमानी नहीं है। धर्म धनी और गरीब, मालिक और मजदूर, साम्राज्यवादी और साम्यवादी इन सबके लिए कल्याण का प्रशस्त पथ है, सब धार्मिक बनें। पौद्गलिक सुखों में अति आसक्त न बनें। वह जीवन क सबसे बड़ा गूढ़ रहस्य है।

यही सत्य और सनातन तत्त्व है।

जैन मतानुसार तप की व्याख्या

रिषभदास रांका

साधना-मार्ग में तप का बहुत अधिक महत्त्व है। क्योकि शरीर को कसकर उसे आत्म-विकास का साधन बनाने में वह प्रमुख सहायक है। तप का अर्थ शरीर-कष्ट नहीं है। वही तप-साधना मे सहायक होता है, जिससे शरीर और मन की प्रसन्नता बढ़े। इसलिए तप के भेदो को जानना जरूरी है। तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप के छह भेद है—अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्या, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश। आभ्यान्तर तप के छह भेद है—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

ध्येय की प्राप्ति तथा वासनाओं को क्षीण करने के सभी प्रयत्नों को तप कहते है। ये प्रयत्न तन और मन दोनों से किये जाते हैं। यदि मन का साथ मिले बिना शरीर से किया जाने वाला तप देह-दण्ड या काय-क्लेश के सिवा कुछ न होगा, इसलिए शारीरिक या बाह्य तपश्चर्या से मानसिक या आभ्यन्तर तप का अधिक महत्त्व है। लेकिन बाह्य तप भी आवश्यक होता है।

अनशन—बिना आहार के शरीर टिक नही सकता। शरीर का सन्तुलन बिगड़ने न पाये और वह कर्म करने योग्य अप्रमादी बना रहे, इस दृष्टि से बीच-बीच मे शरीर को आहार न देना अथवा उपवास रखना आवश्यक है। उपवास का अर्थ है आत्मा के निकट वास करना। यानी इस नाशवान् शरीर से भिन्न सर्वशक्तिमान और अमर आत्मा का अनुभव करना। जब ऐसा लगे कि शरीर निरुपयोगी और भार रूप हो गया है तब उसके त्याग के लिए अनशन किया जाता है। इन सब बातों का एक ही उद्देश्य है कि हम शरीर की नश्वरता और आत्मा मी अमरता को समझें और उसका विकास करें। अनशन या उपवास का अर्थ केवल भोजन का त्याग ही नहीं है। शरीर को विश्राम देकर उसे अधिक सेवाक्षम बनाना भी आवश्यक है। स्वास्थ्य ठीक रखना साधक का का कर्तव्य भी है।

अवमौदर्य—जब साधक को लगे कि अनशन करने की आवश्यकता नही है और ऊनोदरी से, कम भोजन से, एक बार खाने से काम चल सकता है तो वह ऐसा करता है। यह अवमौदर्य कहलाता है।

वृत्ति-परिसंख्या—भोजन स्वादिष्ट हो, बढ़िया हो, गरिष्ठ हो तो जीभ पर नियन्त्रण रखना कठिन हो जाता है। लालसा बढ जाती है और तब भोजन में अनेक पदार्थ शामिल ही जाते है। इस वृत्ति पर नियन्त्रण रखने के लिए कहा गया है कि खाद्य पदार्थों की संख्या तथा परिमाण तय करना चाहिए। साधक कम से कम वस्तुओं को रखने प्रयत्न करता है, जरूरत मे ज्यादह चीजो का लालच छोडता है।

रस परित्याग—साधक की चर्या कम से कम आहार और कम से कम पदार्थों से चलनी चाहिए। साधना मे स्वाद भी बहुत बाधा पहुंचाता है, इसलिए तपश्चर्या मे रस त्याग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिससे विकार बढते हो, इंद्रियां प्रबल होती हों, वैसा आहार न करना चाहिए। छह प्रकार का तप है। इससे विषयों के सेवन का रस भी कम होता है।

विविक्त शय्यासन—तपस्या मे स्थान भी बाधक होता है। यानी आस-पास का वातावरण और परिस्थिति सहायक होनी चाहिए। साधक एकान्त मे रह सके तो अच्छा। कोलाहल पूर्ण, अस्वस्थ्य स्थान तथा जहां तरह-तरह की बाधाएँ खड़ी हों ऐसा स्थान तपस्वी के लिए अनुकूल नहीं होता। एकान्त, पहाड, सुनसान, पेड़ के नीचे साधना तेजी मे होती है। अधिक नींद भी साधना में बाधक है।

काय क्लेश—ठण्ड में ठण्ड का, गर्मी मे गर्मी का उपद्रव न हो, इसलिए शरीर को विविध आसनों द्वारा सहनशील बनाए बिना वैसे प्रसंग आ पड़ने पर साधक विचलित हो जाता हैं। अतः शरीर को कष्ट सहने के योग बनाने

के प्रयत्न का भी साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। शरीर की नियन्त्रण में रखने तथा इधर-उधर के प्रलोभनों या प्रमाद में न डूबने देने के लिए काया को कष्ट में डालना उचित ही है। यह एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यापार ही है। इसे काय योग भी कह सकते है।

आभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्त—जीवन शुद्धि और आत्म विकास में प्रायश्चित्त का बहुत महत्त्व है। श्रमण परम्परा मे इस पर बहुत जोर दिया गया है। भगवान महावीर ने तो प्रायश्चित्त का दैनिक कार्यों में जोड़कर एक प्रकार से उसे जीवन का अंग ही बना दिया है। हम जो कुछ करते है वह सावधानी रखने के बाद भी एकदम शुद्ध और निर्दोष नहीं होता, गलतियाँ हो ही जाती है। गलतियाँ अज्ञान से भी होतो है, स्वभाव दोष से भी होती है और प्रमाद से भी होती है। भविष्य में ऐसी गलतियों से बचने के लिए उनकी आलोचना करना, कारण को जानने और उससे बचने का प्रयत्न करना उपयोगी है।

गलती हो जाने पर उसके बारे में अनुताप करके पुन वैसी गलती न होने देने का सकल्प करना और सावधानी रखना साधक को आगे बढ़ने में सहायक है। जो व्यक्ति भूलों से सबक लेता है, उसका निश्चय से विकास होता है।

जो व्यक्ति या साधक अपनी चर्या में नियमित रहता है, उससे गलतियाँ बहुत कम होती है। आहार-विहार और आचार-विचार का निश्चित और नियमित रहना अत्यन्त आवश्यक है। यह सब विवेक से ही सम्भव है। भूल से बचने के लिए विवेक बहुत बड़ा सहारा है।

साधक साधना की दिशा में तब तक प्रगति नही कर सकता, जब तक वह शरीर और शरीर सम्बन्धी व्यापारो से आसक्ति नही हटा लेता। शरीर, मन और इन्द्रियो की प्रवृत्तियां तो चालू ही रहती हैं, लेकिन इनसे आत्मा को हटा कर आत्म-चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए। जब भी कोई बुरे विकार या स्वप्न आदि आ जायें, तब उन दोषों के निवारण के लिए ध्यान करना प्रायश्चित्त कहलाता है।

प्रयत्न करते रहने और अप्रमत्त रहने पर भी साधक से दोष हो ही जाते है। व्रत का भंग हो ही जाता है, संकल्पों में ढिलाई आ जाती है। लेकिन साधक इससे घबराता नही और अनशन आदि करके दोष का निवारण करता है। संकल्पों को ताजा करता है। प्रायश्चित्त से चित्त शुद्धि होती है और भूलों से बचाव होता है।

विनय—विनय को मोक्ष का मूल कहा गया है। अपने से बड़े, ज्ञानी, श्रेष्ठ और तपस्वी के प्रति विनय रखे बिना या उनके लिए समर्पित हुए बिना साधक का विकास असम्भव है। गुरु के बिना ज्ञान अंधकार के समान है। गुणियों के प्रति आदर रखना विनय है। महावीर ने साधना मार्ग में व्यक्ति की अपेक्षा गुण पर जोर दिया गया है। गुण ही पूज्य हैं, जाति, कुल आदि नहीं। इसीलिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विनय भी बताए गए है, सतत ज्ञान प्राप्ति, अभ्यास और स्मरण ज्ञान का सच्चा विनय है। दृढ़ता व श्रद्धा से ही जीवन में दृढ़ता और शुद्धता आती है। शंकाओं का निवारण ग्रन्थो या ज्ञानियों से कर लेना चाहिए। इस तरह तत्त्व की निष्ठा को दृढ़ रखने का प्रयत्न दर्शन विनय है और तदनुकूल आचरण या प्रयत्न ही चारित्र विनय है।

जो साधक नम्र होता है, उसको अपनी अपूर्णताओं का भान रहता है। जब साधक में यह अहंकार पैदा हो जाता है कि वह सब कुछ जानता है, उसने सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है। तब उसकी प्रगति रुक जाती है। उसे कोई नहीं चाहता। इसलिए साधक को अहंकार छोड़ कर ज्ञान प्राप्ति के लिए और चारित्र को शुद्ध, उन्नत बनाने के लिए विनय को बढ़ाना चाहिए। अपने से बड़ों के प्रति आदर रखना उपचार-विनय है।

वैयावृत्य—सेवा वैयावृत्य। शरीर को सेवा या सहायता की जरूरत रहती है। यह अभिमान मिथ्या है कि किसी को सेवा और सहायता की जरूरत नहीं। साधक अपनी आवश्यकताएं कम से कम कर लेते है, फिर भी कुछ न कुछ सेवा तो शरीर निर्वाह के लिए लेनी ही पड़ती है। वास्तव में मानव शरीर ही सेवा से ओत-प्रोत है। जब तक शरीर है तब तक सेवा का लेन-देन चलता ही रहता है, जब कोई सेवा में प्रमाद करता है वा अपनी सुखासक्ति में फँस जाता है तब उसमें कर्कशता, कठोरता आ जाती है और किसी न किसी पर उसका बोझ पड़ता

है। साधक हो या गृहस्थ, सेवा की सबको जरूरत है। सेवा पारस्परिकता का धर्म है। इसलिए साधकों के लिए भी कहा गया है कि उन्हें अपने से ज्येष्ठ, श्रेष्ठ आचार्यों उपाध्यायों, तपस्वियों की, बीमार-दुर्बल, ग्लान, बाल-साधुओं की समान और नीचे की श्रेणी के साधुओं की, संघ, कुल, गण, मनोज्ञों की सेवा सुश्रुषा करनी चाहिए। वैयावृत्य के दस भेद माने गए है, लेकिन भाव यही है कि जिसको जैसी सेवा की जरूरत हो वैसी उसकी सेवा होनी चाहिए। सेवा में अनासक्ति हो और अपनी मर्यादा का भाव भी हो।

स्वाध्याय—स्वाध्याय का अर्थ है जिज्ञासा पूर्वक ज्ञान की उपासना, चिन्तन। स्वाध्याय से ज्ञान बढ़ता है। आत्म-शक्ति बढती है और चारित्र निर्दोष होता है। स्वाध्याय के पाँच प्रकार है। १. अनुभवियों के ग्रन्थो को या अर्थों को पढ़ना, २. अधिक जानकारी से पूछना, ३. पढ़े हुए या सीखे हुए पाठ का बार-बार शुद्धता से उच्चारण करना और ५. धर्म का उपदेश करना। ज्ञान प्राप्ति करने, उसे निशंक बनाने, उदात्त और परिपक्व बनाने के लिए स्वाध्याय का बहुत महत्त्व है। स्वाध्याय से तेजस्विता तथा अनासक्ति आती है।

व्युत्सर्ग—अहंकार आदि होने पर, खेत, धन, सपत्ति, कुटुम्ब, परिवार की आसक्ति का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है। राग-द्वेष, क्रोधादि विकारों का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। चित्त शुद्धि के लिए सब तरह की उपाधियो का त्याग आवश्यक है। साधक सुबह-शाम, ममता-त्याग का प्रयत्न और चिन्तन करता है।

ध्यान—कर्म निर्जरा के लिए ध्यान का बहुत महत्व है। साध्य की प्राप्ति समता द्वारा ही हती है। ध्यान के बिना समता सम्भव नहीं। समता ध्यान से ही टिकती है, बिना समता के साधक ध्यान का अधिकारी नहीं। इस तरह ध्यान और सम भाव एक दूसरे के पोषक है। ध्यान से आत्मा की शुद्धि भी होती है, जिससे कर्मों का क्षय होता है और साधक "मैं" पन से ऊपर उठकर सबका हो जाता है।

ध्यान का अर्थ है चित्त को किसी भी विषय पर एकाग्र करना। यों चित्त खाली नही रहता, किसी न किसी विषय का ध्यान या चिन्तन वह करता ही रहता है। इस प्रकार ध्यान के शुभ और अशुभ दो भेद हो जाते हैं। जिस ध्यान से साधक का कल्याण होता है, साधना प्रगति होती है वह शुभ है और जो ध्यान साधक को नीचे गिराता है उसे अशुभ कहते है। आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान अशुभ है।

आर्त ध्यान—संसार मे अनिष्ट योग, इष्ट वियोग, बीमारी तथा किसी वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा प्रायः सब मे रहती है और उसके लिए लोग चिन्तित भी रहते हैं। चित्त की व्याकुलता या आकुलता ही आर्त ध्यान है। यह मनुष्य को अशुद्धि की ओर ले जाता है—नीचे गिरता है। प्रयत्नों के वावजूद भी अनिष्ट योग, इष्ट वियोग, बीमारी आती ही है। इसे सर्वथा टालना सम्भव नहीं है। लेकिन विवेकपूर्ण प्रसंगों पर व्याकुल न होना और धीरज पूर्वक सहन करना कर्तव्य है। अपनी शक्ति को ऐसे विषयों में न लगाकर विकास की ओर ले जाने वाले विषयों पर अपने चित्त को लगाना इष्ट है।

अपने को तथा दूसरों की पीड़ा पहुचाने के लिए चिन्तन करना, तरह-तरह की योजनाएँ सोचते रहना और चिन्ता में डूबे रहना आर्त ध्यान है। यह दुःख का हेतु है। इसे तो त्याग ही देना चाहिए।

रौद्र ध्यान—हिंसा, असत्य, चोरी तथा परिग्रह के लिए सतत चिन्ता करना रौद्र ध्यान है। रौद्र ध्यान का मूल आकार क्रूरता है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का अनिष्ट चिन्तन, दूसरों को फंसाने के लिए असत्य या बेईमानी के तरीके सोचना, दूसरे के धन के अपहरण के मार्ग पर विचार करना तथा अपने परिग्रह की रक्षा की चिन्ता करना, यह सब रौद्र ध्यान है। इससे मनुष्य नीचे गिरता है। उसकी अवगति होती है और वह दुखी बनता है। इसलिए रौद्र ध्यान हेय कहा गया है, अनिष्ट माना गया है।

जो ध्यान मनुष्य को ऊँचा उठाते हैं, साध्य तक पहुचाते हैं, वे है धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान।

धर्म ध्यान—जो ध्यान समता को बढ़ाने और उसे दूर करने के लिए किया जाता है वह साधक की साध्य की प्राप्ति में सहायक होता है। इसलिए साधक को राग-

द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागी महान् विषयों के अनुभव युक्त बचनों का ध्यान करना चाहिए, जिससे साधना में सहायता लिले।

साधक को अपने दोषों यानी कमजोरियों के स्वरूप को समझकर उन्हें दूर करने का चिन्तन करना चाहिए। राग-द्वेषादि कषायों के कारण ही तो सभी बाधाएँ खड़ी होती हैं। समता में बाधक परिस्थिति पर विचार कर उन्हें दूर करने का चिन्तन करना चाहिए। असत्य मार्ग पर किस तरह चला जा सकता है, इसका चिन्तन करना चाहिए, ताकि दुख से बचा जा सके। पाप कर्मों से निवृत्त हुआ जा सके।

किस कार्य का क्या फल मिलता है, इस पर विचार करना भी शुद्धि की ओर ले जाने में सहायक है। बुराई का परिणाम भोगना ही पड़ता है। इस तरह के मंथन से साधक बुराई से छूटकर शुद्ध होता है। कई लोग जन्म से ही नीरोग, बुद्धिमान और तेजस्वी होते है और कई बीमार, दुखी, बुद्धिहीन। यह सब शुभ-अशुभ कृत्यो का परिणाम है। संसार के स्वरूप का, उसकी विकलता, व्यापकता, स्थिति तथा विनाशशीलता का चिन्तन तथा उसके विविध द्रव्यों की परिवर्तनशीलता जान लेने पर मनुष्य सहज ही उसके प्रति अनासक्त होता जाता है और व्याकुल नहीं होता।

शुक्ल ध्यान—जब साधक जड़ और चेतन के भेद का विचार करता है, उसकी गहराई में जाकर पुद्गल तथा चेतन द्रव्य के सम्बन्धों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करता है तब उसके चरित्र में दृढ़ता आती है। यानी चारित्र मोहनीय कार्यों का नाश होता है, सत्याचरण में दृढ़ता आती है।

यद्यपि जड़ चेतन द्रव्य पृथक् है, तथापि सयोग से मिल जाते है। इनमें से किसी एक तत्त्व का अवलम्बन लेकर उसके किसी एक परिणाम पर चित्त को निश्चल करने से ध्यान मे दृढ़ता आती है। अनेक विषयों की ओर भड़कने वाले मन को किसी एक विषय पर के हित करने से जैसे जलते हुये चूल्हे मे से ईधन निकाल लेने पर आग बुझ जाती हे, वैसे ही मन चञ्चलता के नष्ट हो जाने से निष्कम्प बन जाता है। इससे आत्मा के ज्ञान में बाधा पहुँचाने वाले सब कर्मो का विलय होकर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है और साधक सर्वज्ञता को प्राप्त होता है।

जो धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान, जो बन्ध में मुक्ति दिलाने में सहायक होते है। तभी किये जा सकते है, जब मन शरीर सुदृढ और नीरोग हो।

कहा गया है कि धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के लिए वज्र वृषभनाराच संहनन जेसा बलिष्ठ शरीर आवश्यक है। स्वस्थ शरीर के बिना मन स्वस्थ नहीं होता और स्वस्थ मन के बिना अच्छा ध्यान नही हो सकता।

●

(पृष्ठ २२५ का शेषांस)

गाधीजी के असहयोग आन्दोलन आदि कार्यक्रमो को देश की आजादी के लिए उठाया जाने वाला कदम समझते हुए भी दीवान रूपकिशोर राजनीति की ओर उन्मुख न हो सके। उन्होंने अपना सपूर्ण समय साहित्य की गतिविधियों तक ही सीमित रक्खा। जब भारत स्वाधीन हो गया और जमीदारी प्रथा समाप्त कर दी गई, तब वह विजयगढ़ से अपने पुत्रों के पास दिल्ली चले आये और अन्तिम समय तक दिल्ली में ही रहे।

दीवान रूपकिशोर ने चार पत्रों का सम्पादन भी किया। बिजनौर से प्रकाशित 'वीर' विजयगढ से, 'महावीर' और हाथरस से निकलने वाले 'मार्तण्ड' का उन्होंने सफलतापूर्वक सम्पादन किया। उन्होने स्वयं भी 'हिन्दी गल्प' नामक पत्र निकाला। ६० वर्ष की आयु में १२ दिसम्बर १६६१ को उनका देहान्त हो गया।"

दीवान रूपकिशोर की तरह गत १०० वर्षो में ऐसे कई जैन साहित्यकार हो गए और अभी भी विद्यमान हैं कि जिन्होंने केवल जैन सम्बन्धी ग्रन्थ ही लिखकर उपन्यास, कहानी आदि सार्वजनिक साहित्य भी विशेषरूप मे लिखा है एवं लिख रहे है। जैन समाज के लिए यह एक उल्लेखनीय बात होगी कि जैन साहित्यकार केवल जैन धर्म सम्बन्धी रचना हचना ही नही करते पर सर्वजनोपयोगी साहिन्य का भी प्रचुर परिमाण सर्जन करते रहे है।

●

पुण्यतीर्थ पपौरा (धारावाहिक)

—सुधेश—

—: प्रथम सर्ग :—

भारत तो पावन है ही पर,
पावन इस का हर कण-कण है।
इस में सुर तक को आकर्षित,
करने वाला आकर्षण है ॥ १ ॥
लगता त्रिभुवन की श्री ही,
स्वयमेव हुई एकत्र यहाँ।
तब ही तो अनुपम सुषमा के,
दर्शन होते तो सर्वत्र यहाँ ॥ २ ॥
लगते प्रसून तो सुन्दर ही,
पर सुन्दर लगते कण्टक भी।
निर्झर तो रसमय हैं ही पर,
रसमय इस के प्रस्तर तक भी ॥ ३ ॥
वधुएं तो मुस्काती ही पर,
हर शिला यहाँ मुस्काती है।
चिड़ियां तो गाती ही हैं पर,
हर मारुत लहरी गाती है ॥ ४ ॥
स्वर्गीय छटा दर्शाते हैं,
नित सध्या और प्रातःकाल यहाँ।
निज निधि विखेरते शरद शिशिर,
आतप और वर्षा काल यहाँ ॥ ५ ॥
प्राकृतिक दृश्य हैं दर्शनीय,
गिरि शिखरों के नद कूलों के।
है कहीं लताओं के मण्डप,
उद्यान कहीं तो फूलों के ॥ ६ ॥
यों इस भारत की वसुधा यह,
सुषमा का शान्ति निकेतन है।
जो हमको देख न मोहित हो,
ऐसा भी कौन सचेतन है ॥ ७ ॥
भूतल का स्वर्ग इसे कहने,
में कवि को कुछ संकोच नहीं।
इस से सुन्दर क्या स्वर्गों में,
होगा ? पाता कवि सोच नहीं ॥ ८ ॥
उत्तर में हिम गिरि श्रेणी तो,
मध्य भाग में विन्ध्य शिखर।
हैं हिम के हीरक हार उधर,
तो उज्ज्वल निर्झर धार इधर ॥ ९ ॥

× × ×

यह विध्याचल ही दूर-दूर,
तक फैला हुआ दिखाता है।
इस के ही कारण यह प्रदेश,
बुन्देल खण्ड कहलाता है ॥ १० ॥
यह वीर भूमि है वीरों ने,
निज विक्रम यहीं दिखाया था।
आल्हा ऊदल ने अरि दल की,
सेना को यहीं छकाया था ॥ ११ ॥
जन्मे थे मधुकर शाह यहीं,
जिन ने निज आन दिखायी थी।
'अकबर' का आदेश भंग,
कर अपनी टेक निभायी थी ॥ १२ ॥
हरदौल यहीं पर हुए जिन्होंने,
पिया विहँसते हुए गरल।
अति कठिन मृत्यु आलिंगन भी,
माना था जिस ने कार्य सरल ॥ १३ ॥
थे छत्रसाल भी यहीं हुए,
गौरवमय जिन की गाथा है।
प्रत्येक वीरता का प्रेमी,
जिन को नत करता माथा है ॥ १४ ॥
लक्ष्मी बाई भी यहीं हुई,
भाये जिसको शृंगार नहीं।
जिसने निज रिपुओं के आगे,
की कभी हार स्वीकार नहीं ॥ १५ ॥
यों जाने कितने वीर हुए,
जो चले सदा अंगारों पर।

जो हो समत्त सदा झूमे,
तलवारों की झंकारों पर ॥ १६ ॥
बुन्देल खण्ड उन वीरों से,
है रहा कभी कंगाल नहीं।
जिन ने निज अन्तिम श्वासों तक,
गलने दी रिपु की दाल नहीं ॥ १७ ॥
जिन की वीरत्व कथाएं हैं,
प्रचलित नगरों में गाँवों में।
भर देता जिसका नाम मात्र,
वीरत्व हृदय के भावों में ॥ १८ ॥
अब तब भी गाते जाते हैं,
गायक जिन के यश गीत नये।
कवि जिन को केन्द्र बना रखते,
जाते हैं काव्य पुनीत नये ॥ १९ ॥
यों यह क्रीड़ा स्थल दीर्घ काल,
से रहा मनस्वी गुणियों का।
पर साथ-साथ ही तपो भूमि,
भी रहा तपस्वी मुनियों का ॥ २० ॥
इसने ऋषियों को तप करते,
देखा है सदा दिगन्तों ने।
इसके कितने ही तपोवनों,
में ध्यान लगाया सन्तों ने ॥ २१ ॥
साक्षी हैं इसके विंध्याचल,
के जाने कितने विपिन सघन।
जिन की एकान्त गुफाओं में,
है किया उन्होंने आत्म मनन ॥ २२ ॥
इसके कण-कण भी किए गए,
हैं पावन उनके चरणों से।
जो थे छुटकारा चाह रहे,
वसु कर्मों के आवरणों से ॥ २३ ॥
जो कर्म निर्जरा करने को,
निर्जन में यहाँ विचरते थे।
निर्मित कर तप का हवन कुण्ड,
कर्मों का स्वाहा करते थे ॥ २४ ॥
जिन ने निखारा था अपना,
श्रद्धान, ज्ञान, आचार स्वयम्।
जिन में विकास पा हुए सभी,
ये तीनों एकाकार स्वयम् ॥ २५ ॥
जिन ने इस भौतिकवादी युग,
में था अध्यात्म प्रचार किया।
देकर उपदेश अहिंसा का,
सब में करुणा संचार किया ॥ २६ ॥
जिन ने निज चिंतन से सारे,
जग का कल्याण विचारा था।
तुम जियो सभी को जीने दो,
जिन का यह पावन नारा था ॥ २७ ॥
संसार हुआ लाभान्वित था,
जिन के आदर्श विचारों से।
था पारस्परिक विरोध मिटे,
जिन के पावन उद्गारों से ॥ २८ ॥
जिन के समीप आ गाय सदृश,
भोले बन जाते चीते थे।
जिन के प्रभाव से सिंह धेनु,
जल एक घाट में पीते थे ॥
अतएव यहाँ बहुतायत से,
पुण्य स्थल हैं प्राचीन अभी।
जो दीर्घ काल से खड़े हुए,
हो निज महिमा में लीन अभी ॥
जिन की कि वंदना करने से,
भक्तों को मिलता चैन सदा।
जिन को निहार कर ही सार्थक,
समझा करते वे बैन सदा ॥
मन-मोहित करने का इतना,
बल रखती जिन की सौम्य छटा।
लगता है वहाँ पहुँचने पर,
जाये न वहाँ से शीघ्र हटा ॥
यद्यपि जिन के परिपूर्ण कथन,
में अक्षम है ये छन्द सभी।
पर कवि न निराशा से करता,
निज लौह लेखनी बन्द अभी ॥
जितना उससे बन सकता है,
वह उतना मात्र जताता है।

खजुराहो की अद्वितीय जैन प्रतिमायें

शिवकुमार नामदेव

मध्यप्रदेश का प्रसिद्ध कलातीर्थ खजुराहो चन्देल नरेशों की धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है। यह नगर पन्ना से २५ मील उत्तर एवं छतरपुर से २७ मील पूर्व तथा महोबा से २४ मील दक्षिण में स्थित है। खजुराहो मे चन्देलों की कृतियों की कलाराशि उपलब्ध है। यहाँ लगभग ३० मन्दिर है जो शिव, विष्णु तथा जैन तीर्थङ्करो की उपासना मे निर्मित हुए है। इन देवालयों को हम ९५० से १०५० ई० के मध्य रख सकते है।

खजुराहो देवालयो का पूर्वी समूह जैन देवालयों का समूह कहलाता है। इन देवालयों में पार्श्वनाथ मन्दिर, आदिनाथ मन्दिर, घण्टाई मन्दिर आदि अपनी मनोहारी और भव्यतम कलाराशियों से युक्त है।

इस समूह के विशालतम एवं रमणीक जैन मन्दिर पार्श्वनाथ का है। इस देवालय के भीतर और तीन आगार है। इस देवालय की बाह्य भित्ति पर चतुर्दिक एक के ऊपर एक तीन पट्टों में विभिन्न मूर्तियो का अंकन है। प्रथम पंक्ति मे तीर्थङ्कर प्रतिमाओं के अतिरिक्त कुबेर, द्वारपाल, गजारूढ़ एव अश्वारूढ जैन शासन देवताओं का अंकन है। प्रियतम के पत्र को पढने मे अतिलीन स्त्री प्रतिमा, पैर से कांटे को निकालती हुई, नेत्र मे अंजन आंजती हुई, शिशु को स्तनपान का सेवन कराती हुई माता एवं पाद मे नृत्य हेतु नुपुरो को बाँधती हुई बालाओं की मूर्तिया भी दर्शनीय है। इन पट्टों पर अनेक आयुधों से युक्त, विभिन्न वाहनों पर आरूढ़ जैन शासन देवी-देवताओं की मूर्तियां है। सभी प्रतिमायें प्रतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से निर्मित की गई है।

जैन देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के अतिरिक्त हिन्दू धर्म की रामचरित से सम्बन्धित मूर्तियो में त्रिभंगी मुद्रा मे राम एवं सीता का चित्रण है। पार्श्व में राम, कृष्ण, हनुमान जी को भी अंकित किया गया है। इसके अतिरिक्त सीता जी को अशोक वाटिका मे दिखाया गया है।

भित्ति का दूसरा पट्ट भी अलंकृत है। ऊपर के पट्ट मे विद्याधर युगल पुष्पमाला लिए हुए तथा वाद्य बजाते हुए गंधर्व एव किन्नरों का अंकन है। जंघा मे ऊपर दिक्पाल, धनुषधारी एवं चारभुजी देवियों का सुन्दर अकन है।

बाह्य भित्ति तथा प्रदक्षिणा पथ के प्रतिमा पट्टों पर अङ्कित ये सौन्दर्यमयी प्रतिमायें उस युग के कलाकारों के सधे हुए हाथों की यशोगाथा, छेनियों के संयम तथा उनके सूझ-बूझ एवं परिष्कृत एकाग्र मन की अमिट तस्वीर है।

इस मन्दिर की कलाकारिता से प्रभावित होकर प्रसिद्ध कला मर्मज्ञ डा० अर्ग्युसन महोदय ने कहा है कि सम्पूर्ण मन्दिर की रचना इतनी दक्षता के साथ हुई है कि सम्भवतः हिन्दू देवालय की स्थापत्य के दृष्टिकोण से इनकी तुलना में नहीं है।

देवालय के मण्डप के ऊपर बाह्य और देव-देवियों तथा अप्सराओं की प्रतिमाओं की पंक्ति तीनों ओर बनी हुई है। जिसमें एक स्नान से निवृत्त बाला को अपने भीगे हुए केश से जल बिन्दुओं को अलग करते हुए दिखाया गया है। हंस उस बाला की केशराशि से टपकते हुए जल बिन्दु को मोती समझकर झपटते हुए प्रदर्शित किया है। कलाकारों की सूझ-बूझ एवं सूक्ष्म छेनियों से निर्मित इन

लिखने को तो है बहुत किन्तु,
थोड़े में सार बताता है॥
वह वर्णन अपनी ही मति के,
अनुरूप किया अब जाता है।
मन के भावों को भाषा का,
यह रूप दिया अब जाता है॥

(क्रमशः)

प्रतिमाओं को देखकर आश्चर्यचकित हो जाना स्वाभाविक ही है। अन्य मूर्तियों में मकरवाहिनी गंगा एवं कर्मवाहिनी यमुना के साथ चतुर्भुज द्वारपालों का अंकन है। गंगा एवं यमुना की प्रतिमाओं के ऊपर की पंक्ति में तोरण तक गंधर्व, यक्ष आदि की प्रतिमायें हैं। द्वार के ऊपरी तोरण पर द्वादशभुजी चक्रेश्वरी एवं दोनों पार्श्व पर जिन शासन देवियों की मूर्तियां है। जो दोनो ओर नवगृहों से आवेष्टित है। मुख्य तोरण के ऊपर शीर्ष तोरण में युगादि देव एवं दो अन्य तीर्थङ्करों की प्रतिमायें हैं। इसके अतिरिक्त दो अर्हत प्रतिमाओं एवं साधुओं का अंकन भी है।

आदिकाल देवालय की बाह्य भित्ति एवं शान्तिनाथ के देवालयो की कला भी उत्तम कोटि की है। शान्तिनाथ देवालय के आँगन मे धरणेन्द्र एवं पद्मावती की एक सुन्दर युगल प्रतिमा प्रतिष्ठित है। देवालय की भित्त पर देवी-देवताओं तथा अप्सराओं की कृतियों के साथ व्याघ्र की मूर्तियां भी बनी हुई है। सिंहाकृति से मिलने-जुलते इस जानवर का प्रतीक रूप मे वहुतायत से अंकन हुआ है। प्रदक्षिणा पद की भित्ति पर भिन्न-भिन्न जिन शासन देव एवं देवियों, गंधर्वों, किन्नरों एवं अप्सराओं की सौंदर्यमयी मूर्तियां खचित है। बाहुबली स्वामी की भी यहाँ एक प्रतिमा अंकित है। इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त अलसित वदन शृंगादि का, कामिनी और सुर-सुन्दरियों की मुद्रायें विशेष आकर्षक है। निकट ही एक नाई के द्वारा एक सुन्दरी के पैर से कांटे को निकालते हुए दिखलाया गया है।

गर्भगृह में भीतरी पट की ओर गंगा-यमुना एवं द्वारपाल आदि है। द्वार तोरण पर ललाट बिम्ब में भगवान चन्द्रप्रभु है। जिनके दोनों पार्श्व पर कायोत्सर्ग तीर्थकर की आसन मूर्तियां है। उनके मध्य में नवग्रह एवं चमरधारिणी, यक्षियों के वीच तीर्थंकरों की प्रतिमायें है जिनमें से ५ पद्मासन एवं ६ कायोत्सर्ग आसन में है। वेदिका पर दोनों पार्श्व में भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमायें है।

आदिनाथ देवालय में भित्तियों पर मूर्तियों का अंकन केवल वाह्य भाग पर ही प्राप्त होता है। मू एक पर एक तीन कतारों में अंकित हैं। उर्ध्व भाग लघु कतार में गंधर्व, किन्नर एवं विद्याधर तथा शे कतारों में शासन देव, अप्सराओं आदि की मूर्तियां प्रतिमाओं की इस बीच की कतारों में देव कुलि निर्मित कर शासन देवियों को ललितासन मुद्रा में अं किया गया है।

जैन धर्म के वाइसवें तीर्थकर नेमिनाथ की अम्बिका सिंहारूढ़ आम्र वृक्ष के नीचे आम्र मंजरी ध किये हुए शिशु को स्तनपान कराती हुई दिखाई गई तीर्थंकर की मां एवं मां के सोलह स्वप्नों का अ यहाँ पर दिया हुआ है। इसी देवालय में जैन धग प्रथम तीर्थकर भगवान आदिनाथ अथवा ऋषभनाथ प्रतिमा है।

शान्तिनाथ मन्दिर मे मूलनायक सोलहवें तीर्थं भगवान शान्तिनाथ की विशाल प्रतिमा है। शान्ति की १२' ऊँची यह प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है। मं के आँगन में वाम पार्श्व की ओर दीवाल पर २३वें तीं कर पार्श्वनाथ के यक्ष एवं यक्षिणी धरणेन्द्र एव पद्मा की एक आकर्षक एव सौन्दर्यमयी प्रतिमा है। इस प्रति में यक्ष दम्पत्ति को एक आसन पर ललितासन में अ दित बैठे हुए दिखाया गया है। इनके हाथों में श्री है। देवी के हाथ में एक छोटा शिशु भी दिखाया ग है।

भगवान शान्तिनाथ की मूर्ति के परिकर मे द पार्श्व में पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमाये है। पा नाथ के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों की दस प्रतिमायें उत्कीर्ण है। नीचे सनत्कुमार एवं महेन्द्र नामक चामर धारण किये हुए दिखाये गये है।

खजुराहो का जैन देवालय जिसे घण्टई मन्दिर जाता है खण्डहर अवस्था में है। इसमें तीर्थकर मूर्ति शासन देवियां, विद्याधर एवं नवगृहों आदि की मूर्ति का सुन्दर अंकन है।

जैनधर्म संसार की दृष्टि में

मैं विश्वास के साथ यह बात कहूंगा कि महावीर स्वामी का नाम इस समय यदि किसी सिद्धान्त के लिए पूजा जाता है तो वह अहिंसा है। अहिंसा तत्व को यदि किसी ने अधिक से अधिक विकसित किया है तो वे महावीर स्वामी थे।

—स्व० महात्मा गाँधी

जैनों का अर्थ है संयम और अहिंसा। जहा अहिंसा है वहां द्वेषभाव नही रह सकता। दुनिया को यह पाठ पढ़ाने की जवाबदारी आज नहीं तो कल अहिंसात्मक संस्कृति के ठेकेदार बनने वाले जैनियों को ही लेनी पड़ेगी।

—सरदार वल्लभभाई पटेल

हिन्दु संस्कृति भारतीय संस्कृति का एक अंश है, और जैन तथा बौद्ध यद्यपि पूर्णतया भारतीय है परन्तु हिन्दू नही हैं।

—पं० जवाहरलाल जी नेहरू (डिस्कवरी आफ इडिया)

श्री महावीर जी के उपदेशों पर अमल करने से ही वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है। इस महापुरुष के बताये हुए पथ का अनुसरण कर हम शांति लाभ कर सकते है। आज के संघर्षशील और अशात संसार से हम साधु पुरुष के उपदेशों पर ही चलकर सुख शाँति प्राप्त कर सकते हैं।

—डा० राजेन्द्रप्रसाद

भ० महावीर स्वामी जैनधर्म को पुन: प्रकाश में लाये। वे २४वें अवतार थे, इनके पहिले ऋषभ, नेमि, पार्श्व आदि नाम के २३ अवतार और हुए हैं, जो कि जैनधर्म को प्रकाश में लाये थे, इस प्रकार इन २३ अवतारों के पहिले भी जैनधर्म था, इससे जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है।

—स्व० लोकमान्य तिलक

महावीर का सन्देश हृदय में भ्रातृभाव पैदा करता है।

—हिज एक्सलैंसी सर अकबर हैदरी गवर्नर, आसाम

मानवता की बुनियाद पर स्थित हुई विश्वधर्म—भावना अहिंसा और प्रेम के आधार द्वारा प्रकट करना यह "श्री महावीर" का उद्देश्य समझना है।

—श्री जी. वी. मावलंकर प्रेसीडेंट

अहिंसा और सर्व-धर्म समभाव जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं।

—मेजर जनरल रायबहादुर ठा० अमरसिंह।

आजकल के बिगड़े हुए वातावरण में जबकि जातीय भावनायें अपना भयंकर रूप धारण कर देश को हिंसा की ओर ले जा रही है तब भ० महावीर की अहिंसा सर्व धर्म की एकता का पाठ पढ़ाती है।

—श्री पं० देवीशंकर जी तिवारी

जैन धर्म के आदर्शों का प्रचार करना यह मानव मात्र का उद्देश्य होना चाहिए।

—सर टी. टी. कृष्णमाचारी

It is impossible to find a beginning for Jainism. Jainism thus appears as the earliest faith of India.

In, The short studies In Science of Comprative Religious. By G. J. R. Furlong.

Thc names Rishabha, neami etc are wel·known in Vedic Literature. The members of Jains order are known as Nirgranthas.

In Historical Gleaninys bp Dr. Bimalcharan.

जैनधर्म भारत का एक ऐसा प्राचीन धर्म है कि जिसकी उत्पत्ति तथा इतिहास का पता लगाना एक बहुत ही दुर्लभ बात है।

—मि० कन्नोमल जी एम. ए. सेशन जज

पार्श्वनाथ जी जैनधर्म के आदि प्रचारक नहीं थे, इसका प्रचार ऋषभदेव जी ने किया था।

—श्री वरदकांत जी एम. ए.

सबसे पहिले भारत में ऋषभदेव नामक महर्षि उत्पन्न

हुए, ये भद्रपरिणामी पहिले तीर्थंकर थे।

—श्री तुकाराम कृष्ण जी शर्मा लट्टू
B. A. P. Hd. M. R. A S. Etc.

ईर्ष्या द्वेषके कारण धर्म प्रचारक वाली विपत्ति के रहते हुए भी जैनशास्त्र कभी पराजित न होकर सर्वत्र विजयी होता रहा है। अर्हंत परमेश्वर का वर्णन वेदों में पाया जाता है।

—स्वामी विरुपाक्षवडियर एम. ए.

जैनधर्म सर्वथा स्वतन्त्र है, मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नही है।

—डा० हर्मन जेकोबी, एम. ए. पी-एच. डी.

जैनियों के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ ऐतिहासिक महापुरुष माने गये हैं। —डा० फुहार

अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है।

—अंबुजाक्ष सरकार एम. ए. बी. एल.

जैन बौद्ध एक नहीं है हमेशा से भिन्न चले आये है।

—राजा शिवप्रसाद जी "सितारे हिन्द"

यह भी निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि बौद्धधर्म के सस्थापक गौतम बुद्ध के पहिले जैनियो के २३ तीर्थंकर और हो चुके है।

—इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया पृ. ५४

यह बात निश्चित है कि जैनमत बौद्धमत से पुराना है।

—मिस्टर टी. डब्ल्यू रईस डेविड

स्याद्वाद जैनधर्म का अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी प्रतिवादियों के मायामय गोले प्रवेश नहीं कर सकते। मुझे तो इस बात में किसी तरह का उज्र नहीं कि जैनधर्म वेदान्त आदि दर्शनो से पूर्व का है।

—पं० राममिश्र जी आचार्य रामानुज सम्प्रदाय

नेमिनाथ श्री कृष्ण के भाई थे।

—श्रीयुत् वरवे

एकाकी निस्पृहः शातः, पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शभो! भविष्यामि, कर्म निर्मूलनक्षमम् ॥

—भर्तृहरि

नाहं रामो न मे वाछा, भावेषु न च मे मनः।
शान्तिमासितुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

—योगवशिष्ठ, गीता

ऐतिहासिक सामग्री से सिद्ध हुआ कि आज से ५ हजार वर्ष पहिले भी जैनधर्म की सत्ता थी।

—डा० प्राणनाथ इतिहासज्ञ

महाभारी प्रभाव वारे परम सुहृत् भगवान ऋषभदेव जी महाशील वारे सब कर्म से विरक्त महामुनि को भक्तिज्ञान वैराग्य लक्षणयुक्त परमहंस के धर्म की शिक्षा करते भये। —भागवत स्कन्ध ५ अ० ५

शुकदेव जी कहते है कि भगवान ने अनेक अवतार धारण किये, परन्तु जैसा संसार के मनुष्य कर्म करते है वैसा किया। किन्तु ऋषभदेव जी ने जगत को मोक्षमार्ग दिखाया, और खुद मोक्ष गये। इसीलिए मैंने ऋषभदेव को नमस्कार किया है। —भागवत् भाषाटीका पृ. ३७२

स्वस्ति नस्ताक्ष्यौं अरिष्ट नेमिः स्वस्तिर्नो वृहस्पतिर्दधातु ॥

—यजु० अ० २५ मत्र १९

ऋषभं मा समानानां सयज्ञत्नानां विषा सहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि, विराजँ गोपितं गवाम् ॥

—ऋषभदेव अ० ८ मंत्र ८ सूत्र २४

जैनधर्म विज्ञान के आधार पर है, विज्ञान का उत्तरोत्तर विकास विज्ञान को जैन दर्शन के समीप लाता जा रहा है। —डा. एल. टैंसी टौरी, इटली

महावीर जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे, किन्तु उन्होंने उसका पुनरुद्धार किया है। वे संस्थापक की वजाय सुधारक थे। —इर्वर्टवारन, इंगलैन्ड

मैं आशा करता हूं कि वर्तमान संसार भगवान महावीर के आदर्शों पर चल कर आपस में बंधुत्व और समानता का भाव स्थापित करेगा। डा. सतकौड़ी मुकर्जी

साहित्य का शृंगार तो वह नैसर्गिक भाषा है, जिस भाषा मे भ० महावीर ने आशीर्वाद दिया था।

—डा० कालिदास नाग

भ० महावीर द्वारा प्रचारित सत्य और अहिंसा के पालन मे ही संसार संघर्ष और हिसा से अपनी सुरक्षा कर सकता है।

—डा. श्यामाप्रसाद मुकर्जी, अध्यक्ष हिन्दु महासभा

जैन संस्कृति मनुष्य संस्कृति है, जैन दर्शन मनुष्य दर्शन ही है। जिन 'देवता' नहीं थे, किन्तु मनुष्य थे।

—प्रो० हरिसत्य भट्टाचार्य

साहित्य-समीक्षा

१. पं० टोडरमल व्यक्तित्व और कृतित्व—ले० डा. हुकमचन्द शास्त्री, प्रकाशक मंत्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-४, बापूनगर, जयपुर। पृष्ठ संख्या ३६८ मूल्य ···।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय उसके नाम से ही स्पष्ट है। यह एक थीसिस ग्रन्थ है, जिस पर लेखक को इन्दौर विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की डिगरी प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ से टोडरमल जी के सम्बन्ध में अनेक तथ्य प्रकाश में आये हैं। उनसे इस ग्रन्थ की महत्ता बढ़ गई है। सबसे पहले पं० टोडरमल जी का परिचय इन पंक्तियों में लेखक ने सन् १९४४ में अनेकान्त में प्रकाशित किया था। जब जयपुर में एक महीना ठहर कर स्व० प० चैन-सुखदास जी और महावीर तीर्थक्षेत्र के मंत्री रामचन्द्र जी खिन्दुका के सौजन्य से आमेर का शास्त्र भडार जयपुर लाया था। और उनसे १० ग्रन्थो की प्रशस्तिया तथा अनेक ऐतिहासिक नोट्स लिये थे। पं० चैनसुखदास जी और जयपुर के अन्य विद्वानों का यह विचार का कि प० टोडरमल जी २७-२८ वर्ष की अवस्था मे ही शहीद हुए है। पर मेरा सुदृढ़ विचार था कि उनकी आयु लगभग ५० वर्ष की होनी चाहिए; क्योकि उनकी सं० १८११ की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में जो मुलतान के अध्यात्म रसिक लोगों के प्रश्नों के उत्तर में अध्यात्म चर्चा के गूढ़ रहस्य को अनेक दृष्टान्तों तथा वस्तु तत्व के विचारों द्वारा व्यक्त किया था। उस कोटि के आध्यात्मिक विचार अल्प-वय में होना सम्भव नहीं है, वे प्रौढावस्था के विचार है। लेखक ने रामकरण जी के चर्चा ग्रंथ के पृ० १७३ के आधार पर उनकी आयु सैंतालीस वर्ष पूर्ण करने का उल्लेख किया है। इससे हमारी उक्त कल्पना की पुष्टि ही नही हुई, किन्तु भ्रान्त धारणा का निराकरण भी हो गया है। लेखक ने इस शोध प्रबन्ध द्वारा टोडरमलस्मारक भवन की महत्ता को प्रकट कर दिया है। और इससे भवन निर्माता गोदिका जी की भावना को सफलता मिली है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में टोडरमल जी की कृतियों के सम्बन्ध से अच्छा प्रकाश डाला है और उन ग्रन्थों की भाषा शैली पर भी प्रकाश डालने का यत्न किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ का को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने का प्रयास किया है। इसके लिए लेखक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं। राममल्ल जी का उक्त चर्चा भी भवन से प्रकाशित होना चाहिए। साथ ही टोडरमल की गोम्मटसार टीका का अच्छा संशो-धित सम्पादित संस्करण प्रकाशित करने की आवश्यकता हैं। क्योंकि वह अप्राप्य है, आशा ही नहीं विश्वास है कि गोदिका जी इस ओर अपना ध्यान देंगे। ग्रंथ मंगाकर पढ़ना चाहिए। प्रकाशन सुन्दर है।

२. पं० दौलतराम व्यक्तित्व और कृतित्व—सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल शास्त्री जयपुर, प्रकाशक सोहनलाल सोगाणी, मंत्री प्रबन्धकारिणी कमेटी जी महा-वीर जी, महावीर भवन जयपुर, पृष्ठ संख्या ३१० मूल्य दश रुपया।

इस ग्रन्थ का विषय भी उसके नाम से प्रकट है। इसमें प० दौलतराम जी कासलीवालका सांगोपांग परिचय दिया गया है। साथ में उनकी पद्यबद्ध मौलिक कृतियों का प्रकाशन भी किया है, और शेष अन्य टीका जिनग्रन्थो का भी परिचय दिया गया है। इससे यह ग्रन्थ दौलतराम जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचायक है।

डा० कासलीवाल ने कवि की १८ रचनाओं का परि-चय दिया है। इससे पंडित जी की राज्यकार्य का संचालन करते हुए साहित्य निर्माण की अभिरुचि और लगन का आभास मिलता है। जब वे जयपुर से आगरा गये, तब उन्हे जैनधर्म परिज्ञान नहीं था। किन्तु आगरा की अध्या-त्म शैली के विद्वान ऋषभदास जी के उपदेश से उनकी जैनधर्म की ओर प्रतीति हुई। और उन्होंने रामचन्द्र मुमुक्षु के पुण्यास्त्रव कथाकोश की रचना सं० १७७७ में सम्पन्न की। उसके बाद उनकी जैनधर्म की श्रद्धा में दृढ़ता और जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों का मनन एवं परि-

शीलन से ज्ञान की वृद्धि हुई और उन्होंने मौलिक और टीका ग्रन्थों की रचना की, वह उनकी धार्मिक लगन का ही परिणाम है। इतना ही किन्तु उन्होंने उदयपुर में रहकर वहां के निवासियों में अपने प्रवचनों द्वारा धार्मिक संस्कारों को जागृत किया। लोगों की धार्मिक भावनाओं को बढ़ाया, और जैनधर्म का प्रसार किया।

डा० कासलीवाल का यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। क्षेत्र कमेटी को इस कार्य में गति प्रदान करना चाहिए। और पच्चीससौवें महावीर निर्वाण महोत्सव के शुभ अवसर पर किसी अप्रकाशित रचना को प्रकाशित करना चाहिए। ग्रन्थ का प्रकाशन सुन्दर है। स्वाध्यायी जनों को उसे मंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए।

३. जैन सिद्धान्तकोश भाग चौथा—क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ४ बड़ा साइज पृष्ठ संख्या ५४० सजिल्द प्रति का मूल्य ५०) रुपया।

प्रस्तुत विशाल कोश चार भागों मे पूर्ण हुआ है। यह विश्वकोश के समकक्ष का कोश है, जिसमे जैन शब्दो का चयन अकारादि क्रम से किया गया है। जैन तत्त्वज्ञान, आचार, शास्त्र, भूगोल, कर्मसिद्धान्त, पौराणिक व्यक्ति, राजवंश, आगमशास्त्र आदि छह हजार शब्दों और इक्कीस हजार विषयो का विवेचन किया गया है। विषय विवेचन को रेखा चित्रों, सारणियों और सादे एवं रंगीन चित्रों द्वारा स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया गया है। जैन सिद्धान्त का तो यह आगार ही है। इसके अध्ययन करने से जैन सिद्धान्त के पारिभाषिक शब्दो का ही केवल ज्ञान नही होता, प्रत्युत उनके भेद प्रभेदों का भी परिज्ञान हो जाता है। यह कोश जिनेन्द्र वर्णी के १७ वर्षों का अथक श्रम का परिणाम है। इसके संकलन करने मे उन्होंने कितना श्रम किया है, यह भुक्तभोगी ही जान सकता है। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी के लिए इसका वाचन उपयोगी है। कोश में यदि ऐतिहाशिक विषय न दिया जाता तो अच्छा होता। कोश अपने वैशिष्टय को लिए हुए है। लोक-स्वर्ग नरक आदि का चित्रो द्वारा विषय स्पष्ट किया गया है। प्रस्तुत भाग में श से ह तक के व्यंजन भाग का निरूपण है। इस विशाल काय महत्त्वपूर्ण कोश का मुद्रण सुन्दर और भारतीय ज्ञानपीठ के अनुरूप हुआ है। प्रत्येक लायब्रेरी में इसका संग्रह होना चाहिए।

इस कोश के संकलनकर्ता जिनेन्द्रवर्णी और भारतीय ज्ञानपीठ के संचालक गण इस सुन्दरतम कृति के प्रकाशन के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

—परमानन्द शास्त्री

३. महावीर व्यक्तित्व, उपदेश और आचार मार्ग—प्रकाशन—भारत जैन महामण्डल, भारत इंशुरेंस बिल्डिंग दूसरा मंजिल 15 A, हानिमन सर्कल फोर्ट वम्बई-१, मूल्य तीन रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान श्रीरिषभदास रांका द्वारा लिखी गई है। आकर्षक एवं इसका आवरण णमोकार मंत्रके पदों द्वारा कलात्मक ढंगसे बनाये गये भगवान महावीर के चित्र से शोभित है। पुस्तक के प्रारम्भ में आचार्य तुलसी द्वारा 'दो बोल' के अन्तर्गत पुस्तक एवं लेखक का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

विद्वान लेखक ने प्रागैतिहासिक श्रमण संस्कृति का अनेक उदाहरणो एवं प्रमाणों द्वारा शोधपूर्ण इतिहास प्रस्तुत करने के बाद तीर्थंकर वर्धमान का विस्तृत परिचय दिया है। इसके बाद सर्वजन हितकारी भगवान महावीर के उपदेशों का वड़े ही सरल ढग से प्रतिपादन किया है। आवश्यकतानुसार जैन प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये गये है। पाठक चाहे जैन हो या अजैन, भगवान महावीर के महान् सिद्धान्तो का परिचय प्रस्तुत पुस्तक द्वारा बड़े ही सुबोध ढग से प्राप्त कर सकता है।

पुस्तक मे जहा अनेक अच्छाइयां है वहां कुछ न्यूनताएँ भी नजर आई। पुस्तक का मूल्य कुछ अधिक है। यदि मूल्य कम रखा जाता तो सर्वसाधारण के लिए यह और उपयोगी भी हो सकती थी। प्रूफ एव प्रतिलिपि सम्बन्धी अशुद्धियां भी कुछ रह गई है। जैसे पृष्ठ १०३ पर प्रथम अनुच्छेद की अन्तिम पंक्ति में प्रायश्चित्त के स्थान पर व्युत्सर्ग छप गया है।

पुस्तक उपादेय एवं संग्रहणीय है।

—प्रकाशचन्द्र जैन

जैन तत्त्वमीमांसा की मीमांसा भाग १—लेखक पं० बंशीधर जी व्याकरणाचार्य, बीना, प्रकाशक दि० जैन सस्कृति सेवक समाज (बरैया ग्रन्थमाला), पृ० २२+८ +३८५, साइज २०×३० क्राउन १६ पेजी, मूल्य चार रुपये।

जैसा कि प्रस्तुत पुस्तक का नाम है, वह श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री के द्वारा लिखी गई 'जैन तत्त्वमीमाँसा' की समीक्षा के रूप में लिखी गई है। पुस्तक मे समीक्षा को आधार बनाकर यद्यपि साधारणरूप मे निमित्त-नैमित्तिकभाव की विशेष चर्चा की गई है, फिर भी यथाप्रसंग उसमे तत्त्वविचार भी विस्तार से किया गया है। जैसे—ज्ञान-दर्शन, प्रत्यक्ष-परोक्ष, भव्यत्व-अभव्यत्व, जीवो व पुद्गलो की बद्ध-स्पृष्टता, निश्चय-व्यवहार तथा द्रव्यानुयोगादि की स्थिति का विश्लेषण। इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक मे यथाप्रसग कई महत्त्वपूर्ण विषयो की चर्चा की गई है, अत वह तत्त्वजिज्ञासुओ के लिए अवश्य पठनीय है। उक्त दोनो पुस्तको के लेखक समाज के माने हुए विद्वान् है। सोनगढ़ की तत्त्वव्यवस्था का प्रचार होनेपर दोनो विद्वानो में मतभेद हुआ है। चिन्तनशील विद्वानों को जैनतत्त्वमीमांसा और जैनतत्त्वमीमासा की मीमांसा इन दोनों ही पुस्तकों को वीतरागभाव से पढ़कर तत्त्व का निर्णय करना चाहिये। पुस्तक के लेखक व प्रकाशक को साधुवाद है।

जैनदर्शन में कार्य-कारणभाव और कारक-व्यवस्था—लेखक व प्रकाशक उपर्युक्त, आकार २०×३० क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या लगभग १५०, मूल्य १–६० पैसा।

प्रस्तुत पुस्तक में कर्ता-कर्म आदि छह कारकों का विचार करते हुए कार्य-कारणभाव का अच्छा विवेचन किया गया है। प्रसंगवश निमित्त व उपादान की चर्चा करते हुए निमित्त की सार्थकता सिद्ध की गई है। साथ ही स्वप्रत्यय कार्य कौन हैं व स्व-परप्रत्यय कार्य कौन हैं, इनका विश्लेषण करते हुए उपादान-उपादेयभावरूप कार्य-कारणभाव व निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव इस प्रकार कार्य-कारणभाव को दो भेदो मे विभक्त किया गया है। पुस्तक उपयोगी व पठनीय है। उसके लेखक व प्रकाशक धन्यवादार्ह है।

—**बालचन्द्र शास्त्री**

आवश्यक सूचना

अनेकान्त शोध पत्रिका आपके पास नियमित रूप से पहुँच रही है। आशा है आपको इसकी सामग्री रोचक एवं उपयोगी लगती होगी। यदि इसकी विषय सामग्री के स्तर तथा उपयोग को ऊंचा उठाने के लिए आप अपना सुझाव भेजें तो हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे।

जिन ग्राहकों का हमें पिछला वार्षिक चन्दा प्राप्त नहीं हुआ है, उन्हें हम यह अंक वी० पी० द्वारा भेज रहे हैं। आशा है आप वी० पी० छुड़ा कर हमें सहयोग प्रदान करेंगे।

—**सम्पादक**

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानो के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान मे परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १·२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युतम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ : सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना मे अलकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दी की महत्त्व की रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य ·१६

अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दो अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।